विशेषांक

भाग : १

June 1965 V. 33 No. 7/11

सम्पादक शिवदानसिंह चौहान

३३ आलोचना

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य

राजकमल प्रकाशन

त्रैमासिक आलोचना

पूर्णांक ३३ नवांक ७ जून, १९६५

वार्षिक मूल्य १२)
इस अंक का ६)

प्रत्येक अंक रजिस्ट्री से पाने के लिए १४)

सूची

(शेष तीसरे कवर पर)

सम्पादकीय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : नया परिवेश—नये प्रश्न—नयी उपलब्धियाँ

सन् १९४७ में भारत आज़ाद हुआ। यह हमारी दृष्टि से ही नहीं, विश्व-इतिहास की दृष्टि से भी साधारण घटना नहीं थी।

इस शताब्दी में साम्राज्यवाद ने दो बार विनाशकारी महायुद्ध छेड़कर करोड़ों मनुष्यों के रक्त से होली खेली है। लेकिन पहले महायुद्ध के बाद रूस की समाजवादी क्रान्ति ने दुनिया के छठे भाग में पुरानी पूँजीवादी दुनिया के खंडहरों पर एक नई समाजवादी दुनिया की इमारत खड़ी की—यह क्रान्ति एक युगान्त की सूचक और एक नये युगारम्भ की घोषणा थी। तब इतिहास ने एक बड़ा मोड़ लिया था। और यद्यपि इससे पश्चिम की पुरानी साम्राज्यवादी दुनिया के शासक वर्गों में खलबली मच गई थी और वहाँ के बुद्धिजीवियों में इस बात के प्रति गहरा असन्तोष और क्षोभ था कि उनके शासकों ने उन्हें धोखा दिया था और इतने बलिदान और रक्तपात के बाद भी युद्धों का अन्त नहीं हुआ था, फिर भी योरुप और अमरीका के सभी महान् लेखकों और कलाकारों ने, अपने यहाँ नहीं तो सोवियत यूनियन में ही सही, एक नई समाजवादी दुनिया के जन्म का खुले हृदय से स्वागत किया। 'एज ऑव एंग्ज़ाइटी' (चिन्ता का युग) थी तो उनके लिए थी, जो उनके यहाँ के विगलित पाश्चात्य समाज को घुन की तरह अन्दर-ही-अन्दर खोखला कर रही थी। शॉ, वेल्स, रोम्या रोलां, टामस मान, ड्राइज़र, आरागाँ, हेमिंग्वे तथा उस समय के अधिकांश नये लेखक भी इस विसंगति के बावजूद व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर अपने युग को देख-समझ सके।

इसके बाद दूसरे महायुद्ध में अतुल रक्तदान देकर सोवियत जनता ने फ़ासिज़्म से विश्व की रक्षा ही नहीं की, उसकी सहायता और प्रेरणा से दुनिया की एक-तिहाई जनता भी पूँजीवादी व्यवस्था से मुक्ति पाकर समाजवादी जीवन-निर्माण के पथ पर अग्रसर हो सकी। साथ ही, इसका एक परिणाम और हुआ। साम्राज्यवाद को ऐसा धक्का लगा कि उसकी औपनिवेशिक ज़ंजीरें, जिनमें उसने तीन महाद्वीपों—एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका—के लगभग सौ देशों को बाँधकर गुलाम बना रखा था, टूटने लगीं। इन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों को इन घटनाओं से

नया बल और नई प्रेरणा मिली। सबसे पहले उपनिवेशवाद की सबसे बड़ी और मज़बूत कड़ी टूटकर अलग हुई—१९४७ में भारत आज़ाद हुआ। इस शताब्दी में इतिहास ने फिर एक बड़ा मोड़ लिया—भारत की आज़ादी से उपनिवेशवाद के विघटन का सिलसिला शुरू हुआ, जो साम्राज्यवाद की तमाम हिंस्र कोशिशों और सैनिक हस्तक्षेपों के बावजूद अभी तक जारी है। इस बार भारत की आज़ादी से एशिया और अफ्रीका के शोषित, ग़रीब और अविकसित देशों में बसने वाली विश्व की एक-तिहाई जनता को अपनी आज़ादी हासिल करने में शक्ति और प्रेरणा मिली। पिछले सोलह-सत्रह वर्षों में जन्म लेने वाले नये-नये राष्ट्रों की इस विशाल दुनिया में, जहाँ के लोगों ने 'भाग्यवाद' का सहारा लेकर सदियों तक गुलामी, शोषण और दमन की यातनाएँ झेली थीं और अपने सांस्कृतिक वैशिष्ट्य, जातीय अस्तित्व और भविष्य में अपनी आस्था को मिटने से बचाया था, अब अपना 'भाग्य' बदलने का उल्लास पैदा हुआ। आज़ादी ने इसकी सम्भावना पैदा कर दी थी। इन नये राष्ट्रों में परम्परा से द्रोह और अपने अतीत से विच्छेद का तात्पर्य अपने औपनिवेशिक अतीत से, जो केवल आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धों में ही ताने-बाने की तरह बुना हुआ नहीं था, बल्कि बौद्धिक चेतना, भाव-बोध और संवेदना को भी अपने रंग में रँग चुका था, विच्छेद करके साहित्य, कला, दर्शन, समाज-व्यवस्था, अर्थ-तन्त्र, अर्थात् जीवन के हर क्षेत्र में एक ऐसे विश्व-चेतस् किन्तु राष्ट्रीय—अफ्रीकी, भारतीय या अरब—व्यक्तित्व की खोज और प्रतिफलन था, जिसकी जड़ें अपने जातीय इतिहास की ह्रासोन्मुखी सामन्ती परम्परा में नहीं बल्कि मानववादी परम्परा में हों, लेकिन जो ज्ञान, विज्ञान और तकनीक की आधुनिकतम उपलब्धियों को आत्मसात् करके प्रगतिशील मानवता के साथ भविष्योन्मुखी हो सके। अपने राष्ट्रीय व्यक्तित्व की खोज और प्रतिष्ठा और सामाजिक-आर्थिक जीवन के पुनर्निर्माण के प्रयत्न में लगभग वे सभी नये एशियाई-अफ्रीकी राष्ट्र, जहाँ का राष्ट्रीय आन्दोलन अधिक व्यापक और जागरूक था, अपने-अपने अनुभव से इस सामान्य परिणाम पर पहुँचे कि वर्तमान अणु-युग में पूँजीवाद के मार्ग से विकास करके वे अपने औपनिवेशिक पिछड़ेपन और ग़रीबी से न केवल कभी मुक्ति नहीं पा सकेंगे, बल्कि अपनी नई आज़ादी को भी सुरक्षित नहीं रख सकेंगे—ग़रीब और अमीर देशों का फ़र्क बढ़ता जाएगा और अन्ततः उन्हें हमेशा के लिए पाश्चात्य के अमीर देशों का मोहताज और मुखापेक्षी बन जाना पड़ेगा। इतिहास के पूँजीवादी दौर को छलाँग कर सीधे समाजवाद और विश्वशान्ति का मार्ग पकड़ने में ही उनकी मुक्ति है और विकास की निश्चित सम्भावना है। सौभाग्य से स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में भारत ने ही इस सत्य की सबसे पहले प्रतीति की और एशिया-अफ्रीका के अन्य राष्ट्रीय आन्दोलनों ने भी उसे अपनाया।

भारत की स्वतन्त्रता के इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से सभी परिचित हैं। सम्भव है—और स्वाभाविक भी—कि अनेक मुक्तिकामी विचारकों के मन में इस बीच यह आशा जाग्रत हुई हो कि

राष्ट्रीय आज़ादी के संघर्ष के अग्रणी और प्रेरणा-केन्द्र हमारे महान् देश ने समाजवाद, विश्व-शान्ति और सैनिक गुटों से अलग रहने की नीतियों का प्रतिपादन करके जिस तरह नये आज़ाद देशों का मार्ग-दर्शन किया है और पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा तीव्र गति से भारत के औद्योगीकरण का संकल्प किया है, उससे भारतीय समाज और अर्थ-व्यवस्था में ही क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं होंगे, बल्कि उसके अनुरूप भारतीय मानस में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन होंगे—एक नया आशावाद, एक नया उल्लास, एकता और बन्धुत्व की एक नई भावना पैदा होगी और हमारी संस्कृति के निर्माता—लेखक, कलाकार और शिक्षक—बिना किसी सरकारी आदेश या हस्तक्षेप के, स्वयं अपने अनुभूत उल्लास से लोगों में इन परिवर्तनों और जीवन-लक्ष्यों की कल्पना जगाएँगे। इतना ही नहीं, नई सम्भावनाओं का लाभ उठाकर वे एशिया और अफ्रीका के उन तमाम लोगों से, उनकी सभ्यता और संस्कृति से गहरे, आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करेंगे, जिनसे, पड़ौसी होने के बावजूद, उपनिवेशवाद ने हमारे प्राचीन, ऐतिहासिक रिश्ते तोड़ दिए थे और हमें एक-दूसरे से बेगाना बना दिया था। यह सोचना स्वाभाविक था कि गुलामी के दौर से निकलने वाले देशों में सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की समस्याएँ बहुत-कुछ सामान्य हैं और यदि बड़े पैमाने पर आपस में मुक्त सांस्कृतिक आदान-प्रदान क़ायम हो सके तो इससे न सिर्फ़ पाश्चात्य की मानसिक गुलामी से मुक्ति पाने में आसानी होगी, बल्कि चिन्तन और कलात्मक सृजन के क्षेत्र में भी अपने-अपने राष्ट्रीय वैशिष्ट्य और व्यक्तित्व को रूप देने में आसानी होगी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समय से यह प्रश्न हमारे सामने रहा था कि अंग्रेज़ी प्रभुत्व के बावजूद विश्व-मानस के साथ, मौलिक चिन्तन और सृजन के स्तर पर, सम्पर्क कैसे स्थापित किया जाय—ऐसा सम्पर्क जिसमें दाता-भिक्षुक का सम्बन्ध न हो, बल्कि ऐसा बराबरी का सम्बन्ध हो, जिसमें हमारे सृजन और चिन्तन का नवनीत पश्चिम भी उसी मुक्त हृदय से ग्रहण करे, जिस तरह हम पश्चिम के चिन्तन और सृजन को ग्रहण करते आये हैं। तभी हम एक-दूसरे को, और इस प्रकार समूची विश्व-संस्कृति को, अपने-अपने विशिष्ट योगदान से समृद्ध कर सकते हैं। पाश्चात्य चिन्तन या साहित्य-कला का विरोध करने की कोई संकीर्ण भावना इस विचार के मूल में नहीं थी, न पुनरुत्थानवादी प्रचारकों की तरह अपनी प्राचीन संस्कृति की आड़ लेकर पश्चिम से आए नये विचारों को नकारने की भावना ही थी। बल्कि अगर कोई भावना थी तो केवल यह कि भारत और अन्य एशियाई-अफ्रीकी देशों का सांस्कृतिक पुनर्निर्माण इस रीति से हो कि हमारे चिन्तन और सृजन की उपलब्धियाँ विश्व-साहित्य और संस्कृति का अंग बनें, केवल पाश्चात्य-साहित्य का चर्वित-चर्वण या अनुकरण मात्र न समझी जाती रहें। आज किसी भी देश का सांस्कृतिक विकास दूसरों से असंपर्कित, बन्द कठघरों में नहीं हो सकता। पश्चिम का प्रभाव हम पर न पड़े, यह सम्भव नहीं है। लेकिन पश्चिम का चिन्तन और सृजन जिस तरह अपने जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों से

उद्भूत होकर भी सार्वभौम सार्थकता प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार यह कामना ग़लत नहीं थी कि भारतीय और एशियाई-अफ्रीकी चिन्तन और सृजन में भी अपने-अपने राष्ट्रीय जीवन का इतना गहरा यथार्थ प्रतिबिम्बन हो कि वह सार्वभौम सार्थकता प्राप्त कर ले।

लेकिन आज़ादी के बाद हिन्दी-साहित्य (और प्रकारान्तर से भारत की अन्य भाषाओं का साहित्य भी) जिस प्रतिकूल सामाजिक-आर्थिक वातावरण में विकसित हुआ है, वह रचनात्मक क्षेत्र में इस प्रकार की सरल आशाओं और कामनाओं के प्रतिफलन के लिए अनुकूल नहीं रहा। इसलिए किसी को यह देखकर क्षोभ और आश्चर्य हो कि पुरानी या नई पीढ़ी के रचे साहित्य में इस उत्साहजनक विराट् ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की चेतना या झलक शायद ही कहीं मिलती है, कि लगता है जैसे इस छोटी अवधि में ही इस नये राष्ट्र की वह प्रगतिशील ऐतिहासिक भूमिका और उसका सारा मानववाद चुक गया है या चुकने लगा है, कि भारतीय मानस आस्था का संबल त्यागकर ऐसी रुग्णता का शिकार हो गया है, जिसमें अच्छे-बुरे, नैतिक-अनैतिक, मानवीय-अमानवीय का भेद मिट रहा है और हमारे बुद्धिजीवी वर्ग के लोग समाज से ही नहीं स्वयं अपने-आपसे भी बेगानापन और अलगाव महसूस करने लगे हैं, तो इसमें निश्चय ही हमारे तरुण या पुराने लेखकों का दोष नहीं है। उन्होंने इस बीच जो लिखा है, उसमें उन्होंने अनेक विपरीत दबावों को झेलते हुए भी ईमानदारी से भारतीय जीवन की हक़ीक़त को ही रूपायित करने की कोशिश की है।

विशेषकर हमारे बुद्धिजीवियों की तरुण पीढ़ी ने जिस आज़ाद भारत में चेतना की आँखें खोलीं उसका यथार्थ उन घोषित आदर्शों से भिन्न था जो राजनीतिक मंचों और रेडियो आदि से प्रचारित किया जाता था। आज़ादी के उत्सव अभी मनाये ही जा रहे थे और अहिंसात्मक क्रान्ति की ऐतिहासिक विजय पर नेतागण एक-दूसरे का जयकार कर ही रहे थे कि साम्प्रदायिक आधार पर भारत के विभाजन से उत्पन्न कटुता ऐसी पाशविक हिंसा और रक्तपात में फूट पड़ी जिसकी मिसाल फ़ासिस्टवाद-नस्लवाद में ही मिलती है। और इस निर्मम हत्याकाण्ड में भावना के स्तर पर वे सारे आदर्श और सरल विश्वास, जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को गरिमा और अर्थवत्ता प्रदान की थी, स्वाहा हो गए। राष्ट्रपिता गांधी की हत्या भी जन-मानस में उस मानवीय विवेक को नहीं जगा सकी, जो मनुष्य को क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठाता है। बल्कि गांधी की हत्या आदर्शवादी भारत की अकाल मृत्यु और मूल्यों के विघटन का प्रतीक बन गई। भारतीय प्रतिक्रियावाद, जिसे राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में खुलकर सामने आने का साहस नहीं था, अब राष्ट्रवादी नक़ाब पहनकर इस औद्धत्य से देश की प्रगतिशील आकांक्षाओं और नीतियों का विरोध करने लगा कि नगरों की तरुण पीढ़ी की चेतना साम्प्रदायिक द्वेष-भावना से संकीर्ण और कलुषित होने लगी। जिन प्रगतिशील राजनीतिक दलों ने मिलकर राष्ट्रीय संघर्ष में भाग लिया था और देश को एकता की भावना में बाँधा था, वे आज़ादी के बाद पुनर्निर्माण की खातिर अपने मत

भेदों को पीछे रखकर आपस में सहयोग का कोई मार्ग नहीं तलाश कर सके, क्योंकि जिस राजनीतिक दल के हाथ में सत्ता आई थी, वह एकान्ततः उसका उपभोग करना चाहता था। इससे राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता छिन्न-भिन्न हो गई, यहाँ तक कि हर पार्टी के अन्दर सत्ता या नेतृत्व पाने के लिए व्यक्ति-केन्द्रित दल-बन्दियाँ और आपाधापी शुरू हुई, जिससे उनकी ईमानदारी में लोगों का विश्वास डिग गया।

दूसरी ओर, समाजवाद का नारा लगाकर पूँजीवादी उद्योग-धन्धों का विकास शुरू हुआ। परिणामतः ग़रीब-अमीर का भेद मिटाकर एक शोषण-मुक्त समाज बनाने के नेक इरादों की घोषणाओं के बावजूद अमीर अधिक अमीर होते गये और ग़रीब अधिक ग़रीब। शोषण, मुनाफ़ाख़ोरी, रिश्वतखोरी, चोर-बाज़ारी और दूसरी ऐसी अलामतें जो समाज के नैतिक आधार को खोखला करती हैं और लोगों में मानसिक विक्षोभ और अनिश्चितता की भावना पैदा करती हैं, बढ़ती गईं। भारतीय पूँजीवाद ने पाश्चात्य देशों के पूँजीवाद के साथ पार्टनरशिप में बँधकर देश के उद्योग और व्यापार पर अपनी इजारेदारी क़ायम की और इस आर्थिक इजारेदारी पर आवरण डालने के लिए उसने प्रचार के प्रमुख साधनों, प्रेस और फ़िल्म पर भी अपनी इजारेदारी क़ायम करने की कोशिश की, जिनके द्वारा वे एक ऐसी 'सब धान बाईस पसेरी' वाली संकर संस्कृति और प्रतिक्रियावादी विचार-धाराओं और नीतियों का प्रचार कर सकें जिससे लोगों का विवेक, वास्तव-बोध, संवेदना सभी कुण्ठित हो जाएँ और वे अपने हिताहित का निर्णय करने में असमर्थ होकर अनास्था और नास्ति के अन्धकार में भटकते रहें।

विघटन, विशृंखलता और वचन और कर्म में विसंगति के इस दुखदायी वातावरण में हमारे बुद्धिजीवी वर्ग को युद्धोत्तर जगत के एक और वात्याचक्र ने चारों ओर से घेर लिया। दूसरे महायुद्ध के परिणामों से, यह सहज अनुमेय है विश्व-साम्राज्यवाद संतुष्ट नहीं हुआ—उसे बहुत-कुछ खोना पड़ा। इसलिए समाजवादी राष्ट्रों के विरुद्ध तीसरे आणुविक महायुद्ध की तैयारी के लिए विश्व का जनमत अपनी ओर मोड़ने का प्रश्न उसके सामने था। मशीन-युग के विपुल प्रचार-साधनों—रेडियो, प्रेस, फ़िल्म, टेलिवियन, थियेटर आदि—को एक सुनिश्चित योजना के अन्तर्गत इस काम में लगाया गया। हर पूँजीवादी देश में प्रचारकों की एक पूरी फौज भरती की गई जो नये-नये शब्दास्त्रों से लैस थी। घोषित किया गया कि साम्यवादी बर्बरता, साम्राज्यवाद और ग़ुलामी के विरुद्ध यह दुनिया के 'स्वतन्त्र', 'जनवादी', और 'सभ्य' मानव का अभियान है। इस तरह शीत-युद्ध का आग़ाज़ हुआ, जो महामारी की तरह सारी दुनिया में फैल गया। साहित्य, कला, दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र भी इसकी लपेट में आ गये और शीत-युद्धीय प्रचार की आँधी में सत्यासत्य का भेद मिट गया—दरअसल सत्य को असत्य और असत्य को सत्य सिद्ध करना ही इसका मुख्य उद्देश्य था। फलतः जॉन स्ट्रैची जैसे अर्थशास्त्री ने दावा किया कि पश्चिम का साम्राज्यवाद एक अतीत की चीज़ है, कि पुराने साम्राज्यवादी देश अपने उप-

निवेशों को खोकर ज्यादा सुखी और समृद्ध हैं, कि साम्राज्यवादी देश तो अब वास्तव में केवल सोवियत यूनियन है ! क्वस्लर जैसे लेखकों ने सोवियत यूनियन के जेलखानों और गुलाम जीवन की हौलनाक तस्वीरें खींचकर सिद्ध किया कि वहाँ भरी दोपहर अंधकार छाया रहता है। किसी ने समाजवाद को एक दुःस्वप्न के रूप में दिखाना चाहा। किसी ने साबित किया कि मार्क्सवाद का सिद्धान्त अब पुराना और दक़ियानूसी हो गया है और आधुनिक युग में उसका कोई उपयोग नहीं रहा। यह भी कहा गया कि समाजवादी देशों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है, अतः वहाँ लेखकों की स्वतन्त्रता का प्रश्न ही नहीं उठता। ग़रज यह कि युग के केन्द्रीय प्रश्नों और हक़ीक़तों को गड्डमड्ड करके एक ऐसा कन्फ्यूज़न का वातावरण पैदा किया गया कि साधारण मनुष्य की चेतना इससे कुंठित होती गई। दुर्भाग्य से स्वयं हमारे देश के प्रगतिवादियों के संकीर्ण मतवाद और उधर स्तालिन की कठोर नीतियों ने शीतयुद्ध की आग में घी का काम किया और हमारे तरुण लेखकों का एक वर्ग कुछ दिन तक प्रगतिवाद और समाजवाद के विरोध को ही लेखक की स्वतन्त्रता की गारण्टी समझ बैठा। यह सब स्वाभाविक था क्योंकि उस समय का सामाजिक परिवेश ही शीतयुद्ध से प्रभावित था।

इसी बीच एक और विचारधारा ने हमारे बुद्धिजीवियों की जीवन-दृष्टि और उनके भाव-बोध को आमूल प्रभावित किया है। वह है कामू और सार्त्र का अस्तित्ववादी दर्शन। इस संबंध में हमारे तरुण लेखक अस्तित्ववादी दर्शन के अन्य प्रतिपादकों—कीर्कगार्द, जेस्पर्स, मार्सेल, नीत्शे आदि का भी नाम लेते हैं, लेकिन दरअसल प्रभाव कामू और सार्त्र का ही सर्वाधिक है। यह दर्शन पश्चिमी योरप की विशिष्ट जीवन-परिस्थितियों की उपज है और अतर्क्यभाव से उसको ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेना अविवेक है। फिर भी अगर अस्तित्ववादी दर्शन का हमारे तरुण लेखकों के लिए विशेष आकर्षण रहा है तो मुख्यतः इस कारण कि औद्योगिक विकास के साथ ही हमारे संवेदनशील तरुण लेखकों में भी यह पीड़ाजनक और नैराश्यपूर्ण अनुभूति जगी है कि मनुष्य मशीन का एक पुरज़ा बन गया है जिसके कारण उसका व्यक्तित्व खंडित और विघटित होता जा रहा है।

दरअसल, यह दार्शनिक से अधिक एक सामाजिक और सांस्कृतिक समस्या है। मनुष्य औद्योगिक समाज में मशीन का पुरज़ा बन गया है, यह इस युग की एक बड़ी और दुखदायी हक़ीक़त है। लेकिन मनुष्य अपने अस्तित्व की सार्थकता महसूस करने के लिए अपनी स्वतन्त्रता का व्यक्तिगत लक्ष्य ही चुन सकता है जो अक्सर प्राप्त होने की बजाय अन्य व्यक्तियों के विपरीत लक्ष्यों से टकराकर या कट कर अवसाद और असफलता ही पीछे छोड़ जाता है—यह एक भयंकर किस्म का नियतिवाद है। इस दुर्दम भाग्य-चक्र के विरुद्ध निरर्थक बीटनिक विद्रोह या स्वच्छन्द भोग-विलास या नैतिकता और परम्परा के प्रति उग्र प्रतिवाद करने से अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की क्षणकालिक अनुभूति अवश्य मिल जाती है, किन्तु बाद में मनुष्य पुनः निराशा के गर्त में डूब जाता है। सार्त्र के उपन्यासों का नायक मैथ्यू ऐसा ही अभिशप्त व्यक्ति है, जो केवल अन्य मनुष्यों

से ही नहीं, स्वय अपने-आप से भी बेगाना है, alienated है। अपने-आप से बेगानापन की यह हृदय को सालने वाली अनुभूति वर्तमान युग की एक सार्वभौम भावना है—पूँजीवादी देशों में भी है और समाजवादी देशों में भी, क्योंकि औद्योगिक सभ्यता इसकी जननी है। फर्क सिर्फ इतना है कि पाश्चात्य देशों में मनोरंजन और फैशन के विचित्र आयोजनों, प्रतिवाद और विद्रोह के असंगत आन्दोलनों और कला और साहित्य में निरर्थक प्रयोगों के माध्यम से इस अनुभूति से पीड़ित लोग अपने अस्तित्व की घोषणा ही नहीं करते, अपने व्यक्तित्व के विघटन में रस और आनन्द भी लेने लगे हैं। औद्योगिक समाज में श्रम-विभाजन की प्रक्रिया ही बेगानापन की इस भावना को उत्पन्न करती है। श्रम-विभाजन तो मिटाया नहीं जा सकता, लेकिन उसके इस प्रभाव को कैसे मिटाया जाय, यह एक बड़ा सामाजिक प्रश्न है, जिस पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार होना चाहिए। इसे मनुष्य की नियति मानकर अस्तित्व दर्शन के निराशावाद को स्वीकार कर लेने से हमारी मनीषा एक बन्द सुरंग के छोर पर पहुँचकर बार-बार दीवार से सर ही टकरा सकती है, निकलने का मार्ग नहीं खोज सकती।

जो भी हो, भारत की आज़ादी ने जिस व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और सांस्कृतिक विकास की सम्भावनाओं के नये क्षितिज खोल थे, अपनी विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों और अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों के कारण इस बीच हमारे साहित्य का विकास, उनसे हटकर कुछ अधिक संश्लिष्ट रूपों में हुआ है।

इस सारे विकास में अभिनन्दनीय बात यह है कि विचारधाराओं के संघर्ष की तीव्रता बहुत दिन तक नहीं टिकी, क्योंकि हिन्दी के संवेदनशील रचनाकार, प्रगतिवादी हों या कला के लिए कलावादी, आज़ादी के बाद कुछ ही दिनों में यह महसूस करने लगे कि आज़ादी के पहले की सरल दुनिया का अन्त हो गया। जीवन भी जटिल और उसकी समस्याएँ भी जटिल हो गईं और अब प्रश्न राजनीतिक उद्देश्यों और आन्दोलनों से सम्बद्ध या असम्बद्ध होने का नहीं, बल्कि लेखक के नाते प्रश्न अपनी अनुभूति की गहराई में जीवन के यथार्थ को पाने और उसे अभिव्यक्ति देकर सत्य का उद्घाटन करने का है। समाज के प्रति उसकी प्रतिबद्धता का यही एकमात्र रूप और दायित्व है। रूढ़ि और परम्परा से लेखकों का विद्रोह साहित्य में नये सत्यों को उजागर करने के उद्देश्यों से ही था। प्रयोगवाद, नई कविता, नई कहानी, सचेतन कहानी, आदि नामों से इस बीच जो आन्दोलन चले हैं, उनके उद्देश्यों को चाहे जिस शब्दावली में परिभाषित क्यों न किया गया हो और उनकी सैद्धान्तिक स्थापनाओं में चाहे कभी शीत-युद्धीय समाजवाद-प्रगतिवाद विरोध की ध्वनि क्यों न रही हो, लेकिन इस दौर में रचे गये नये काव्य और नये कथा-साहित्य के टिकाऊ और श्रेष्ठ-भाग का जायज़ा लें तो यह निर्विवाद है कि उसमें युग की वास्तविकता को ही गहरी कलात्मक अभिव्यक्ति मिली है, जो यद्यपि शिल्प और वस्तु की नवीनता और संश्लिष्टता के कारण सहज संप्रेषणीय नहीं है और किंचित दुरूह और अपरिचित भी लगती है, लेकिन प्रयोगों, नये चौंकाने वाले बिम्बविधानों, पुरानी मान्यताओं और थोथे आदर्शों के प्रति

अनास्था और द्रोह के भीतर उनमें गहरा मानव-प्रेम और जीवनाकांक्षा ध्वनित है। इसके अलावा यह भी विचारणीय है कि मनुष्य की संवेदना को कुंठित करने वाले उस पलायनवादी लोकप्रिय साहित्य से जो सस्ता मनोरंजन करता है या साहित्य की उस धारा से जिसमें नई अभिव्यक्ति की सम्भावनाएँ चुक जाती हैं और जो केवल रूढ़ि की आवृत्ति करके जैसे अर्थहीन और टकसाली बन जाती है, विद्रोह करके साहित्य की जो नई प्रवृत्ति साहसपूर्वक अभिव्यक्ति के नये माध्यम, नये बिम्ब और नई भाषा खोजती है, वह मूलतः अपने-आप में प्रगतिशील होती है। अपने समय में यही काम छायावाद और फिर प्रगतिवाद की धाराओं ने किया था। और प्रसन्नता की बात यह है कि नई और पुरानी पीढ़ी और सभी विचारधाराओं के प्रतिभासम्पन्न लेखकों ने नव-सृजन के इन रचनात्मक प्रयत्नों में समान उत्साह से भाग लिया है—साहसपूर्वक नये-नये प्रयोग किए हैं और इतना कुछ नया रचा है कि हिन्दी साहित्य की पिछले सोलह-सत्रह वर्षों की उपलब्धियों पर हम आज गर्व कर सकते हैं।

शिवदानसिंह चौहान

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

वाक् तत्त्व और विनायक धर्म

कालिदास ने वाक् और अर्थ को पार्वती और परमेश्वर (शिव) के समान संयुक्त बताया है, परन्तु वाक् तत्त्व और अर्थ तत्त्व का अर्थ अधिक व्यापक है। कालिदास सफल कलाकृति के लिये प्रयत्न और संस्कार को आवश्यक समझते हैं। यही विनायक तत्त्व है।

यह सारा संसार नाम और रूप के रूप में प्रतिभासित हो रहा है। नाम शब्द हैं और रूप अर्थ हैं। लेकिन यह साधारण बात है, विशेष अवस्था में रूप भी अर्थ देते हैं। चाहे शब्द हों या अर्थ किसी-न-किसी अवस्था में वे अन्य अर्थ को ध्वनित अवश्य करते हैं। कई बार इंगित से अर्थ प्रकट हो जाता है शब्द की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ रूप ही वस्तुतः अर्थ देने का हेतु है। संसार में जो कुछ भी अर्थ देने की क्षमता रखता है उसे संप्रेषणधर्मी कहा जा सकता है। जिस प्रकार भाषा में शब्द अर्थ विशेष का संप्रेषण करते हैं उसी प्रकार चित्र और मूर्ति में रूप भी अर्थ विशेष का संप्रेषण करते हैं। इसीलिए कभी-कभी महान् कवि और तत्त्वद्रष्टा भी ऐसी बातें कहते हैं, जिनमें शब्दहीन भाषा या वाणी का संकेत मिलता है। वस्तुतः वाणी या भाषा शब्द का व्यवहार सब समय उच्चरित वर्णों वाली भाषा से अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिस किसी साधन से कोई अर्थ सूचित या ध्वनित होता है उसे ही वाणी, वाक्य, भाषा आदि कह दिया जाता है। शास्त्रकारों ने 'परापश्यन्ति' और 'मध्यमा-वाक्' शब्दों का प्रयोग किया है, जो जिह्वा, कण्ठ, तालू आदि की सहायता से उच्चरित होनेवाली व्यक्त वाणी 'वैखरी' से भिन्न हैं। इसलिए 'वाक्' शब्द का शास्त्रीय अर्थ बहुत व्यापक है। जिस प्रकार कवि शब्दों के माध्यम से अपनी बात प्रकट करता है उसी प्रकार चित्रकार, मूर्तिकार, अभिनेता आदि भी भिन्न-भिन्न साधनों के माध्यम से अर्थ ध्वनित करने का प्रयत्न करते हैं। व्यापक अर्थों में यह सभी भाषा या वाणी है। यहाँ भाषा और वाणी शब्द के प्रयोग में संप्रेषणधर्मिता ही मुख्य बात मानी जाती है।

मनुष्य जैसे-जैसे आदिम अवस्था से बढ़ता हुआ सभ्यावस्था की ओर अग्रसर होता गया है वैसे-वैसे उसमें वर्ण-वैशिष्ट्य वाली भाषा निखरती गई है। जिस प्रकार भाषा में यह वर्णवैशिष्ट्य निखरता है उसी प्रकार रूप-दर्शन में भी एक प्रकार का वर्ण-वैशिष्ट्य निखरा है। वर्ण शब्द भाषा में जहाँ निश्चित प्रकार की ध्वनि का वाचक है वहीं रूप पक्ष में विशेष-विशेष प्रकार के रंगों का द्योतक है। मनुष्य ने धीरे-धीरे वर्णों की बारीकी का ज्ञान प्राप्त किया है और जिस प्रकार भाषा की ध्वनियों के

संयोजन से शब्दों का निर्माण किया है उसी प्रकार रंगों के संयोजन से नये-नये रूप का भी निर्माण किया है। इस प्रकार इस नाम रूपात्मक जगत् में नाम श्रव्य वर्णों के संयोजन का परिणाम है और रूप दृश्य वर्णों के संयोजन का परिणाम।

भाषा में जिस प्रकार मनुष्य वर्ण-योजना के लिए स्वतन्त्र है उसी प्रकार रूप-निर्माण में भी वह वर्ण-योजना या रंगों को जोड़ने की क्रिया में स्वतन्त्र है। परन्तु जिस प्रकार स्वेच्छा से वर्णों के संयोजन मात्र से उनमें अर्थ देने की क्षमता नहीं आ जाती उसी प्रकार रूप निर्माण में 'यदृच्छा' से किये गये संयोजनों में भी अर्थ देने की क्षमता अपने-आप नहीं आ जाती, अर्थ सामाजिक स्वीकृति चाहता है। कम-से-कम अन्तर्वैयक्तिक स्वीकृति तो अवश्य चाहता है। सच पूछा जाए तो नाम की तुलना में रूप के निर्माण में अधिक व्यापकता होती है। नाम या शब्द निर्माण के क्षेत्र में मनुष्य के प्रयास सीमित हैं। सब शब्द सब मनुष्यों के लिए अर्थ-प्रसू नहीं होते। एक भाषा में एक शब्द जिस अर्थ में व्यवहृत होता है दूसरी भाषा में वह दूसरे अर्थ में व्यवहृत हो सकता है और ऐसा भी हो सकता है कि एक भाषा का शब्द दूसरी भाषा में कोई भी अर्थ ही न दे सके। परन्तु, रूप-निर्माण अधिक व्यापक होता है। एक जनसमूह द्वारा गृहीत अर्थ दूसरे जनसमूह द्वारा भी ग्रहणीय हो सकता है।

वर्ण चाहे भाषा में हों या दृश्य जगत् में निश्चित अर्थ को प्रकट करने के लिए निश्चित प्रकार का प्रयत्न चाहते हैं। ज्ञात ध्वनियों का जैसा-तैसा संयोजन वाञ्छित अर्थ को देने में समर्थ नहीं हो सकता। विभिन्न वर्णों के संयोजन से जो शब्द बनते हैं उनका संकेतित अर्थ सामाजिक चित्त की स्वीकृति चाहता है। पृथक्-पृथक् वर्णों की जानकारी प्रत्येक व्यक्ति के पास होती है। उनके उच्चारण करने में भी वह स्वतन्त्र है, परन्तु अर्थ प्रकाश की क्षमता उस वर्ण-संयोजन में आती है, जो सामाजिक स्वीकृति प्राप्त किये होता है या प्राप्त करने की क्षमता रखता है। यदि हम 'कमल का फूल' यह अर्थ प्रकट करना चाहते हैं, तो क म और ल को यदृच्छा क्रम से नहीं रख सकते। लकम या मकल कहने से हमारा अभीष्ट अर्थ नहीं प्रकट होगा, क्योंकि समाज चित्त में लकम या मकल का कोई अर्थ स्वीकृत नहीं है। इसी लिए हमें कमल ही कहना पड़ेगा अर्थात् ज्ञात ध्वनियों का उस प्रकार विनयन करना होगा, जिससे ठीक अर्थ प्रकट हो सके। वर्ण समाम्नाय वाक् तत्त्व है, परन्तु अर्थ समवाय एक प्रकार के ऐसे विनायक धर्म की स्वीकृति चाहता है, जो अभीष्ट अर्थ को प्रकट करा सके। दूसरे शब्दों में अर्थ-प्रकाश केवल वाक् तत्त्व के आश्रित नहीं है उसमें विनायक धर्म भी होना चाहिए। जहाँ कहीं मनुष्य किसी अर्थ को प्रकट करना चाहता है वहीं विनायक धर्म द्वारा अनुप्राणित वाक् तत्त्व का आश्रय लेता है। व्यापक अर्थों में वाक् तत्त्व प्रेषणधर्मी साधन है और विनायक तत्त्व प्रेष्य-प्रकाशक धर्म है। विनायक तत्त्व को आश्रय करके वाक् तत्त्व अर्थ प्रकट करने में समर्थ होता है। वर्ण-समूह व्यक्तिगत है, अर्थ प्रकाश करने का हेतुभूत विनायक धर्म समाज सापेक्ष। इस प्रकार संसार में जितने भी अर्थ हैं वे विनायक धर्म को आश्रय करके प्रकट होते हैं। वर्ण वाक् तत्त्व के अवयव हैं और अर्थ विनायक धर्म द्वारा संयोजित वर्ण समूह से प्रकाश्य होता है। जिससे समस्त वर्णों का

ज्ञान हो, किन्तु उन वर्णों को अभीष्ट अर्थ में प्रकाशित करने की दिशा में प्रयत्न न हो वह न तो भाषा का आश्रय ले सकता है और न चित्र और मूर्ति का। यद्यपि संसार में जो कुछ दिखाई दे रहा है वह पदार्थ है अर्थात् पदों का अर्थ है, परन्तु पदों का निर्माण विनायक धर्म के आश्रित है। पद वर्णों से ही बनते हैं, लेकिन उनका संयोजक समाज-चित्र में गृहीत या गृहीत होने योग्य अर्थ देने में समर्थ होना चाहिए। यह व्यक्ति का प्रयत्न है। वस्तुतः वर्ण-समूह को विशिष्ट दिशा में मोड़ने का प्रयत्न ही विनायक धर्म है। जब तक यह प्रयत्न नहीं है तब तक भाषा—अर्थ देनेवाली भाषा बन ही नहीं सकती।

लेकिन, सामान्य व्यवहार की भाषा के लिए तो यह बात ठीक है, परन्तु इससे केवल स्थूल प्रयोजन ही सिद्ध होते हैं। अर्थ केवल बाह्य-जगत् में ही नहीं होते वे अन्तर्जगत में भी होते हैं। व्याकरण की पुस्तकों में भाववाचक संज्ञा उसे कहते हैं, जिसे किसी स्थूल इन्द्रिय से ग्रहण नहीं किया जाता। परन्तु यह बच्चों को फुसलाने वाली परिभाषा है। भाव वस्तुतः अन्तर्जगत् का सत्य होता है। वह बाह्य-आँखों से नहीं देखा जा सकता, कानों से नहीं सुना जा सकता, जिह्वा से नहीं चखा जा सकता, नासिका से नहीं सूंघा जा सकता और त्वचा से नहीं स्पर्श किया जा सकता, वह अनुभव किया जाता है। भाव अन्तर्जगत् के सत्य हैं। माधुर्य या लावण्य केवल अनुभव-गम्य वस्तुएँ हैं। भाषा में केवल बाह्य-जगत् की वास्तविकता को प्रकट करने का प्रयास नहीं होता, बल्कि अन्तर्जगत् के अनुभूत अर्थों को भी प्रकट करने का प्रयास होता है। भाषा में उसे भी वर्ण योजना से ही प्रकट किया जाता है और चित्र में रंगों और रेखाओं के योग से ही उसे व्यक्त किया जाता है। मनुष्य के चित्त में उठने वाले भावों की कोई इयत्ता नहीं, परन्तु ऐसे भाव जिससे दूसरे के चित्त को चालित, मथित और उद्वेलित किया जा सके अपेक्षाकृत कम होते हैं। एक व्यक्ति जिस भाव को अनुभूत करता है उसे ठीक-ठीक भाषा द्वारा व्यक्त करने की प्रक्रिया आसान नहीं होती। क्योंकि भाषा में आते ही वह सामान्य अर्थ को प्रकट करती है विशिष्ट अर्थ को नहीं। किसी व्यक्ति के चित्त में उठे हुए विशिष्ट भाव को जन-सामान्य के भाव बन जाने की स्थिति में ले आने के प्रयास या प्रक्रिया को 'साधारणीकरण' कहते हैं। अन्तर्जगत् के भावों को जैसे-तैसे सजा देने से या कह देने से यह काम नहीं होता। जिस प्रकार वर्णों के यदृच्छा-संयोजन से अभीष्ट अर्थ नहीं निकलता इसी प्रकार भावों के यदृच्छा-संयोजन से अभीष्ट रस नहीं उत्पन्न होता। केवल भाषा द्वारा भावों को व्यक्त कर देने मात्र से रस नहीं निष्पन्न होता। रस साधारणीकरण की अपेक्षा रखता है। इसके लिए भावों को भी प्रयत्नपूर्वक सजाना पड़ता है। भाव सूक्ष्म अर्थ ही हैं, परन्तु उन्हें सहृदय-हृदय-संवेद्य बनाने में सूक्ष्म प्रयत्न की आवश्यकता होती है। छन्द वही सूक्ष्म प्रयत्न हैं। जिस प्रकार वर्ण से अर्थ प्रकट करने के लिए समष्टि-चित्त की स्वीकृति की ओर उन्मुख करने वाला वाक् तत्त्व का विनायक धर्म आवश्यक होता है उसी प्रकार सूक्ष्म अर्थ रूप भावों को 'रस दशा' तक पहुँचाने के लिए छन्द की आवश्यकता होती है। यहाँ छन्द का अर्थ पिङ्गल-शास्त्र में गिनाये हुए छन्दों से ही नहीं है बल्कि शब्दों

की ऐसी संघटना से है, जो उसमें ऐसा प्रवाह उत्पन्न कर सके, जो विशिष्ट अनुभूत भाव को रस रूप में परिणत कर दे। विविक्त वर्णों वाली भाषा में संगीत तत्त्व लुप्त हो गया रहता है। छन्द उसे पुनः प्रतिष्ठित करता है। वह भी रस की ओर ले जाने वाला विनायक धर्म है।

स्पष्ट है कि वाक् तत्त्व के लिए पद-पद पर विनायक धर्म की आवश्यकता है। स्थूल-जगत् में वह अभीष्ट पदार्थ को प्रकाशित करता है और सूक्ष्म भाव-जगत् में रस को। किसी भी कलाकार के लिए इन दोनों तत्त्वों की आवश्यकता होती है। वाक्-तत्त्व व्यापक अर्थों में प्रेषण-धर्मी साधन है और विनायक धर्म अभीष्ट प्रेष्य को प्रकट करने वाला प्रयत्न। मनुष्य ने प्रकृति को ज्यों-का-त्यों नहीं स्वीकार किया है। उसने उसे अपने प्रयत्नों द्वारा अभीष्ट दिशा में अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न मनुष्य का सहज धर्म है। प्रकृति के साथ संघर्ष करते-करते और प्रकृति की ही कृपा से मनुष्य ने वाक् तत्त्व को पाया है, परन्तु ज्यों-ज्यों वह प्रकृति से संस्कृति की ओर बढ़ता गया है त्यों-त्यों उसने विनायक धर्म का अधिकाधिक आश्रय लिया है। सभ्यता प्राप्त करके मनुष्य ने बहुत-सी प्राकृतिक शक्तियों पर अधिकार किया। वह कीड़े-मकोड़ों की तरह प्रकृति पर पूर्णतः आश्रित नहीं। उसने अपने प्रयत्नों से प्रकृति के रहस्य का पता लगाया है। वह नये सिरे से प्राकृतिक शक्तियों के नये-नये संयोजन से नयी-नयी चीज़ों को पैदा कर सकता है। ठीक उसी प्रकार वह ज्ञात वर्णों से नये-नये शब्दों की योजना कर सकता है। परन्तु यदृच्छा-संयोजित वर्ण जिस प्रकार अभीष्ट अर्थ नहीं देते उसी प्रकार यदृच्छा संयोजित प्राकृतिक शक्तियाँ भी उसे अभीष्ट दिशा में नहीं ले जातीं। प्राकृतिक शक्तियों को अभीष्ट दिशा में ले जाने के संयोजन को ही 'मंगल' कहते हैं। वह भी अर्थ कीं तरह सामाजिक होता है। प्राकृतिक शक्तियों का जो संयोजन केवल व्यक्तिगत प्रयोजन के लिए होता है और सामाजिक प्रयोजन के लिए नहीं होता उसे 'मंगल' नहीं कहा जा सकता। प्राकृतिक शक्तियों का यदृच्छा-संयोजन विकृति है और सामाजिक मंगल की दृष्टि से संयोजन संस्कृति है। सभ्यता ने मनुष्य के लिए दोनों ही मार्ग प्रशस्त कर दिए हैं। वह विकृति की ओर भी जा सकता है और संस्कृति की ओर भी। मनुष्येतर जीवन के लिए प्रकृति केवल प्रकृति है, किन्तु सभ्य जीवन के लिए वह कभी विकृति है और कभी संस्कृति। तुलसीदासजी ने जब कहा था कि—

"कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई।"

तो उनके मन में कुछ इसी प्रकार कीं सामाजिक मंगल की चेतना काम कर रही थी। जहाँ तक कला का क्षेत्र है वाक् तत्त्व अर्थात् प्रेषणधर्मी साधन अर्थ, रस, छन्द और मंगल की ओर तभी ले जा सकता है जब उसमें सामाजिक मंगल की बुद्धि से परिचालित विनायक धर्म एकमेक होकर गुंथा हुआ हो। इस विनायक धर्म को पाकर वर्ण अर्थ की ओर, अर्थ रस की ओर और रस मंगल की ओर जाता है। निश्चित रूप से कुछ कहना तो कठिन है, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि जब गोस्वामी तुलसीदासजी

के 'रामचरित मानस' की रचना का संकल्प किया था, तो वे कुछ इसी रास्ते सोच रहे थे। कदाचित यही कारण है कि उन्होंने 'रामचरित मानस' के आरम्भ में ही लिखा था :

"वर्णानांमार्थ संघानां रसानां छंदसामपि।
मंगलानां च कर्तारौवंदे वाणी विनायकौ॥"

यह सही है कि वाणी और विनायक के मूर्त आधिदैविक रूप की भावना तुलसीदास के मन में अवश्य थी, परन्तु यह भी सही है कि उन्होंने इन मूर्त-रूपों के प्रेरक विचारों का भी अवश्य ध्यान रखा था। 'रामचरित मानस' से इस प्रकार के उदाहरण खोजे जा सकते हैं। परन्तु यहाँ जो बात अभिप्रेत है वह तुलसीदास के श्लोक की नयी व्याख्या नहीं है, बल्कि ऊपर प्रकट किये गए विचारों का उनकी वाणी से भी समर्थन प्राप्त कर लेना मात्र है।

कला में प्रेषणधर्मी वाक्-तत्त्व और मंगलादेशी विनायक-धर्म निस्सन्देह आवश्यक तत्त्व हैं। किसी एक की भी उपेक्षा करने से काव्य या कला विराट् और उदात्त बनने में चूक जाती है और ललित मनोहर बनकर केवल क्षणिक ज्योति विकीर्ण करके समाप्त हो जाती है।

डॉ० रामविलास शर्मा

लेखक और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य

विचार-स्वाधीनता, लेखक को अपनी बात कहने की स्वाधीनता, व्यक्ति की स्वाधीनता, जनता को भाषण, संगठन, प्रदर्शन और सरकार के प्रतिरोध की स्वाधीनता—इस तरह की स्वाधीनता का सवाल सामने आते ही ज़्यादातर पढ़े-लिखे लोगों की आँखों के आगे सोवियत समाज का नज़्ज़ारा घूम जाता है। लेनिन ने कहा था कि लेखक को सर्वहारा वर्ग का साथ देना चाहिए और पार्टी के अनुशासन में काम करना चाहिए। स्तालिन के समय में लेखक को समाजवादी व्यवस्था के गुणगान के लिए विवश किया गया; शासन की कैसी भी आलोचना करने पर पाबन्दी लगा दी गई; लोगों को जेल भी भेजा गया, यातनाएँ दी गईं। ख़ुश्चेव के समय में थोड़ी-सी उदारता आई लेकिन जब-तब वह भी कलाकारों और साहित्यकारों को डाँट-फटकार दिया करते थे। लगता है कि समाजवादी व्यवस्था में लेखक को व्यक्तिगत विचार प्रकट करने की स्वाधीनता मिल ही नहीं सकती; वह एक विराट् प्रचार-यन्त्र का छोटा-सा पुर्जा बन-कर रह जाएगा। इसलिए कुछ लोग समाजवाद शब्द को नाकाफ़ी समझकर उसके साथ एक विशेषण और जोड़ते हैं—जनतान्त्रिक। अभी तक इस जनतान्त्रिक समाजवाद का व्यवहारिक रूप कहीं देखने में नहीं आया। ब्रिटेन के सोशलिस्ट शासन की बाग-डोर सँभालते हैं, फिर अलग हो जाते हैं। पूंजीवाद ज्यों-का-त्यों ब्रिटेन में क़ायम रहता है।

इस सम्बन्ध में पहले ही निवेदन कर दूँ कि रूस या चीन में जो कुछ हुआ है, वह समाजवाद का एकमात्र अथवा अन्तिम चरम आदर्श रूप नहीं है। न केवल समाज-वाद तक पहुँचने के मार्ग अनेक हैं, वरन् समाजवादी व्यवस्था को संगठित करने के प्रकार भी अनेक हैं। कोई कारण नहीं कि भारत के समाजवादी भी रूस की ग़लतियों को दोहरायें और वहाँ से अच्छी समाजवादी व्यवस्था का निर्माण न करें।

समाजवाद में लेखक को कितनी स्वाधीनता मिलेगी—इस प्रश्न पर विचार करते हुए पहले सामन्ती व्यवस्था पर दृष्टिपात कर लीजिए। छोटे और बड़े ज़मींदार, छोटे और बड़े सेठ, सौदागर और साहूकार, बनिये, महाजन, सूदख़ोर, छोटे पैमाने का उत्पादन, बढ़ई, लोहार, कुम्हार, चमार आदि कारीगर, किसान, पुजारी, चार वर्ण और असंख्य जातियाँ—यह हुई सामन्ती व्यवस्था। हर देश में पुराने सामुदायिक श्रम वाले कबीले टूटने पर यह सामन्ती व्यवस्था आई है। इस व्यवस्था में संस्कृति थोड़े-से

सम्पत्तिशाली वर्गों के हाथ में रह जाती है; जनता का विराट् भाग उससे वंचित रहता है। वेदों और महाकाव्यों के युग के बाद कितने किसान, कारीगर और शूद्र कालिदास और भवभूति की मर्मस्पर्शी रचनाएँ पढ़ पाते थे ? महान् संस्कृत साहित्य के निर्माण में कितने शूद्रों का हाथ है ? देव-वाणी और शूद्र ! देववाणी तो ब्राह्मणों के लिए हैं इसीलिए तो संस्कृत साहित्य ने इतनी तरक्की की !

कबीर और तुलसीदास, जायसी और सूरदास के युग में देववाणी को अपदस्थ करके लोकवाणी साहित्य के सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुई। व्यापार की बड़ी-बड़ी मंडियाँ क़ायम हुईं, हिन्दीभाषी क्षेत्र के जनपद एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आए, तुलसीदास ने व्रज और अवधी दोनों में रचनाएँ कीं, रामचरित मानस और सूर के गीत मिथिला से लेकर कुरुक्षेत्र तक पढ़े और गाए जाने लगे। अंग्रेज़ी राज में ढहती हुई सामन्ती-व्यवस्था को सहारा मिला। उन्नीसवीं सदी में कितने साहित्यकार शूद्र वर्ण के हुए ? उनकी संख्या से ब्रिटिश-पूर्व भारत के रैदास-पलटूदास आदि की तुलना कीजिए। ब्रिटिश छत्रछाया में भारतीय पूँजीवाद विकसित हुआ; दूसरी ओर सामन्ती व्यवस्था भी दृढ़ हुई। परस्पर दो विरोधी क्रियाएँ एक साथ हुईं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारतीय साहित्य ने बहुत बड़ी प्रगति की। यह प्रगति अंग्रेज़ी के माध्यम से, अंग्रेज़ी राज की प्रतिष्ठा के लिए, नहीं हुई। प्रगति हुई भारतीय भाषाओं के माध्यम से, जातीय संस्कृति के विकास के लिए, अंग्रेज़ी राज का मूलोच्छेद करने के लिए। इस प्रगति में अन्त्यजों का सहयोग बहुत ही अल्प रहा। स्वाधीन भारत में सामन्ती-व्यवस्था के दलित वर्णों को शिक्षित होने का नया अवसर मिला है; उनकी स्थिति में पहले से अन्तर है। किन्तु सामन्ती-व्यवस्था के अवशेष बने हुए हैं। उनके अलावा पूँजीवाद के विकास के साथ धनी और निर्धन के बीच का फ़ासला बढ़ता जाता है। ऐसी स्थिति में भारत की कोटि-कोटि जनता के लिए 'लेखक और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' के प्रश्न का मूल्य कितना रह जाता है, आप विचार करें।

ब्रिटेन में उन्नीसवीं सदी तक ९९ फीसदी साहित्यकार लन्दन के हैं। सारे देश की कला और संस्कृति एक शहर में सिमटकर सीमित हो गई। इनमें अधिकांश साहित्यकार राजा या अभिजातवर्गीय आश्रयदाताओं के सहारे जीवन-यापन करते थे। औद्योगिक क्रान्ति के बाद ही साहित्य में लन्दन का इजारा कुछ-कुछ टूटा; लेखकों को अभिजातवर्गीय आश्रयदाताओं से मुक्ति मिली। नये पाठक पैदा हुए, पुस्तकों की बिक्री बढ़ी, मध्यवर्ग में बहुत-से लेखक पैदा हुए।

किन्तु ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र अमरीका में कितने लेखक ऐसे हैं जो मज़दूरवर्ग में पैदा हुए हैं ? कुछ लेखक ऐसे मिल जाएँगे जिनके बाप मज़दूर थे या जिन्होंने स्वयं बचपन या जवानी में मज़दूरी की थी। किन्तु मज़दूरी भी करता रहे और साथ में लेखन-कार्य भी करे, ऐसे उदाहरण दुर्लभ हैं।

ब्रिटेन और अमरीका महाजनी पूँजीवाद के देश हैं। उनके पास दूसरे देशों से करोड़ों डालर और पाउण्ड मुनाफ़ा आता है। वहाँ के पूँजीपति इस मुनाफ़े से कुछ रक़म मज़दूरों में बाँट देते हैं। किन्तु भारत-जैसे पिछड़े हुए देशों की स्थिति दूसरी

है। यहाँ के मज़दूर और अमरीका या ब्रिटेन के मजदूर की माली हालत में ज़मीन-आसमान का फ़र्क है। यहाँ का पूँजीपति भी अमरीकी धन्नासेठों के मुकाबले में टटपूँजिया है। हमारे यहाँ निम्न वर्ण या श्रमिक वर्ग में उत्पन्न होकर साहित्य-क्षेत्र में नाम करने वाले लेखक बहुत ही कम हैं। आदमी खेती करे और लिखे, कारखाने में मजूरी करे और लिखे—यह बात कल्पनातीत मालूम होती है।

लेखक को कितनी स्वाधीनता है, यह जानने के लिए पता लगाना चाहिए कि किसी समाज-विशेष में लेखक अधिकतर किन वर्गों के हैं। प्रतिभा का ठेका सम्पत्ति-शाली वर्गों ने ही लिया हो, ऐसा नहीं होता। सम्पत्तिहीन वर्गों में उत्पन्न होने वाले जिन लोगों में प्रतिभा होती है, वे उसके विकास के लिए सुविधाएँ नहीं जुटा पाते। जो लेखक बन सकता है किन्तु बन नहीं पाता, उससे पूछिए कि लेखक की स्वाधीनता का अर्थ क्या है।

पूँजीवादी व्यवस्था की यह विशेषता है कि वह जनता के विशाल भाग को बेकार और निर्धन बनाकर उसे सांस्कृतिक जीवन से दूर रखती है। साहित्य और कला की महान् उपलब्धियों से श्रमिक जनता वंचित रखी जाती है। इस जनता को मुक्त होकर साहित्य से लाभ उठाने और साहित्य रचने का अवसर और इसके लिए सुविधाएँ केवल समाजवाद में प्राप्त होती हैं।

सोवियत संघ का लेखक-समुदाय सामाजिक उद्भव की दृष्टि से हर पूँजीवादी देश के लेखक-समुदाय से मूलतः भिन्न है। वहाँ के अधिकांश लेखक श्रमिक-वर्गों से उत्पन्न हुए हैं। इतना ही नहीं, काफ़ी संख्या ऐसे लेखकों की भी है जो उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में काम करते हैं, साथ ही साहित्य-रचना भी करते हैं। साहित्य और कला पर उच्चवर्णों या धनी वर्गों का इजारा नहीं है। साहित्य मंदिर का द्वार अन्त्यजों के लिए भी खुल गया है। शोषक-वर्ग निर्मूल हो गए, उच्चवर्ग जनसाधारण की भूमि पर आ गए। साहित्य के लिए यह युगान्तरकारी परिवर्तन हुआ।

जिनके हाथ में सत्ता और सम्पत्ति होती है, वही साहित्यिक अभिरुचि को भी नियन्त्रित करते हैं। नायिकाभेद और समस्यापूर्ति वाला चमत्कारवादी साहित्य विशेष समाज-व्यवस्था में वर्ग-विशेष की साहित्यिक अभिरुचि का परिणाम है। अमरीकी कथा-साहित्य में अभिनव नायिकाभेद भी विशेष वर्गों की अभिरुचि का प्रतिफलन हैं। पूँजीवादी समाज में बहुत-सा श्रेष्ठ साहित्य रचा गया है। अधिकतर यह पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध करने वाला, उसकी अस्वीकृति का साहित्य है। इस साहित्य को रचने के लिए साहित्यकारों को बड़ा संघर्ष करना पड़ा है, रूढ़िवादियों का तगड़ा विरोध सहना पड़ा है।

अपने पतनकाल में पूँजीवाद अक्सर निरंकुश राज्यसत्ता का रूप ले लेता है। इजारेदार पूँजीपति और उनके राजनीतिक प्रतिनिधि पूँजीवादी जनतन्त्र को समाप्त कर देते हैं। उसके बदले वे एक दल और उसके नेता का शासन क़ायम करते हैं। साहित्य हिंसात्मक प्रचार का साधन बन जाता है। जो लोग स्तालिन और हिटलर को एक ही तराज़ू से तौलते हैं—और दोनों को बराबर पाते हैं—वे सोवियत साहित्य

और फासिस्ट साहित्य के गुणात्मक अन्तर को भूल जाते हैं।

सोवियत संघ में जिस समय समाजवाद का निर्माण आरम्भ हुआ, उस समय वहाँ के मार्क्सवादियों का एक अत्यन्त प्रभावशाली हिस्सा यह प्रचार करता था कि सोवियत संघ में समाजवाद का निर्माण हो ही नहीं सकता। ये लोग अपने को प्रचार तक सीमित न रखकर ध्वंसक कार्यवाही की ओर भी बढ़े थे, सोवियत संघ के चारों ओर पूँजीवाद ने ज़बर्दस्त घेरा डाल रखा था। यह घेरा आर्थिक नाकेबन्दी तक सीमित नहीं रहा वरन् उसने सशस्त्र दखलंदाज़ी का रूप भी लिया। सोवियत संघ आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ देश था; वहाँ उद्योग-धन्धों में काम करने वाले मज़दूर थोड़े थे, खेतों में काम करने वाले किसान ज़्यादा। साम्राज्यवादी देशों ने सोवियत संघ में गृह-युद्ध चलाने और तोड़-फोड़ का काम संगठित करने के लिए अरबों रुपया खर्च किया। विश्व पैमाने पर औद्योगिक उत्पादन में सोवियत संघ शेष पूँजीवादी संसार के मुकाबले में बहुत ही पिछड़ा हुआ था। इन विशेष परिस्थितियों में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी ने स्तालिन के नेतृत्व में साहित्य-रचना पर और व्यक्ति-स्वाधीनता पर बहुत-से प्रतिबन्ध लागू किए। जो लोग इन प्रतिबन्धों की निन्दा करते नहीं थकते, वे विश्व-पूँजीवाद को बेदाग छोड़ देते हैं जिसने सोवियत संघ का गला घोंट देने में कुछ भी उठा नहीं रखा। आखिर पूँजीवाद के फ़ासिस्ट रूप से सोवियत संघ को लोहा लेना ही पड़ा।

इतना सब होने पर भी सोवियत संघ में लेखकों पर जो प्रतिबन्ध लगाये गए, मैं उन्हें न्यायपूर्ण नहीं मानता।

इन प्रतिबन्धों को लागू करने, कायम रखने और उन्हें न्यायपूर्ण ठहराने में विशेष परिस्थितियों के अलावा कुछ सैद्धान्तिक घपलेबाज़ी भी सहायक रही है। इस कारण मार्क्सवादी विचारक समय पर और सही ढंग से उसका विरोध नहीं कर पाये।

भारत में भी समाजवाद आएगा। वह समाजवाद बहुत-सी भ्रान्तियों से बचा रहे, इसलिए यहाँ कुछ सैद्धान्तिक समस्याओं की चर्चा करना असंगत न होगा।

मार्क्सवाद के अनुसार हर राज्यसत्ता वर्ग-विशेष के शासन का साधन है। यह सिद्धान्त सही है। पूँजीवादी समाज में राज्यसत्ता पूँजीपति वर्ग और उसके राजनीतिक प्रतिनिधियों के हाथ में रहती है। किन्तु मार्क्सवादी लेखक यह भी कहते हैं कि राज्य-सत्ता वर्ग-विशेष की 'डिक्टेटरशिप' है। यह बात सही नहीं है। डिक्टेटरशिप एक विशेष प्रकार की शासन-पद्धति है। हर राज्यसत्ता वर्ग-विशेष की डिक्टेटरशिप नहीं होती। हिटलर का शासन इजारेदार पूँजीपतियों की डिक्टेटरशिप था। चर्चिल पूँजी-वादी जनतन्त्र के नेता थे, पूँजीवादी डिक्टेटरशिप के नहीं। पूँजीपति यदि अपने वर्ग के भीतर जनतन्त्र का आचरण करते हैं तो मजदूरों के लिए यह एक हद तक लाभकारी है। जब पूँजीपति अपने वर्ग के अन्दर जनतन्त्र खत्म कर देते हैं और निरंकुश राज्य-सत्ता कायम करते हैं, तो यह मज़दूर वर्ग के लिए हानिकर होता है। इसीलिए हर मार्क्सवादी फ़ासिस्टवाद के मुकाबले में पूँजीवादी जनतन्त्र का समर्थन करता है। इस समर्थन का सैद्धान्तिक आधार यही है कि पूँजीवादी राज्यसत्ता के फ़ासिस्ट और गैर-

फ़ासिस्ट रूपों में बड़ा भेद है और दोनों ही समान रूप से डिक्टेटरशिप नहीं हैं।

जब मार्क्सवादी विचारक फ़ासिस्ट और गैर-फ़ासिस्ट राज्यसत्ता का भेद खतम कर देते हैं, तब वे फ़ासिस्टवाद का मुकाबला करने में असमर्थ होते हैं : समाजवाद कायम करने के समय राज्यसत्ता के बारे में गलत समझ कई गलत रुझान पैदा करती है। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के बाद जो राज्य-सत्ता कायम होगी, उसका संचालन मज़दूर वर्ग के हाथ में होगा। राज्यसत्ता पर श्रमिक जनता का अधिकार होगा। यह सिद्धान्त सही है। राज्यसत्ता मज़दूर वर्ग की 'डिक्टेटरशिप' होगी, यह सिद्धान्त ग़लत है। पहले मज़दूर वर्ग की डिक्टेटरशिप, फिर मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी हिस्से की डिक्टेटरशिप, फिर कम्युनिस्ट पार्टी की डिक्टेटरशिप और अन्त में पार्टी की केन्द्रीय समिति और उसके नेताओं की डिक्टेटरशिप। इस प्रकार अन्ध व्यक्तिपूजा के लिए ज़मीन तैयार होती है।

सोवियत संघ के संविधान में हर नागरिक के अधिकार पूरी तरह सुरक्षित हैं। व्यवहार में शासन की नुक्ताचीनी करने वाले उपन्यास छापे नहीं जाते, छापे जाएँ तो पत्रिका के सम्पादक को अपनी जगह से अलग कर दिया जाता है। साहित्य के क्षेत्र में शासन की यह दखलन्दाजी हर तरह से अनुचित है। उसे मज़दूर वर्ग की डिक्टेटरशिप के नाम पर न्यायपूर्ण नहीं ठहराया जा सकता।

मार्क्सवाद सामाजिक विकास में उत्पादन और वितरण की, आर्थिक उपकरणों की नियामक भूमिका मानता है। आर्थिक व्यवस्था मनुष्य की विचारधारा का नियमन करती है, उसे प्रभावित करती है किन्तु उसे नियत और निश्चित नहीं करती। मार्क्सवाद नियतिवाद नहीं है। विचारधारा की अपनी सापेक्ष स्वाधीनता है। मनुष्य का चिन्तन आर्थिक व्यवस्था का यान्त्रिक प्रतिबिम्ब नहीं है। फिर भी अनेक मार्क्सवादी विचारक संस्कृति और साहित्य को समाज-व्यवस्था का यान्त्रिक प्रतिबिम्ब मान बैठते हैं। इसलिए साहित्य की कसौटी यह हो जाती है कि उसमें पंचवर्षीय योजना कितनी प्रतिबिम्बित हुई है।

मार्क्सवाद के जन्मदाता शेक्सपियर, बाल्ज़ाक, ईस्किलस के प्रशंसक थे। विचारधारा में मतभेद रखते हुए वे उनका साहित्य पढ़ते और सराहते थे। बीसवीं सदी के मार्क्सवादी चिन्तन में साहित्य को विचारधारा तक सीमित रखने का भारी दुराग्रह है। साहित्य में विचारों के अलावा भाव, चित्रमयता, संगीत आदि अनेक अन्य तत्त्व होते हैं। कलाओं को विचारधारा के अन्तर्गत रखना विचारशून्यता का प्रबल प्रमाण है। जहाँ भाषा माध्यम न होगी, वहाँ स्थापत्य, चित्र, संगीत आदि कलाओं में विचार व्यक्त किस तरह होंगे? इसलिए जब पार्टी के नेता साहित्य की आलोचना करते हैं तब वे विचारधारा पर एकतरफा जोर देते हैं और साहित्य की पूर्णता से विमुख हो जाते हैं।

मार्क्सवाद के अनुसार मनुष्य के चिन्तन और व्यवहार में अटूट सम्बन्ध है। सामाजिक जीवन में दखल देकर ही मनुष्य ज्ञान अर्जित करता है। राजनीति के क्षेत्र में यदि कोई मार्क्सवादी नेताओं की आलोचना करे तो वे तुरन्त जवाब देते हैं—तुम जनता से दूर हो, राजनीतिक जीवन का तुम्हें अनुभव नहीं है, इत्यादि; किन्तु साहित्य

के क्षेत्र में वही राजनीतिक कार्यकर्ता अपनी सीमाएँ भूल जाते हैं। साहित्य-रचना का कुछ भी अनुभव न होते हुए वे साहित्य में पार्टी-लाइन तय करते हैं। अगर कोई गधा अपनी दुम से 'ऐब्सट्रैक्ट आर्ट' की रचना करे तो उसे रंग, कूची और चित्रपट का कुछ अनुभव तो होगा ही। सम्भव है, कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के प्रथम सचिव को उतना अनुभव भी न हो।

साहित्य और साहित्यकार की आलोचना करने का अधिकार हर किसी को है। पार्टी के नेता जरूर साहित्य की आलोचना करें। लेकिन आलोचना सरकारी दखलन्दाज़ी का रूप न ले। और साहित्यकारों की आलोचना करने के साथ पार्टी-नेता उसका जवाब और खुद अपनी आलोचना सुनने के लिए भी तैयार रहें।

स्तालिन की मूर्तियाँ ढहा दी गईं, क्रुश्चेव जिस दिन मंच से उतारे गए, उनकी शक्ल नहीं दिखाई देती, किन्तु गोर्की और शोलोखोव, चेखव और फादेयेव, तुर्गनेव और इलिया एरेनबर्ग जहाँ पहले थे, वहीं आज भी हैं, उनका मान-सम्मान बढ़ा ही है, घटा नहीं। इसलिए राजनीतिज्ञों को अपनी हैसियत समझकर बात करनी चाहिए।

समाजवादी व्यवस्था में लेखक की स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध लगना अनिवार्य नहीं है। जो प्रतिबन्ध लगाये गए, वे परिस्थितियों के कारण, अथवा समाजवाद के सम्बन्ध में गलत समझ के कारण। ये प्रतिबन्ध दूर किये जा सकते हैं और बहुत-कुछ दूर किये जा रहे हैं।

किन्तु स्वाधीन भारत में निराला की परिचर्या के लिए सरकार ने क्या किया? जो वेतन चपरासियों और क्लर्कों को मिलता था, वह पेन्शन के रूप में निराला को दिया गया तो क्या उसके लिए हम कृतज्ञ हों? शिवपूजनसहाय क्या बुढ़ापे में प्रूफ़ देखते हुए नहीं मरे? क्या औसत रचनाकार के मन में अमृतलाल नागर की तरह खीझ और असन्तोष नहीं है? क्या वह साहित्यकार—जिसकी बीवी ने प्रकाशन का काम नहीं सँभाला—अपनी रायल्टी के भरोसे सम्मानपूर्वक जीवन बिता सकता है? एक तरफ़ अशिक्षा के कारण पाठकों की सीमित संख्या, दूसरी तरफ़ किताबों की बिक्री का फल प्रकाशक के पेट में, छिलका-भर लेखक के लिए! ऐसे में अमरीकी बीटनिक साहित्यकारों—नशे और नंगी जाँघों के उपासकों—की देखादेखी कुछ भारतीय कलाकार भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की गुहार मचाकर समाजोन्मुख, यथार्थवादी, लोकप्रिय साहित्य का विरोध करने लगे हैं। इनकी 'स्वतन्त्रता' लेखक और व्यक्ति की वास्तविक स्वाधीनता का उपहास है। आपने चलती रेलगाड़ी की खिड़की से किसी गाँव-शहर के पास कुछ नटखट लड़कों को अंग-प्रदर्शन करते देखा होगा। बीटनिक सम्प्रदाय की स्वाधीनता इस बचकाने अंग-प्रदर्शन से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।

भारत में लेखक की स्वाधीनता के लिए सचमुच भय है। यह भय पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पन्न होने वाला, लेखक के लिए प्रकाशन की और जीवनयापन की असुविधा वाला साधारण भय नहीं है। यह भय फासिस्टवाद के अभ्युदय और लेखक की विचार-स्वाधीनता पर अंकुश लगने का भय है। इसका एक कारण भारतीय पूँजी-

वाद का नित्य बढ़ता हुआ संकट है। अन्न से लेकर अस्त्र-शस्त्र तक देश की परमुखा-पेक्षिता बढ़ती जाती है। पूँजीवाद के प्रतिनिधि नेता दिन-पर-दिन जनतन्त्र पर प्रति-बन्ध लगा रहे हैं। कचहरी-कानून की धता बताकर सैकड़ों राजनीतिक कार्यकर्ताओं को उन्होंने जेल में डाल दिया है। प्रतिक्रियावादी दल खुलेआम माँग करते हैं कि कम्युनिस्ट पार्टी पर पाबन्दी लगाई जाए। झूठा प्रचार धुआँधार किया जा रहा है। शासक पार्टी भीतर से टूट रही है। वामपक्षी दल भी अन्दर से टूटकर आपस में टकरा रहे हैं। यह स्थिति फ़ासिस्ट सत्ता के अभ्युदय के लिए अनुकूल है। भारत में फ़ासिस्ट-वाद का मतलब है अमरीकी हस्तक्षेप, देश को कम्युनिज़्म से बचाने के नाम पर हथियारबन्द दखलन्दाज़ी जैसे दक्षिण वियतनाम में। देश में राजनीतिक अस्थिरता आने से साहित्य के विकास को धक्का लगेगा। लेखक की वर्तमान विचार-स्वाधीनता भी खतम हो जाएगी। धन-जन की जो अपार क्षति होगी, वह अलग।

लेखक और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की समस्या को कल्पनालोक में नहीं और सोवियत संघ में नहीं, हमें इसी देश में हल करना होगा। मेरा निष्कर्ष यह है कि वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में जनता का विशाल भाग साहित्य के क्षेत्र से बहिष्कृत है। यह भाग साहित्य की प्रगति में भाग ले सकता है, समाजवादी व्यवस्था में ही। सोवियत संघ में लेखकों की स्वाधीनता पर जो प्रतिबन्ध लगाये गए, वे भारत में न तो सैद्धान्तिक रूप से आवश्यक हैं, न परिस्थितियों के कारण। समाजवाद में शोषकों को छोड़कर समग्र जनता को भाषण-संगठन आदि की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। आज की परिस्थितियों में पूँजीवादी जनतन्त्र टूट रहा है, वामपक्षी दल असंगठित हैं, इसलिए साम्राज्यवादी दखलन्दाज़ी और फ़ासिस्ट तानाशाही के अभ्युदय का खतरा है। लेखकों को उसके प्रति सावधान रहना चाहिए और अवसर रहते प्रतिक्रियावादी रुझानों का विरोध करना चाहिए। भारत में अमरीकी साम्राज्यवाद के कुछ दलाल भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को लेकर बड़ा शोर-गुल करते हैं। उनकी कार्यवाही के प्रति भी सतर्क रहना चाहिए।

अमृतराय

परम्परा और प्रयोग

परम्परा और प्रयोग के सम्बन्ध को ठीक से समझने के लिए उन्हें इतिहास के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखना जरूरी है।

इस परिप्रेक्ष्य की दो आधारभूत पीठिकाएँ हैं—अखण्ड मनुष्य और अखण्ड काल।

सबसे पहले यहीं पर अवरोध उपस्थित होता है। मनुष्य अखण्ड कहाँ है? काल को अखण्ड कैसे मानें? हमारा प्रत्यक्ष अनुभव तो उलटी ही बात कहता है। मनुष्य जाति असंख्य जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों और भौगोलिक सांस्कृतिक इकाइयों में खण्ड-खण्ड विभाजित है। वैसे ही काल के भी शत-सहस्र खण्ड हैं। उसी खण्ड-काल में हम जीते हैं, उसी को हम जानते हैं।

बात सर्वथा निस्सार नहीं है। उसके पीछे हमारे साक्ष्य का बल है। ऐसे भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिक भी हुए हैं जिन्होंने इस खण्ड-काल और उससे अर्जित किये जा सकनेवाले आनन्द में ही जीवन की सार्थकता देखी है। एक सीमा तक उसमें सत्य का अंश भी है, लेकिन एक सीमा तक ही। हम क्यों न अपने अनुभव की कसौटी पर ही उसको परखकर देखें। क्या यह कहना ठीक है कि हम केवल अपने वर्तमान में ही जीते हैं, अतीत में नहीं जीते? भविष्य में नहीं जीते? क्या हमारे इतिहास (और नहीं तो कम-से-कम अपनी वंश-परम्परा का बोध) पुराण, काव्य, कला, धर्म-शास्त्र आदि का हमारे निकट कोई अस्तित्व या प्रयोजन नहीं है? उसी तरह क्या यह कहना ठीक है कि हम कभी अपने आगे की बात नहीं सोचते? अपने भविष्य की? अपनी सन्तति के भविष्य की? अपने देश और समाज के भविष्य की? तब फिर यह कैसे माना जाय कि हम केवल वर्तमान में जीते हैं? सच तो यह है कि हम जानें, या न जानें निसर्गतः हम त्रिकाल में जीते हैं और कदाचित् अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य नामक प्राणी का यही सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है, उसके मानस-व्यापार—जिसमें चिन्तन-मनन, आविष्कार-उद्भावना, स्वप्न-कल्पना सभी है—जैसी कोई चीज आहार-निद्रा-भय-मैथुन की सीमा में आबद्ध पशु-जगत् के दूसरे किसी भी प्राणी के पास नहीं है।

निम्न स्तर के पशु-जगत् से मनुष्य नाम के प्राणी का यह जो भेद या वैशिष्ट्य है, उसकी मानसिकता, चिन्तन और उद्भावना और कल्पना और तदनुकूल कर्म के

स्तर पर उसका निसर्गतः त्रिकाल में जीना, कदाचित् इसी में उसकी परम्परा के सृजन का बीज है।

'परम्परा के सृजन' की बात मैं जान-बूझकर कह रहा हूँ, क्योंकि मैं कहना चाहता हूँ कि परम्परा बनती नहीं बनाई जाती है। वह न तो जंगली वनस्पतियों की तरह आप-से-आप उगती है और न रूढ़ियों के समान उसकी स्थिति 'रसरी आवत जात के सिल पर परत निसान' की है। रूढ़ियों और परम्परा का सम्भवतः यही मौलिक प्रभेद है। रूढ़ियाँ आप-से-आप बन जाया करती हैं, जैसे हाथ में घट्टे पड़ जाते हैं। परम्परा का निर्माण मनुष्य के गतिशील, आत्म-सजग, मनन-चिन्तन, उद्भावना और कर्म से होता है।

निरन्तर बदलता हुआ जीवन है। नयी-नयी उसकी माँगें हैं, माँगें जो भौतिक भी हैं और आत्मिक भी। मनुष्य का गतिशील, आत्म-सजग, सक्रिय मनन-चिन्तन और उद्भावना ही उनका उत्तर दे सकती है। भौतिक माँगों का उत्तर भौतिक सुख-साधनों के आविष्कार के रूप में मिलता है। आत्मिक माँगों की अभिव्यक्ति, प्रकार-भेद से, काव्य, कला, गणित और विज्ञान के रूप में होती है। 'काव्य' शब्द का प्रयोग मैं उसके मौलिक और वृहत्तर अर्थ में ही कर रहा हूँ, जिसके अन्तर्गत साहित्यिक अभिव्यक्ति की सभी विधाएँ आ जाती हैं। गणित और विज्ञान की बात भी मैंने समझ-बूझकर कही है। कला और विज्ञान के बीच जो स्थूल अन्तर हमको दिखाई पड़ता है वह नीचे के स्तर पर ही। ऊपर जाकर दोनों के चिन्तन और उद्भावना में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं रह जाता, वहाँ पर जहाँ विज्ञान की तर्कबुद्धि थककर बैठ जाती है और फिर कल्पना की उड़ान से ही सत्य के पास पहुँचा जा सकता है। आइंस्टाइन ने जब यह कहा कि सूर्य से पृथ्वी तक की यात्रा में सूर्य की किरणों में हलकी-सी एक वक्रता आ जाती है, उस समय विज्ञान के इस सत्य के परीक्षण के लिए कोई यन्त्र उपलब्ध नहीं था और आइंस्टाइन ने अपनी कल्पना से ही यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। काव्य की कल्पना और विज्ञान की कल्पना में हलका-सा एक प्रकार-भेद ही देखा जा सकता है, पहली का उद्भव मनुष्य की रागवृत्ति से और दूसरी का तर्कवृत्ति से होता है, पर दोनों ही कल्पनाएँ होती हैं और उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं होता, यहाँ तक कि एक ही व्यक्ति में मन की इन दोनों ही वृत्तियों को अपनी चरम अभिव्यक्ति पाते भी देखा गया है। यूरोपीय पुनर्जागरण काल में, जब उस सभ्यता का सर्वांगीण अभ्युत्थान हो रहा था और कला और विज्ञान के बीच कोई लक्ष्मण-रेखा नहीं खींची गई थी, उस युग के सबसे बड़े इतिहास-पुरुष लियोनार्दो दा विंची में, जिससे बड़ी और बहुमुखी प्रतिभा उस युग में शायद दूसरी नहीं है, कला और विज्ञान दोनों ही अपनी चरम अभिव्यक्ति पाते देखे जा सकते हैं। विंची एक ओर जहाँ 'मोना लीसा' और 'लास्ट सपर' का चित्रकार है, वहाँ दूसरी ओर मनुष्य के शरीर-शास्त्र पर उसके शोध-प्रबन्ध आधुनिक विज्ञान की एक स्थायी सम्पत्ति। उसकी गिनती एक ओर जहाँ उस युग के सबसे महान् गणितज्ञों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और इंजीनियरों में होती है, और जिसके आविष्कार आज भी लोगों को आश्चर्य में

डाल देते हैं, वहाँ दूसरी ओर चित्रकार और स्थपति के रूप में भी वह माइकेल एंजेलो और राफ़ेल के साथ अपने युग के सर्वोच्च शिखर पर बैठा हुआ है। विंची निस्संदेह एक बिरला उदाहरण है, पर और भी उदाहरण मिलते हैं, उससे घटकर, जिनसे सूचना मिलती है कि मन की ये दोनों, राग और तर्क की वृत्तियाँ परस्पर-विरोधी नहीं हैं शायद पूरक हैं और एक स्तर पर पहुँचकर दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं रह जाता। 'ऐलिस इन वंडरलैण्ड' के लेखक लुइस कैरोल को कौन नहीं जानता, लेकिन कम ही लोग इस बात को जानते हैं कि वह एक बड़ा गणितज्ञ भी था। चार्ल्स लटिज डाजसन के नाम से वह आक्सफ़र्ड विश्वविद्यालय में गणित पढ़ाता था और अपने इसी नाम से उसने गणित के कई मोटे-मोटे ग्रन्थ भी लिखे हैं। उसी तरह ग्रिम की परी कहानियाँ भी सबने पढ़ी होंगी, लेकिन इस बात पर कम ही लोगों का ध्यान गया होगा कि वह एक बड़ा भाषा-वैज्ञानिक था। इस सन्दर्भ में शायद यह कहना बहुत भ्रमपूर्ण न हो कि गणित में शून्य की उद्भावना न केवल ब्रह्म की उद्भावना से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि सम्भवत: दोनों के पीछे एक ही या एक-जैसी ही दिव्य-कल्पना काम कर रही है। उसी तरह सेब को पेड़ से ज़मीन पर गिरते देखकर उससे एक न्यूटन के द्वारा पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की उपलब्धि कल्पना की कुछ वैसी ही उड़ान है। और वही दिव्य कल्पना वह भी है, जिससे भारतीय ऋषियों ने जहाँ एक ओर उषस् और अग्नि और पृथ्वी और आकाश के अन्य सब देवी-देवताओं की सृष्टि की है और अपनी सहज चमत्कारी भाषा में अपने सूक्तों में उनका अभिनन्दन आवाहन किया है, वहाँ दूसरी ओर उन अपेक्षया साधनहीन स्थितियों में बहुत-कुछ अपने गणित के चमत्कार से अखिल ब्रह्माण्ड के समस्त ग्रहों-उपग्रहों का ऐसा मानचित्र उपस्थित कर दिया है, जो अकाट्य है और कुछ आश्चर्य नहीं कि यहाँ-वहाँ ऐसा भी हुआ हो कि जो कवि है वही ज्योतिष का आचार्य भी है अर्थात् वैज्ञानिक भी है।

अत: अब फिर हम अपनी मूल स्थापना पर लौटते हैं कि मनुष्य की आत्मिक माँगों की अभिव्यक्ति, प्रकार-भेद से, काव्य, कला, गणित और विज्ञान के रूप में होती है। उसकी पीठिका में मनुष्य का गतिशील, आत्म-सजग सक्रिय मनन-चिन्तन रहता है, उसकी उद्भावना और कल्पना रहती है।

गति या प्रवाह परम्परा का आवश्यक गुण है। जहाँ गति नहीं है, प्रवाह नहीं है, वहीं सड़न है। उसी को रूढ़ि कहते हैं।

यह गतिशील जीवन-दृष्टि अतीत, वर्तमान और भविष्य, तीनों के लिए समान रूप से आवश्यक है। यही सार्थक रूप से त्रिकाल में जीना है।

अपनी गतिशील जीवन-दृष्टि की कसौटी पर कसकर, उसके मुर्दा तत्त्वों को छोड़ते हुए उसके जीवन-तत्त्वों को ग्रहण करना, सार्थक रूप में अतीत को ग्रहण करना है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ हम अतीत को ग्रहण नहीं करते, अतीत अपनी रूढ़ियों के नागपाश में हमको जकड़ लेता है।

उसी तरह कर्म-संवलित, गतिशील जीवन-दृष्टि से भविष्य की ओर अग्रसर होना सार्थक रूप से उस भविष्य को जीना, उस भविष्य में जीना कहा जा सकता है।

इस तरह, अपनी शक्ति की सीमाओं में, हम भविष्य को गढ़ सकते हैं। जहाँ ऐसा नहीं है, अर्थात् जहाँ हम अपने रूढ़ चिन्तन, जड़-निष्क्रिय चिन्तन के बन्दी हैं वहाँ हम भविष्य को नहीं जीते, भविष्य हमको मारता है; हम भविष्य को नहीं गढ़ते, भविष्य हमको तोड़ देता है। और इस तरह जो भविष्य हमारे हाथों में कुम्हार की गीली मिट्टी जैसा हो सकता था, हमारे लिए एक अन्धी नियति बन जाता है जिससे कहीं त्राण नहीं है।

इस प्रकार, उपरोक्त विवेचन में अब तक हमने संक्षेपतः ये स्थापनाएँ कीं—

मनुष्य अखण्ड है। काल अखण्ड है। यह कहना कि मनुष्य केवल वर्तमान या प्रस्तुत क्षण में जीता है, एक अर्द्ध-सत्य है। वस्तुतः मनुष्य त्रिकाल में जीता है—जहाँ सदेह नहीं जीता वहाँ चिन्तन और कल्पना से जीता है। मानसिक स्तर का यह जीवन मनुष्य नामक प्राणी का सहज स्वभाव और निम्न स्तर के पशुओं से उसका वैशिष्ट्य है। त्रिकाल का यह जीना मानसिक गतिशीलता के आधार पर भी हो सकता है और मानसिक जड़ता के आधार पर भी। पहले से मनुष्य की विवेकी परम्परा का सूत्रपात होता है, दूसरे से अन्धी रूढ़ियों का। मनुष्य की भौतिक और आत्मिक माँगों ने ही उसके चिन्तन और उसकी उद्‌भावना को दिशा दी है। भौतिक माँगों की पूर्ति के लिए उसने भौतिक सुख-सुविधा के उपकरणों का आविष्कार किया। आत्मिक माँगों के समाधान के लिए वह दर्शन, गणित, काव्य, कला आदि की ओर प्रवृत्त हुआ। इन आत्मिक माँगों को हम चाहें तो अपनी सुविधा के लिए मानव-मन की तर्क और राग-वृत्तियों के अनुसार दो भागों में बाँट सकते हैं। तर्कवृत्ति की प्रेरणा से वह दर्शन, गणित, भौतिकी आदि की ओर गया। रागवृत्ति काव्य और संगीत, नृत्य आदि ललित कलाओं में अभिव्यक्त हुई।

युग-युगान्तर से यही प्रक्रिया चल रही है। मनुष्य के आत्मबोध से, युग-बोध से, सौन्दर्य-बोध से उसकी सृष्टि हुई थी और उसी का पाथेय लेकर वह बराबर बढ़ती रही है। दूसरे शब्दों में जिज्ञासा, विवेक और आत्म-अभिव्यक्ति, यही उसकी प्रधान अनुप्रेरक शक्तियाँ रही हैं। मनुष्य जाति की इसी सांस्कृतिक यात्रा को, संस्कृति की इसी सजीव श्रृंखला को हम मानव जाति की सांस्कृतिक परम्परा के नाम से पुकारते हैं। कहना न होगा कि जीवन के बदलते हुए परिवेश में, ज्ञान-विज्ञान की, काव्य और कला की नई-नई उपलब्धियों के सन्दर्भ में, मनुष्य की यह सांस्कृतिक यात्रा एक सीधी अटूट-अविकल रेखा के समान न तो हो सकती थी और न हुई। पड़ाव तो उसमें साफ़-साफ़ देखे ही जा सकते हैं, उतार-चढ़ाव भी कम नहीं हैं। बहुत बार वह भटक-कर गलत, अँधेरे, आत्म-हन्ता रास्तों में भी जा पड़ी है। लेकिन मनुष्य ने कभी हार नहीं मानी है और संघर्ष कर-करके फिर उसी मार्ग पर आ गया है, जो उसके जीवन और उसके उत्कर्ष का मार्ग है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की यात्रा, जिसमें झाड़-झंखाड़ की सफ़ाई करके खुद ही अपना रास्ता बनाना हो, प्रयोग के बिना हो ही नहीं सकती। परम्परा को प्रयोग से अलग करके देखा ही नहीं जा सकता। परम्परा का इतिहास उसी अर्थ में और बिलकुल उसी सीमा तक प्रयोगों का भी इतिहास होता है। देखने

की बात उसमें इतनी ही है कि सब प्रयोग सफल नहीं होते, अर्थात् जीवन की कसौटी पर खरे नहीं उतरते, या केवल अंशतः खरे उतरते हैं, या एक समय खरे उतरने पर भी दूसरे समय, किसी पीठिका में, पूरी तरह या किसी अंश में खोटे साबित हो सकते हैं। सभी कुछ सम्भव है और संस्कृति के इतिहास में सभी कुछ हुआ है और जब जैसी स्थिति रही है उसके अनुसार इतिहास विधाता ने, जो मानव जाति के सार्वभौम विवेक या मनीषा का ही दूसरा नाम है, जो नितान्त तिरस्करणीय है, उसका तिरस्कार कर दिया है और जो जितना जिस सीमा तक संग्रहणीय है उतना और उस सीमा तक संग्रह करके बड़े आदर से अपने कोष में मिला लिया है। विज्ञान और कला, दोनों ही के प्रयोगों के सम्बन्ध में यह बात मोटे रूप में ठीक है। पर दोनों में एक तात्त्विक अन्तर है जिसे समझ लेना हमें अपनी अगली बात के समझने में सहायक होगा। विज्ञान की प्रकृति विश्लेषणात्मक होती है, काव्य-कला की प्रकृति संश्लेषणात्मक। विज्ञान का सत्य तर्क का सत्य होता है, काव्य-कला का सत्य राग का सत्य। इसीलिए विज्ञान का एक सफल प्रयोग अपने पूर्ववर्ती प्रयोग को काटता है। इसी नाते आइंस्टीन की भौतिकी जिस अर्थ में न्यूटन की भौतिकी को अमान्य करके उसका स्थान ग्रहण कर लेती है उस अर्थ में न्यूटन का स्थान अन्वेषण के इतिहास में ही सिमटकर रह जाता है। काव्य-कला की स्थिति भिन्न ही नहीं इसके विपरीत है। यहाँ एक-दूसरे को काटता नहीं, उसमें नया कुछ जोड़ता है। यहाँ एक से दूसरा अमान्य नहीं ठहरता, दोनों अधिक सम्पन्न होते हैं। इसीलिए यहाँ शेक्सपियर से कालिदास या टालसटाय से होमर और वाल्मीकि झूठे नहीं पड़ते, सब मिलकर राग-सत्य में नये कुछ आयाम जोड़ते हैं और इस प्रकार उसकी एक सुन्दरतर, सत्यतर, पूर्णतर अवतारणा की ओर बढ़ते हैं। इसीलिए तो जो श्रेष्ठ साहित्य है, कला है, जिसमें प्राणों का स्पन्दन है, मर्म को छूने वाला राग-तत्त्व है, वह कम ही बासी या पुराना पड़ता है। हाँ, चिन्तन-तत्त्व बासी भी पड़ता है और पुराना भी, जिस हेतु युग उसको अपनी कसौटी पर कसकर, पहले से चली आती हुई परम्परा में समेटकर या छोड़कर आगे बढ़ जाता है।

: २ :

परम्परा लीक नहीं है। लीक तो रूढ़ि है। जहाँ मनीषा लीक छोड़कर साहस-पूर्वक प्रयोग करती है वहीं परम्परा का सूत्रपात होता है। कवि ने सम्भवतः इसी अर्थ में 'सायर सिंह सपूत' के लीक छोड़कर चलने की बात कही है। जिसे हम आज परम्परा कहकर जानते हैं वह इन्हीं साहसपूर्ण प्रयोगों की परम्परा है। अपनी विराट् जिज्ञासा से प्रेरित होकर आदमी ने जब पहली बार जीवन और मृत्यु, आत्मा और परमात्मा, स्वर्ग और नरक के प्रश्न उठाये थे तो वह कोई साधारण साहस का प्रयोग नहीं था। उससे भी पहले के अन्धकार युग में जब उसने अग्नि का आविष्कार किया था तब वह भी ऐसा ही साहसपूर्ण प्रयोग था। या जब छोटे-छोटे कबीलों में रहते हुए, हर दम आपस में जूझते हुए, मारकाट करते हुए, उसने सारी वसुधा को एक कुटुम्ब होने की बात कही थी तो वह भी एक असाधारण साहसपूर्ण कल्पना थी। या जब आगे चलकर उसने भाषा और लिपि का आविष्कार किया तो वह भी कोई

सामान्य साहस का प्रयोग नहीं था। जाने कैसे-कैसे मेधावियों के कितने दीर्घ प्रयोग के फलस्वरूप मनुष्य जाति को यह भाषा और लिपि मिली है जो आज एक बच्चे को भी इतनी साधारण वस्तु मालूम होती है। परम्परा का यही असल गुण है कि वह हमारी धमनियों में रक्त की तरह प्रवाहित रहती है और हमें उसकी चेतना नहीं होती। उसी प्रकार हम अपनी जिस बौद्धिकता को, भावकोष को, युगबोध को, सौन्दर्य-बोध को, और जिन संवेदनाओं और नैतिक मूल्यों को अपना सहज मानवीय गुण या स्वभाव समझते हैं, उनमें निसर्ग का अंश कितना उन्हीं मानवतावादी ऋषियों, साधकों, मनीषियों, कथाकारों, कवियों का प्रसाद है, यह जरा थमकर सोचने की बात है। और तब शायद हमको इस बात का बोध हो कि बहुत बड़े अंश में यह उन्हीं का कृतित्व है जिसने हमारे चिन्तन को नई-नई दिशाएँ और आयाम दिये हैं, हमारे भाव-कोष को तिल-तिल करके सँजोया है, हमारे युगबोध को जगाया है, हमारे सौन्दर्यबोध को प्रस्फुटित किया है, हमारी संवेदनाओं को परिष्कृत किया है, और हमारे नैतिक मूल्यों को इस तरह हमारे भीतर तैरा दिया है कि हम उन्हीं के साथ जीते और मरते हैं। उदाहरण के लिए, अपने भाई के प्रति हमारे स्नेह के पीछे हमारे अनजाने ही कहीं पर राम-लखन की जोड़ी बैठी रहती है और जब हम किन्हीं स्थितियों में (जैसे आज जब समाज का आर्थिक ढाँचा बड़ी तेजी से बदल रहा है और उसके अनुसार नैतिक मूल्यों में भी व्यापक उलट-फेर हो रहा है) तद्वत् आचरण नहीं भी कर पाते तब भी मन के किसी कोने में, कहीं हमारे अर्द्ध-चेतन में, उनकी छाया बैठी रहती है। उसी तरह कौन जाने अपने बच्चे के प्रति हमारे प्रेम के पीछे कहीं वह कन्हैया बैठा रहता है, जिसे सूर ने हर घर का बच्चा बना दिया है। उसी तरह शायद हमारे खून में हीर-राँझा, शीरीं-फ़रहाद, लैला-मजनूँ और रोमियो-जूलियट की कहानियाँ न तैरती होतीं तो हम इस गहराई और तीव्रता से अपनी प्रेमिका (या प्रेमी) को प्यार न कर सकते। साहित्य न भी होता तो भी शायद हम नदी, पहाड़, जंगल, धूप, वर्षा, आकाश, लता, फूल को देखककर आनन्द पाते, पर शायद यह कहना गलत न होगा कि साहित्य की परम्परा ने हमारी उस आनन्द की अनुभूति को एक नया अर्थ दिया है, गहराई दी है और कितने ही अपूर्व, अकल्पनीय चमत्कारिक रूपों में, सन्दर्भों में, उस रहस्यलोक के अपरूप सौन्दर्य को हमारे लिए खोल दिया गया है।

सजीव परम्परा वही है जो अनजाने ही हमारे मानस-लोक का वायु-मण्डल बन जाती है। साहित्य का वास्तविक कर्मक्षेत्र यही है, और यहीं पर वह हमारी चेतना को मुखरित और संवेदनाओं को परिष्कृत और समृद्ध करता है।

: ३ :

युगधर्मी प्रयोगों से ही परम्परा का सूत्रपात हुआ था और उन्हीं के सहारे उनमें नित नई कड़ियाँ जुड़ती रही हैं—और उन सबको लिए-दिए, समय की धारा में छनती-निथरती परम्परा हम तक आती है, इसीलिए कि हम भी अपने युगधर्मी प्रयोगों से उसमें नया कुछ जोड़ सकें। प्रयोगों की युगधर्मिता पर जितना बल दिया जाए कम है, क्योंकि इसीमें उनकी सार्थकता होती है।

इस प्रकार, प्रयोगकर्ता को दो अत्यन्त गम्भीर प्रश्नों का सामना करना पड़ता है—एक, रूढ़ि को परम्परा से कैसे अलग किया जाए और दो, युगधर्म को हम कैसे पहचानें ?

परम्परा कभी किसी को एकदम साफ़-सुथरी, सजी-सँवरी नहीं मिलती। रूढ़ियाँ भी उसके साथ अनिवार्य रूप से लिपटी रहती हैं। स्वस्थ और अस्वस्थ तत्त्व एक में एक गुँथे रहते हैं। ऐसी स्थिति में एक को दूसरे से अलग करके जो श्रेयस्कर है, वरेण्य है, उसको अपनाने और दूसरे को छोड़ने का दायित्व प्रयोगकर्ता का अपना दायित्व है। उदाहरण के लिए, आदिकाल के ऋषियों ने एक ऐसे संसार की कल्पना की है जिसमें ऊँच-नीच नहीं है, सब एक ही भगवान् की सन्तानें हैं और सब बराबर हैं। राजा और प्रजा का भी भेद नहीं है क्योंकि जो राजा है वह भी इसीलिए राजा है कि वह लोकरंजन करता है। उसी प्रकार समस्त सृष्टि में एक ही ब्रह्म के निवास की कल्पना है, कायिक-वाचिक-मानसिक अहिंसा की कल्पना है, वसुधा के एक कुटुम्ब होने की कल्पना है, मनुष्य का हृदय देवमंदिर है, ऐसी कल्पना है। दूसरी ओर वर्ण-विभक्त समाज का शास्त्रीय विधान है जिसके अन्तर्गत ब्राह्मण मूर्ख भी हो तो पूजनीय है और शूद्र विनय की, सदाचार की अपरिग्रह की, सत्य की मूर्ति हो तो भी अस्पृश्य; अन्धा जातिवाद है जो सबको अपने से हीन और अपने को सबसे श्रेष्ठ मानता है; क्रूर-से-क्रूर हिंसा और धार्मिक विग्रह और जातीय विग्रह और रक्तपात्र का इतिहास है; धर्माचार के आवरण में निर्लज्ज पापाचार है जो कहीं तांत्रिक साधना के वामाचार के रूप में दिखाई पड़ता है और कहीं मंदिरों में, मठों में यों ही प्रतिष्ठित है, सब-कुछ तो है। फिर, इन बद्धमूल रूढ़ियों को मानवतावाद की उदात्त परंपरा से कैसे अलग करके देखा जाय ? या, वही बात दूसरे शब्दों में, कल्पना और जीवन-यथार्थ के बीच की खाई को कैसे पाटा जाय ? सत्यान्वेषी इनमें से किसको सत्य माने ? हर युग को ऐसे ही गडमड रूप में परम्परा मिलती है : हमको भी उसी रूप में मिली है।

दूसरा प्रश्न युगधर्म को पहचानने का है। उसमें भी बिलकुल ऐसी ही गडमड स्थिति है। और हर युग में रही है। यह कुछ हमारे युग की ही विशेषता नहीं है। एक साथ ही जीवन और मृत्यु की, आलोक और अंधकार की शक्तियाँ काम करती रहती हैं।

ऐसी स्थिति में दो ही बातें सम्भव हैं। एक तो यह कि आदमी आज भी अपने उस विवेक पर अचल रहे जिसका सम्बल लेकर कदाचित् आज से अधिक विषम स्थितियों में उसने पहली बार उस अन्धकार-युग में अपनी ये उदात्त कल्पनाएँ की थीं और मन की वैसी ही शक्ति और साहस से काम लेते हुए अपनी गतिशील और व्यापक जीवन-दृष्टि से आज के देवासुर-संग्राम में भविष्य को आकार लेते देख सके, उसकी रेखाओं को पढ़ सके और उसी सन्दर्भ में यह भी संकेत दे सके कि मानवतावाद की जो परम्परा उस तक आई है उसमें और कौनसे नये तत्त्वों का समावेश हो जिससे वह और भी अधिक सप्राण, तेजस्वी और जीवन-विधायक बन सके। दूसरा मार्ग अधिक सुगम है—सम्पूर्ण इन्कार जीवन और प्रकाश की शक्तियों से। सब झूठ है। मनुष्य

का यह आसुरी, वीभत्स, पाशव, पाप-पंकिल कर्दमयुक्त रूप ही उसका अकेला सच्चा रूप है। मानवतावाद एक कोरी अतिभावुकता है, और कुछ नहीं, मात्र एक फेनिल उच्छ्वास। जभी तो मानवतावादी सैकड़ों-हज़ारों साल से अपना राग अलापते चले आ रहे हैं और कहीं नहीं पहुँचे। आदमी आज भी वही गुफा-मानव है जो उस आदिम काल में था। इस उक्ति में कितना सत्य विचार है और कितना अविचार, इसकी ओर ध्यान दिये बिना किसी को यह बात बहुत आधुनिक-सी सुनाई पड़ सकती है, विशेषकर आज जब किन्हीं शक्तिसम्पन्न वैचारिक क्षेत्रों में मानवतावादी जीवनदर्शन को नीचे गिराने के लिए या उसकी प्रतिक्रिया के रूप में अस्तित्ववाद की दुन्दुभी बज रही है या बजायी जा रही है, लेकिन वस्तुतः यह बात भी उतनी ही एकांगी है जितना मनुष्य को सर्वथा निष्पाप समझना। उसका सच्चा रूप तो द्वंद्वात्मक है, जहाँ पाप भी है, पुण्य भी है और उन दोनों का परस्पर संघर्ष भी है। इस संघर्ष में—जिसमें बाह्य परिवेश का बड़ा विधायक महत्त्व होता है—कभी उसका एक और कभी दूसरा रूप अधिक बलशाली होता दिखाई पड़ता है।

इसका एक स्थूल-सा दृष्टान्त पानी के उस गिलास से दिया जा सकता है जो आधा भरा हुआ रखा है। दो आदमी आते हैं, उसको देखते हैं। एक कहता है, गिलास आधा भरा है। दूसरा कहता है, गिलास आधा खाली है। सब देखनेवाले की नज़र की बात है।

: ४ :

अब तक हमने परम्परा और प्रयोग के सामान्य सम्बन्ध को समझने का यत्न किया। ऐसा करना आवश्यक भी था क्योंकि साहित्य-रचना की प्रक्रिया वास्तविक लेखन से, अनुभूति को कागज पर उतारने से, बहुत पहले शुरू हो जाती है, वहीं जहाँ कोई विचार या भाव या अनुभूति पहली बार बीज रूप में उसके मन में आती है और उसका मन एक विशेष सन्दर्भ में एक विशेष प्रकार से ढलने लगता है। इस दृष्टि से रचनाकार की मनोरचना का आत्यन्तिक महत्त्व है क्योंकि उस मन की ही धरती में उस बीज को अंकुरित और पल्लवित होकर सृष्टि का रूप लेना है। इसी विचार से हमने इस प्रश्न की अभिव्यक्ति-पूर्व की पीठिका को थोड़े विस्तार से उपस्थित करना आवश्यक समझा।

अभिव्यक्ति के स्तर पर आते ही समस्या में एक और आयाम आकर जुड़ जाता है। भाव को तद्वत् भाषा और छन्द (जो समान रूप से गद्य और पद्य का गुण है) में ढाल सकना ही रचनाकार का संघर्ष और उसकी सिद्धि है, उसकी पीड़ा और उसका सुख है। चिन्तन के साहित्य का काम बहुत दूर तक पहले से चले आते हुए दूसरों के सिक्कों की हेराफेरी से भी चल जाता है, राग के साहित्य को बिलकुल अपने निजी सिक्के लगते हैं। क्योंकि यह निजता ही उसका वैशिष्ट्य है, उसका प्राण, उसका सर्वस्व। उसी चाँद को, सूरज को, आकाश को, भिखमंगे को, फूल को, औरत को, पत्थर को सब देखते हैं मगर सब उनको अलग-अलग रूपों में देखते हैं। जहाँ सब सबकी तरह देखते हैं, वहाँ साहित्य नहीं है, जहाँ एक अपनी तरह, बिलकुल अपनी

तरह, देखता है, वहीं साहित्य है। यह आत्म-अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति की यह आत्मीयता, सर्जनात्मक साहित्य मात्र का गुण है। यही उसका पहला और अन्तिम सत्य है। यहाँ तक कि जो साहित्य पूर्णतः समाज को समर्पित, और युग को अभिव्यक्ति देना ही अपना धर्म मानता है वह भी उसी सीमा तक और उसी अर्थ में युग को सार्थक अभिव्यक्ति दे पाता है जिस सीमा तक और जिस अर्थ में वह रचनाकार की आत्म-अभिव्यक्ति है। और जिस अर्थ में और जितने सच्चे अर्थ में रचनाकार की यह आत्म-अभिव्यक्ति उसकी अपनी है, वह प्रयोग करने के लिए, हर बार हर नयी रचना के समय प्रयोग करने के लिए बाध्य है क्योंकि भाववस्तु के शिल्प में ढलने की रचना-प्रक्रिया ही प्रयोग की है। सार्थक प्रयोग वही है, वर्ना तो प्रयोग करने के लिए भी प्रयोग किया जाता है, केवल अपनी कला-चातुरी दिखाने और लोगों को चौंकाने के लिए भी प्रयोग किया जाता है। वह घटिया प्रयोग है बल्कि उसको बहुत बार प्रयोग कहना भी नहीं चाहिए क्योंकि वह प्रयोग नहीं इसका-उसका अनुकरण या अनुधावन होता है।

जो सच्चा प्रयोग होता है उसको अपने समर्थन के लिए पोथे नहीं लिखने पड़ते क्योंकि वह रचना के ब्रह्म की तरह, स्वर के नाद की तरह उसी में स्वयं प्रकाशित रहता है। रचना से अलग करके उसको देखा भी नहीं जा सकता, जैसे किसी अंग की स्फूर्ति को उस अंग से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

भाव को तद्वत् भाषा में ढालने की दुर्द्धर्ष प्रक्रिया में प्रयोग की अनिवार्यता की बात अभी ऊपर कही गई है। थोड़ा और गहरे उतरने पर रचनाकार की इस प्रयोगधर्मिता का और भी रहस्य खुलता है। जिस भाव को उसे भाषा में ढालना है उसका स्वरूप भी रचनाकार के आगे स्पष्ट नहीं होता। उसकी एक धुँधली-सी प्रतीति मात्र रहती है जो रचना की क्रिया में ही रचनाकार के आगे धीरे-धीरे खुलती और आकार ग्रहण करती है, जैसे भोर का धुंधलका छँटता है और धीरे-धीरे सब-कुछ आलोकित हो उठता है, मकान, पेड़, सब दिखाई पड़ने लगते हैं। साहित्य के इस राग-तत्व की स्थिति भी संगीत के राग जैसी ही है। गायक के मन में कहीं उसकी एक धुँधली-सी छवि रहती है। नाना रूपों में, नाना विधियों से गाकर वह अपनी उस मानव-छवि के अनुरूप उस राग की अवतारणा करता है और हर बार जैसे खुद भी उसको एक नए रूप में देखता और पहचानता है। उसी तरह रचनाकार के लिए अपने भाव-प्रकाशन और संवेदना के रूपायन की जो क्रिया है वही उस भाव और संवेदना से सम्यक् साक्षात्कार की भी क्रिया है।

और किसी के लिए हो-न-हो कवि के लिए शब्द ही ब्रह्म है। शब्दों से ही साहित्य रचा जाता है। शब्द ही उसको अपने मानव उत्तराधिकार में मिलते हैं, भाषा तो उसको स्वयं ही गढ़नी पड़ती है। उसकी अपनी शब्द-योजना ही उसकी अपनी भाषा होती है। जो शब्द घिस-पिटकर मुर्दा हो जाते हैं उनको वह कभी छोड़ भी देता है और कभी किसी नए अपूर्व संदर्भ में उनका प्रयोग करके उनको एक नयी अर्थवत्ता दे देता है। शब्दों को नयी शक्ति देता है। भाषा को संगीत की लय देता है, नये-नये बिम्ब देता है, लोकभाषा से कहावतें और मुहावरे

उठाकर उन्हें साधु भाषा का अंग बना देता है और अनेकानेक रूपों में भाषा को समृद्ध करता है, उसे नया विस्तार और गहराई देता है। उदाहरण के लिए, शेक्सपियर से पहले की अंग्रेजी को आज की अंग्रेजी से, और रवीन्द्रनाथ से पहले की बँगला को आज की बँगला से मिलाकर देखने पर भाषा को साहित्यकार की देन का पता चलता है। अपनी इस हिन्दी से भी जरा खुसरो, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, नज़ीर और मीर को अलग करके देखिए आपकी भाषा का क्या रूप बनता है।

इस प्रकार हमारी मानवतावादी सांस्कृतिक परम्परा जहाँ भावों की परम्परा है वहीं भाषा की भी परम्परा है।

भाषा-परम्परा की इस समृद्धि का रहस्य यही है कि युग-युगान्तर से मानव-जाति के श्रेष्ठतम मनीषी और साहित्य-सर्जक अपने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विचारों और कोमल-से-कोमल संवेदनाओं की सार्थक और सजीव अभिव्यक्ति के लिए इसी भाषा के साथ प्रयोग करते आये हैं।

भाव और भाषा की वही परम्परा हम तक आई है। हम भी उसमें कुछ जोड़ना चाहते हैं क्योंकि हमारे पास भी चेतना और राग की अपनी विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं जो हमसे अभिव्यक्ति माँगती हैं। उसी के लिए हमारा प्रयोग है।

अब तक बराबर प्रयोग ही होता आया है लेकिन हमारा प्रयोग सार्थक हो और प्रयोगों की उस अनादि-अनन्त शृंखला की, जिसका ही दूसरा नाम परम्परा है, एक कड़ी बन सके, उसकी दो आवश्यक प्रतिश्रुतियाँ हैं—एक तो अपनी परम्परा का बोध और दूसरे अपने युग का बोध।

आजकल कविता में, कहानी में सर्वत्र प्रयोगों की धूम है। उसका एक विशेष कारण है। हम एक युग-सन्धि के बीच से गुज़र रहे हैं। जीवन के साथ जीवन-मूल्य भी तेज़ी से बदल रहे हैं। ऐसे युग में भावात्मक सृष्टि के स्तर पर भी प्रयोगों को एक विशेष गति मिले, यही स्वाभाविक है सहज है। लेकिन जिस अर्थ में और जिस सीमा तक हमारे नये युग का निर्माण हमारी स्वाधीन राष्ट्रीय परम्परा और हमारे जातीय संस्कारों से दूर हटा है और पश्चिम के म्रियमाण सामाजिक तत्त्वों का आरोपण है, उसी अर्थ में और उसी सीमा तक हमारे सांस्कृतिक प्रयोगों में भी यह विजातीय आरोप देखा जा सकता है। यहीं पर सजग कलाकार के अपने विवेक की परीक्षा होती है। यह ठीक है कि दुनिया बहुत छोटी हो गयी है, सांस्कृतिक आदान-प्रदान सबके घर की चीज़ हो गई है लेकिन मानव संस्कृति की उस गडमड परम्परा में से हमको अपने लिए क्या लेना है और क्या नहीं लेना है, इसका निर्णय अब भी हमारे विवेक को ही करना होगा। पहले के कलाकार ने भी यही किया था, आगे के कलाकार को भी यही करना होगा। अपना विवेक वह कभी किसी के हाथ बंधक नहीं रख सकता और जब रखता है तब साहित्य का ह्रास होता है।

—डॉ० रघुवंश

विश्व-साहित्य में भारतीय साहित्य का स्थान : अनुवाद की समस्या

सर्जनात्मक साहित्य से सम्बद्ध हमारे बौद्धिक वर्ग के मन में यह सवाल उठ सकता है, उठता है कि विश्व के सन्दर्भ में उसकी रचनात्मक प्रतिभा की क्या स्थिति है। किसी भी देश का रचनात्मक कृतित्व उसकी सांस्कृतिक प्रक्रिया के सबसे अधिक संवेदनशील और सर्जनात्मक रूप को उजागर करता है, अत: यह स्वाभाविक है कि अन्य बौद्धिक वर्ग के लोग इस स्थिति को जानने के लिए उत्सुक हों। कहा जाता है, हिन्दुस्तान में फ़ैशनपरस्ती के रूप में इसका काफ़ी रिवाज है, कि आज संसार मिल-सिकुड़कर एक होता जा रहा है। इस स्थिति में यह और अधिक आवश्यक हो जाता है कि हमारे विश्वनागरिकता से प्रेरित साहित्यकार और साहित्य में रुचि लेने वाला बौद्धिक वर्ग अपने साहित्य की इस स्थिति के बारे में जागरूक हो। हमारे साहित्यकारों में एक ऐसा वर्ग भी है जो अपनी इसी चिन्ता से प्रेरित होकर, कम-से-कम उसका एक तर्क यह भी है, तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय भाषा अंग्रेज़ी में ही साहित्य-सर्जन करता है। इस प्रकार पिछड़े हुए देश में रहकर भी अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम को स्वीकार कर वे सहज ही विश्वनागरिक होने का गौरव पा जाते हैं। यह अलग बात है कि अपनी सारी अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्वनागरिकता के बावजूद और हिन्दुस्तानी कच्चे-पक्के माल को अंग्रेज़ी के माध्यम से अच्छे दामों खपा लेने के बाद भी विश्व-साहित्य में उनकी क्या पूछ है, यह हमारे ही नहीं उनके सामने भी स्पष्ट है। यह यहाँ कहने की ज़रूरत नहीं कि इनका विश्व अंग्रेजी तथा अंग्रेज़ तक सीमित है।

यहाँ सवाल उनका नहीं है, पर सारी स्थिति को गहराई तक समझने के लिए उनको छोड़ा नहीं जा सकता। उनकी मनोवृत्ति का ही दूसरा रूप भारतीय भाषाओं के अनेकानेक लेखकों में देखा जा सकता है, जो व्यग्र हैं उनकी कृतियाँ अन्य विदेशी भाषाओं में (मुख्य उत्सुकता अंग्रेज़ी के विषय में है) अनूदित होकर प्रकाशित हो सकें जिससे वे विश्व-साहित्य में अपना सही स्थान पा या बना सकें। इस उत्सुकता में और अन्तर्राष्ट्रीय होने के भ्रामक आग्रह के कारण इनको इस बात का सही अन्दाज़ नहीं है कि वास्तव में साहित्य (व्यापक रूप से संस्कृति) के क्षेत्र में कभी ऐसा नहीं होता कि अपनी चीज़ दूसरों के पास ले जाकर स्वीकार कराई जाए। या तो शक्तिशाली संस्कृतियाँ दूसरों पर आरोपित होती हैं अथवा व्यापक संस्कृतियाँ दूसरों को अपने में

आत्मसात् कर लेती हैं। इसी प्रकार साहित्य या तो अपनी शक्ति से दूसरे साहित्य को प्रेरित या प्रभावित करता है अथवा अपनी जीवनी शक्ति तथा अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से दूसरों को आर्कषित करता है। यह अस्वाभाविक ही नहीं बचकानी स्थिति है कि हम दूसरों के पास पीठ ठुकवाने के लिए प्रस्तुत हों।

इस चर्चा को सही दिशा में ले जाने के लिए यहाँ एक प्रासंगिक समस्या पर विचार कर लेना ज़रूरी है। आज के युग में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को स्थापित रखने और सम्पर्क बनाने की दृष्टि से सांस्कृतिक आदान-प्रदान अपेक्षित माना जाता है। और अपने देश के प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य को दूसरे देश की भाषाओं में प्रस्तुत करना इस सांस्कृतिक आदान-प्रदान का अंग माना जाएगा। ऊपर की बात प्रायः सरकारी ढंग के सांस्कृतिक आदान-प्रदान को दृष्टि में रखकर कही गई है। सरकार का ढंग मुख्यतः राजनीति तथा कूटनीति का होता है, होना चाहिए। अपने सांस्कृतिक प्रभाव-क्षेत्र में लाने का प्रयत्न आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और कूटनीति का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। बड़े और शक्तिशाली राष्ट्र अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने, अन्ततः अपनी राजनीतिक तथा आर्थिक महत्ता स्थापित रखने के लिए अविकसित, अशक्त, हाल ही स्वाधीनता प्राप्त, आर्थिक दृष्टि से पिछड़े राष्ट्रों को अपने चिन्तन और सर्जन के मार्ग में दीक्षित करना चाहते हैं अर्थात् अपने सांस्कृतिक प्रभाव में समेटना चाहते हैं।

भारत जैसे एशियाई राष्ट्र के सांस्कृतिक आदान-प्रदान का अर्थ क्या है? उसका उद्देश्य क्या हो सकता है? सुना है हमारे सांस्कृतिक प्रतिनिधि अपने देश के इतिहास, भूगोल, राजनीति, साहित्य और कला की अपेक्षा अंग्रेज़ी संस्कृति की अधिक गहराई से पकड़ रखते हैं। मैं समझता हूँ इस स्थिति को बहुत अजीब नहीं मानना चाहिए। ये निश्चय ही हमारे उस वर्ग के वास्तविक प्रतिनिधि हैं जिसे स्वाधीन भारत के सत्रह-अठारह वर्षों में अधिकाधिक महत्त्व मिलता गया है और जो पश्चिम की संस्कृति (जो उनके लिए अंग्रेज़ी संस्कृति से भिन्न नहीं है) को सतृष्ण नेत्रों से देखता है। 'आदान' उनका दायित्व है, 'प्रदान' करने को उनके पास है क्या? वे हमारे दूतावासों में अपने रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार से उन देशों में यह प्रमाणित करते रहते हैं कि हम भारतीय पश्चिम की संस्कृति को सही अर्थ में ग्रहण कर रहे हैं। यह अलग बात है कि ये दूसरे देश बार-बार याद दिला दें, जिसको हम पश्चिम का कहकर इतना मान देते हैं वह मात्र इंग्लैण्ड का है और दूसरे वे भारत के प्रतिनिधियों से पश्चिम के अनुकरण को समझने के बजाय भारतीय भावना को सही माने में समझना चाहें।

इसी प्रकार राष्ट्रीयता पर बल देने वाले (यद्यपि इसका फ़ैशन पुराना पड़ गया है या पुराने लोगों के बीच माना जाता है) 'प्रदान' पक्ष से भारत के अतीत को, उसकी सांस्कृतिक धरोहर को महत्व देते हैं। पहले तो वे संस्कृति को प्राचीनता से जोड़कर सांस्कृतिक दृष्टि से भारत को पश्चिम से पिछड़ा मानने को तैयार नहीं हैं और इस प्रकार उनकी दृष्टि में संस्कृति के स्तर पर हम बराबरी के दर्जे का आदान-प्रदान कर सकते हैं। फिर आज हम पश्चिम की तुलना में भले ही कम हों, पर पश्चिम से

अपने प्राचीन गौरव का आदान-प्रदान कर सकते हैं। शायद उनका भाव है कि हम आधुनिक संस्कृति (जिसे वे ज्ञान-विज्ञान के रूप में अधिक ग्रहण करते हैं) पश्चिम से सीखकर अपनी प्राचीन संस्कृति (जो उनके अनुसार मुख्यत: धर्म और दर्शन है) की शिक्षा पश्चिम को दे सकते हैं। इन स्थापनाओं पर कई पक्षों से विचार किया जा सकता है, पर प्रस्तुत साहित्य के प्रश्न के सन्दर्भ में इन चर्चाओं का विशेष महत्त्व नहीं होगा। अगर भारत सरकार सचमुच अपने राजदूतों और सांस्कृतिक प्रतिनिधियों को भारतीय संस्कृति (प्राचीन ही) की उनकी जानकारी और समझ के आधार पर चुने तो यह कई दृष्टियों से उचित होगा। परन्तु मात्र इतने से हमारी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। अब हमारे लिए अतीत के सहारे जीना मीठे भ्रम से अधिक कोरी प्रवंचना भी है, स्वतन्त्रता संघर्ष के दिनों में इन स्वप्नों और भ्रमों का सहारा अर्थ रखता था, पर आज यथार्थ की चुनौतियों और कठोर निर्माण की परिस्थितियों के बीच ये प्रवंचनाएँ आत्मघाती सिद्ध हो सकती हैं, चाहे वे अतीत के स्वप्नों पर आधारित हों अथवा वर्तमान यथार्थ की अस्वीकृति पर।

राजनीति और कूटनीति के क्षेत्र में आदान-प्रदान की समस्या कठोर यथार्थ पर ही प्रतिष्ठित हो सकती है। जो देता है, वह कुछ लेगा भी, यह नियम है। जिस विनिमय में पक्षों की बराबरी नहीं है, उसमें कमज़ोर पक्ष को अन्य रूपों में क्षतिपूर्ति करनी होगी। यह आर्थिक क्षेत्र में जितना सही है उतना ही संस्कृति के क्षेत्र में। चिन्तन के क्षेत्र में जब आयात ही होगा, निर्यात के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं रहेगा, तब एवज़ में हमारा परमुखापेक्षी होते जाना, अनुकरणप्रिय हो जाना, दूसरों की चिन्तन-पद्धतियों का अनुवर्ती रहना तथा ऊपरी चीज़ों और हल्की सफलताओं से सन्तुष्ट हो जाना स्वाभाविक हो जाता है। यह ठीक है एक स्थिति ऐसी हो सकती है कि अपनी विपन्नता में कोई देश अर्थ के समान चिन्तन में आत्मनिर्भर न रह सके। आज हमारी ऐसी स्थिति है, ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों से यह स्थिति किसी भी देश की हो सकती है। यह स्थिति कठोर यथार्थ की ज़रूर होगी, पर इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है और भविष्य की दृष्टि से न इसमें कुछ भी निराशाजनक ही है। अपनी वस्तु-स्थिति के प्रति पूरी जागरूकता के साथ और यथार्थ की सभी चुनौतियों को स्वीकार करते हुए कोई भी राष्ट्र दूसरे समृद्ध तथा विकसित राष्ट्र से आर्थिक सहायता के समान चिन्तन के क्षेत्र में सहयोग प्राप्त कर सकता है। अपने यथार्थ का यह बोध और चुनौतिओं का यह स्वरूप ही राष्ट्र को वह व्यक्तित्व और स्वाभिमान प्रदान करेगा जिससे आर्थिक विकास और सामाजिक उन्नयन के साथ ही ज्ञान और चिन्तन के क्षेत्र में भी वह मौलिक तथा सर्जनात्मक प्रक्रिया शुरू करने में सक्षम हो सकेगा।

साहित्य के क्षेत्र में समस्या ऊपर की सांस्कृतिक आदन-प्रदान की स्थिति से सम्बद्ध होकर भी भिन्न है। जैसा प्रारम्भ में कहा गया है, हमारे साहित्यकारों का एक वर्ग अपनी भावभूमि के बौद्धिक वर्ग के समान, विश्व-साहित्य में अपनी स्थिति के बारे में उत्सुक है और उस बिरादरी में प्रवेश पाने के लिए व्यग्र है। हमारे अंग्रेज़ी

भाषा और अंग्रेज़ी (जिसे हम पश्चिमी कहते हैं) सस्कृति की परम्पराओं में पले बौद्धिकों की आज यह भारी समस्या है कि वे भारतीय वातावरण में, यहां की ग़रीबी, अशिक्षा, परम्परा, जड़ता और अवरुद्धता के बीच, अपने को अकेला अथवा उखड़ा हुआ पाते हैं। अपने को इस वातावरण में जकड़ा हुआ पाकर जब वे पश्चिम के विकसित, उन्नत, वैज्ञानिक तथा प्राविधिक उपकरणों से सज्जित राष्ट्रों के बौद्धिकों की बिरादरी में अपनी स्थिति के बारे में सोचते हैं, उनका मन निराशा और कुंठा से विवश हो जाता है। अपने देश से अलग हो पाना आसान नहीं है, पर अलग होकर कहीं स्थान बना पाना कहीं बड़ी कठिनाई है। हमारे ये साहित्यकार अपनी अभिव्यक्ति, संवेदन, व्यंजना, अनुभूति में और भाषा, शैली, रूप तथा प्रयोग की दृष्टि से पश्चिम के साहित्यकार से प्रतिद्वंद्विता मानकर चलते हैं। भारत में अंग्रेज़ी भाषा में लिखने वाले इस दृष्टि से अपनी स्थिति ठीक समझते हैं और वे न इस प्रतिद्वंद्विता का अनुभव कर सकते हैं और न प्रयत्न करते हैं। पर भाषाओं के लेखक इस मनोभाव से प्रेरित होकर सोचते हैं कि काश उनका साहित्य अनूदित होकर विदेशी साहित्यकारों तथा बौद्धिकों के सामने पहुँच सके ?

ये साहित्यकार समझते हैं कि इनके कृतिकर्म के सच्चे साथी, सही सहयोगी पश्चिम के लेखक और कृतिकार हैं, जिनसे उनकी सर्जनात्मक प्रतिक्रिया सम्भव हो सकती है और सहज-स्तर पर बातचीत हो सकती है। पर यह आकांक्षा कितने ही अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्वनागरिकता के भव्य स्वप्नों तथा आदर्शों से जोड़ी जाय भ्रम पर आधारित होने के कारण विफल और कुंठित हो जाती है। बिना समान स्तर स्थापित हुए यह आशा करना कि हमारी प्रतिक्रिया और बातचीत सहज हो सकती है, अस्वाभाविक है। स्वयं अनुवाद करके, अनुवाद करने के लिए प्रेरित करके तथा विदेशी लेखकों से सहायता की प्रार्थना करके (स्पष्ट है कि अच्छे लेखकों का सहयोग पाना असम्भव है) पश्चिमी साहित्यकार, बौद्धिक वर्ग और बुद्धिजीवी समाज की स्वीकृति पाने की आकांक्षा इसी कोटि की होने के कारण न केवल विफल होती है, उनके निकट पहुँचने तथा उनसे स्वीकृति पाने की आतुरता के कारण कृतिकार को अपने निजी सन्दर्भों तथा मौलिक अन्वेषण के क्षेत्रों से विमुख कर जाने-अनजाने अनुकरण के घुमावदार रास्तों पर भटकाती है।

किसी भी प्रतिक्रिया अथवा बातचीत के लिए दोनों पक्षों का क्रियाशील तथा उत्सुक होना आवश्यक है। यह साफ़ बात है कि हमारे साहित्य के प्रति पश्चिम के साहित्यकार तथा बौद्धिक की रुचि नहीं हो सकती, विशेषकर जिस रुचि को साहित्य में लगा हुआ व्यक्ति महत्त्व देना चाहेगा। राजनीतिक, समाजशास्त्रीय आदि अनेक दृष्टियों से भी किसी देश के साहित्य में रुचि ली जा सकती है, पर यह रुचि लेना भी उसी अनुपात में होगा जिसमें वह उस देश की समस्याओं को अपनी दृष्टि में महत्त्व देता है। साहित्यकार रचना की दृष्टि से मौलिक सर्जनशीलता के स्तर पर अन्य देशों के साहित्यकार से सम्बन्ध स्थापित करना चाहेगा, पर प्रतिक्रिया तभी सम्भव होती है जब दो सक्रिय वस्तुएँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आएँ।

प्रायः यह भुला दिया जाता है कि साहित्य अर्थात् संवेदन का रचनात्मक वैशिष्ट्य किसी भी देश (राष्ट्र) की सम्पूर्ण सर्जन क्षमता से अलग नहीं किया जा सकता। सांस्कृतिक प्रक्रिया का मौलिक तथा सर्जनात्मक पक्ष साहित्य की अभिव्यक्ति से गहरे स्तर पर जुड़ा रहता है। इसका सीधा और साफ़ अर्थ यह है कि यदि कोई देश विकसित है, पिछड़ा है, जड़ है, अवरुद्ध है तो उसका सांस्कृतिक जीवन सम्पन्न नहीं हो सकता। उसका साहित्य भी विशिष्ट नहीं हो सकता। कभी वंचना या आत्म-वंचना से यह भ्रम ज़रूर फैलाया जाता है कि भौतिक तथा आर्थिक दृष्टि से अविक-सित और अवरुद्ध रहकर भी आध्यात्मिक तथा वैचारिक स्तर पर समुन्नत हुआ जा सकता है अर्थात् यदि कोई देश पिछड़ा है तो उसका साहित्य विकसित भी हो सकता है, उसमें चिन्तन की समृद्ध परम्परा जीवित रह सकती है। वैसे ऐसा कभी नहीं रहा, कोई भी देश चिन्तन और सर्जन की समुन्नत स्थिति में रहकर भौतिक दृष्टि से पिछड़ा नहीं रहा है, न रह सकता है। यह अवश्य है, पिछले युगों में भौतिक समृद्धि का सामाजिक ढाँचा भिन्न रहा है। देश की सांस्कृतिक समृद्धि भौतिक उन्नति की सानु-पातिक न भी हो, ज्ञान और चिन्तन के विकास के साथ राष्ट्र की रचनात्मक प्रतिभा उसे भौतिक समृद्धि की ओर अग्रसर करती देखी गई है। साथ ही भौतिक समृद्धि और विलास के साथ चिन्तन और सर्जन की दिशाओं को गतिरुद्ध और ह्रासोन्मुखी होते भी देखा जाता है। इस सम्बन्ध में यह भिन्न बात है कि ज्ञान और सर्जन के मौलिक क्षेत्र के अन्वेषक अपनी गहरी सम्पृक्ति के कारण प्रायः सभ्यता के बाह्य आकर्षणों तथा समृद्धि के उपभोग के प्रति निरपेक्ष देखे गए हों।

आज शासन व्यवस्थाएँ सामाजिक दायित्व के प्रति अधिकाधिक जागरूक होती जा रही हैं, और ज्ञान-विज्ञान (प्रविधि के साथ) की अपरमिति उन्नति के साथ अधिक व्यापक आधार पर समाज कल्याण की योजनाओं को कार्यान्वित करना सम्भव हो गया है। अतः समृद्धि और सर्जन का आधार पिछले युगों की अपेक्षा कहीं विस्तृत हो गया है। अतः मौलिक चिन्तन तथा सर्जन का नेतृत्व जिस प्रकार समुन्नत तथा विकसित राष्ट्रों के हाथ में है, उसी प्रकार अवरुद्ध तथा अविकसित राष्ट्र भी वास्त-विक उन्नति तथा विकास के मार्ग पर बिना अपनी प्रतिभा को सम्पूर्णतः मौलिक चिन्तन तथा सर्जन में प्रवृत्त तथा सक्रिय किये आगे नहीं बढ़ सकते। इसीलिए यह सही नहीं है कि पिछड़े राष्ट्र का साहित्य तब तक समुन्नत, समृद्ध, सम्पन्न और विशिष्ट नहीं हो सकता जब तक वह पूर्णतः प्रगति के पथ पर अग्रसर न हो। वास्तविक प्रगति के लिए चिन्तन और सर्जन की दिशाओं का मुक्त होना आवश्यक है और सर्जनात्मक प्रतिभा की अभिव्यक्ति किसी देश का साहित्य है।

यहाँ यह अन्तर स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जो अपनी प्रतिभा का सांस्कृतिक स्तर पर पूरा अन्वेषण कर चुके हैं उन देशों की सर्जनात्मक प्रक्रिया, दिशा तथा उपलब्धि सभी कुछ भिन्न होते हैं, उन देशों की अपेक्षा जिन्होंने अपनी प्रतिभा का सन्धान अथवा पुनर्सन्धान चिन्तन तथा सर्जन के क्षेत्र में अभी शुरू किया है। इसलिए कि समुन्नत तथा सांस्कृतिक संचरण में अग्रसर देश इन उन्नति के आकांक्षी राष्ट्रों के

प्ररक तथा मार्गदर्शक हो सकते हैं, दोनों की स्थिति ही नहीं विकास की दिशा भी समान नहीं मानी जा सकती। प्रत्येक देश, राष्ट्र, तथा जाति की अर्न्तनिहित ऊर्जा, प्रतिभा, संस्कार, परम्परा और इतिहास उनके सम्भावित विकास की दिशाओं की खोज का निर्देशन करते हैं, उसके रूप को एक सीमा तक निर्धारित करते हैं। यही कारण है कि अनुकरण का मार्ग एक सीमा तक ही किसी को आगे बढ़ने में सहायक होता है विशेषकर मौलिक चिन्तन तथा सर्जन के क्षेत्र में प्रेरणा का आधार एक सीमा के आगे अनुकरण तथा निर्भरता के चक्र में पड़कर प्रतिभा को कुण्ठित तथा विजड़ित कर देता है। प्रत्येक सर्जनात्मक कर्म अपने-आप में अप्रितम तथा विशिष्ट तो होता ही है, उसमें अन्तर्निहित शक्ति होती है जिससे वह अपने मार्ग पर बढ़ने वालों के प्रत्येक प्रयत्न की अपनी उपलब्धि की सीमाओं से कुण्ठित कर देता है। शायद प्रत्येक श्रेष्ठ रचना और संस्कृति की अपनी आत्मरक्षा की यही पद्धति है।

ऐसी स्थिति में यह आशा करना कि सर्जन के अन्य मौलिक क्षेत्रों के समान साहित्य में हम पिछड़े देश के निवासी पश्चिमी देशों के साहित्यकारों से उनके स्तर पर, उनकी भाषा तथा व्यंजना के क्षेत्र में समकक्षता कर सकेंगे और हम उस स्तर पर उनसे बातचीत कर सकने की की स्थिति में हो सकेंगे, आपस की प्रतिक्रिया से एक-दूसरे की रचना-प्रक्रिया को गति प्रदान कर सकेंगे, कोरी विडम्बना है। अत: अभी यह सोचना व्यर्थ है कि वे हमारे कृतित्व में रुचि ले सकेंगे और उसके लिए मात्र उसके विदेशी भाषाओं में अनुवाद की अपेक्षा है। अभी हमारी चिन्तन की शक्ति, अनुभव की शक्ति, संवेदन की क्षमता उनकी तुलना में अपरिपक्व है। अभी हमारी भाषाएँ विकास की प्रक्रिया में हैं। व्यंजना और सर्जन की नई दिशा तथा सम्भावना की दृष्टि से उनमें मौलिक चिन्तन तथा सर्जन की सहज अभिव्यक्ति की क्षमता विकसित नहीं हो पाई है। वास्तव में प्रतिभा का मौलिक सर्जनात्मक विकास और भाषा की सर्जनात्मक क्षमता एक ही प्रक्रिया के दो पक्ष हैं। साहित्य भाषा के विशिष्ट व्यंजक तथा सर्जक रूप से सम्बद्ध है, यह भी कहा जा सकता है कि देश की सर्जनात्मक प्रतिभा की खोज का अर्थ भाषा की सर्जनात्मक शक्ति का विकास है। अत: यह स्पष्ट है कि जिस भाषा (भाषाओं) में अभी आधुनिक चिन्तन-मनन के सभी द्वार पूरी तरह खुले नहीं हैं, और जिसकी प्रतिभा की सारी सर्जनात्मक शक्ति विदेशी भाषा से अवरुद्ध है, वह भाषा और प्रतिभा अपने ऊपरी समस्त शिष्ट तथा विशिष्ट संस्कार के बावजूद अपनी अभिव्यक्ति में लोक (folk) के स्तर से भिन्न नहीं हो पाती है।

कुछ लोगों को ऊपर के विचारों में हमारा अपने प्रति हीन-भाव दिखाई दे सकता है। परन्तु यथार्थ को ठीक ढंग से देखने में, उसकी चुनौती का सही अन्दाज़ लगाने में और परिस्थिति के अनुकूल तरीक़े सोचने में हीन भाव नहीं है, हीन भाव उस वृत्ति में निहित है जो यथार्थ को अस्वीकार कर अपने सन्दर्भों से कटकर पिछले गौरव में जीने का भ्रम पैदा करती है अथवा पश्चिम के साथ बराबरी के स्वप्न देखने के लिए प्रेरित करती है। हम पिछड़े लोग हैं। आर्थिक, भौतिक तथा औद्यगिक दृष्टि से

ही नहीं, ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य, चिन्तन-मनन, राजनीति-कूटनीति, आचरण-नैतिकता, शिक्षा-पत्रकारिता आदि सभी क्षेत्रों में हम पिछड़े हुए हैं, यह हमें कठोर यथार्थ के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए।

लेकिन हमारे बौद्धिक तथा एक वर्ग के कृतिकारों की कठिनाई भी है। अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से और पश्चिमी संस्कृति के रूप में हमने जो शिक्षा प्राप्त की है, उसका हमारे मन और बुद्धि पर ऐसा व्यामोह छा गया है कि हम यथार्थ को देखकर भी अनदेखा कर जाते हैं। हमारे बौद्धिक वर्ग के मन में यह धारणा बन गई है कि हम वह सब जानते या समझते हैं जो अंग्रेज जानता है, फिर हममें और उनमें क्या अन्तर हो सकता है ? हम सोचते हैं कि हम उनके समान चिन्तन और सर्जन में सक्षम हैं। जब हम अंग्रेज के समान अंग्रेज़ी सीख सकते हैं, तो उनके समान हम अपने को सभी स्तरों पर अभिव्यक्त भी कर सकते हैं। पर यह भ्रम है, किसी भाषा के माध्यम से जानकारी प्राप्त कर लेना एक बात है, भाषा-भाषियों की पद्धति में सोच-विचार लेना भी हो सकता है और यह भी एक बार माना जा सकता है कि उनके अनुकरण पर अपने को व्यक्त भी किया जा सकता है। पर मौलिक चिन्तन और रचना की शर्त भिन्न होती है, मात्र दूसरे के आधार पर यह प्रक्रिया सम्भव नहीं है। उसमें व्यक्तित्व, निजी व्यक्तित्व का अभिव्यक्ति पाना आवश्यक है।

जो कलाकार और साहित्यकार पश्चिम को तथा अपने अतीत को, क्योंकि हमारे लिए दोनों ही परम्पराएँ हैं, नये आधुनिक सन्दर्भों में समझने का उपक्रम करते हैं और अपनी इस समझ का उपयोग फिर अपने निजी जीवन से नया अर्थ तथा अनुभव ग्रहण करने के लिए करते हैं, उनकी भाषा तथा रचना दोनों को नई शक्ति तथा सामर्थ्य मिलता है, इसमें कोई शक नहीं। उनको स्थिति का सही अन्दाज़ भी है कि रचना के स्तर पर उनके निजी तथा विशिष्ट अनुभव की ठीक पहचान पश्चिम के साहित्यकार तथा आलोचक को तभी हो सकती है जब वह उनके अनुभव के क्षेत्र तथा परिस्थिति और अभिव्यक्ति के माध्यम (भाषा) तथा रूप में सच्ची रुचि ले। पर यह तब तक सम्भव नहीं है, जब तक इस प्रकार के आपसी सम्पर्क से और हमारी सर्जनात्मक स्थिति में रुचि लेने से उनको अपने व्यक्तित्व के विकास तथा रचनात्मक कर्म में सहयोग की पूरी आशा न हो। जैसा कहा गया है, यह अभी सम्भव नहीं है।

इस स्थिति में अपने सन्दर्भों से जुड़े हुए तथा यथार्थ के प्रति जागरूक कृतिकार अपने कृति कर्म के लिए, सर्जन-प्रक्रिया के लिए दो स्तरों पर अपने मार्ग की खोज करते हैं। पहली और मुख्य बात है अपने निजी व्यक्तित्व की खोज और दूसरी बात है जिन आदर्शों की स्थापना प्राचीन कला के साहित्य ने की है अथवा पश्चिम के आधुनिक साहित्य की जो उपलब्धियाँ हैं, उनके माध्यम से अपने नये साहित्यिक मूल्यों का अन्वेषण करना। इस दृष्टि से हमको उनके साहित्य में, क्लासकी साहित्य में गहरी रुचि लेनी है। उनसे प्रेरणा और दृष्टि मिलती है, पर अपनी रचना का मार्ग हम को खुद खोजना होगा। सर्जन कर्म में अपने अतीत को समुपयोजित करना है, उसी प्रकार पश्चिम के सर्जनात्मक प्रयत्नों का हम समुपयोग ही कर सकते हैं। दोनों ही परम्पराओं

से हमारी प्रक्रिया सम्भव है, आवश्यक है ।

पश्चिम की सर्जनात्मक प्रतिभा और प्रक्रिया से सम्पर्क स्थापित करने के लिए अपनी ओर से हमारे प्रयत्न अवश्य अनिवार्य हैं । और उसके लिए उनकी कृतियों के उत्कृष्ट अनुवाद अपनी भाषाओं में प्रस्तुत करना सबसे अधिक महत्त्व का है । उनकी भाषाओं के माध्यम से उनके साहित्य से परिचय प्राप्त करना इस दृष्टि से काफ़ी नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का परिचय हमारी रचनात्मक प्रक्रिया में अधिक दूर तक सहायक नहीं हो सकता है । परिचय पर मात्र इस रूप में निर्भर रहने से हमारी दृष्टि और हमारा अनुभव बँधता है और हम अपनी भाषा की सर्जनात्मक क्षमता के विकास में भी कोई सहायता नहीं पाते । पर गम्भीर स्तर पर और सर्जनात्मक कोटि के अनुवादों में संलग्न होने से हम न केवल पश्चिम की सर्जनात्मक प्रतिभा का अपने ढंग से सही अन्वेषण और अनुभव कर सकते हैं, वरन् अपनी भाषा तथा अनुभूति का भी सर्जनात्मक प्रयोग का रास्ता खोज सकते हैं अथवा उसकी क्षमता का विकास कर सकते हैं ।

हमारा सही रास्ता है अपनी सर्जन-प्रक्रिया के लिए अपने बीच प्रतिक्रिया तथा बातचीत का वातावरण बनाने का प्रयत्न करें, अपनी भाषा के क्षेत्र में तथा भारतीय भाषाओं के विभिन्न क्षेत्रों में, क्योंकि न केवल राष्ट्रीय दृष्टि से वरन् सभी दृष्टियों से सांस्कृतिक समान स्तर पर हम सब स्थित हैं । यह ठीक है कि आज की परिस्थिति में इन अत्यन्त जागरूक तथा संवेदनशील कृतिकारों (जो कुछ भी हैं) के लिए अपने कृतिकर्म के लिए उचित वातावरण तैयार करने में भारी कठिनाइयाँ हैं, पर वे यह जानते हैं, उन्हें यह जानना चाहिए कि इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है। पूरब हो या पच्छिम हो, अतीत हो या वर्तमान हो उनके लिए दोनों परम्पराएँ हैं । उनसे गहरा परिचय प्राप्त करके भी मुक्त होना है, उनको समुपयोजित किये बिना अपना मार्ग बना पाना सम्भव नहीं है । जब हम अपने देश का, अपनी नई संस्कृति का मार्ग पा सकेंगे, तभी हमारा अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा, हमारी अभिव्यक्तिक वह रूप स्वतः सामने आ सकेगा, जिसके प्रति पश्चिम के समुन्नत देशों का ध्यान जाए । तब हमको अपने साहित्य के विदेशी भाषाओं में अनुवाद की चिन्ता नहीं होगी, वहाँ के साहित्यकार स्वयं इस कार्य की ओर प्रवृत्त होंगे, कुछ सार्थक, कुछ विशिष्ट, महत्त्वपूर्ण पाने के लिए, उससे प्रतिक्रियाशील होने के लिए । हमारा काम आज भी उनके महत्त्वपूर्ण, सार्थक विशिष्ट का अनुवाद प्रस्तुत करना अपने सर्जन के मार्ग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और रहेगा । यह हमारा अपना दायित्व है ।

प्रकाशचन्द्र गुप्त

विश्व-साहित्य में हिन्दी तथा भारतीय-साहित्य के प्रवेश की समस्या

सामान्यत: सभी देशों का श्रेष्ठ साहित्य विश्व-साहित्य की श्रेणी के अन्तर्गत आता है। जिस साहित्य से विश्व परिचित है, उसे विश्व-साहित्य कहा जाता है, यद्यपि ऐसा भी बहुत सा विश्व-साहित्य है, जिससे विश्व परिचित नहीं है। इस प्रकार होमर, दान्ते, शेक्सपियर, वेदव्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि की रचनाएँ विश्व-साहित्य के अंग मानी जा सकती हैं। साहित्य का गहरा सम्बन्ध भाषा से भी रहता है। आज के युग में जिन भाषाओं का विशेष प्रचार और प्रसार है, उनका साहित्य विशेष परिचित और प्रख्यात है। इस साहित्य का ही अनुवाद अनेक देशों की भाषाओं में होता है।

उत्कृष्ट साहित्य का लोकप्रिय होना एक संयोग की बात भी रहती है। बहुधा उच्च-कोटि का साहित्य अज्ञात पड़ा रह जाता है और निम्न कोटि की रचनाओं का प्रसार होता है। काल का प्रवाह एक हद तक इन भूलों का सुधार करता है, किन्तु कितना साहित्य अतीत के भग्नावशेषों के नीचे दबा पड़ा है, यह कोई नहीं जानता।

सभी श्रेष्ठ भारतीय-साहित्य विश्व-साहित्य का अंग होना चाहिए, किन्तु अनेक व्यवधान बीच में आ जाते हैं। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' से विश्व परिचित है, किन्तु 'कादम्बरी' अथवा 'उत्तर रामचरित' से अपेक्षाकृत कम परिचित है। टैगोर और प्रेमचन्द विश्व-साहित्य का अंग बन चुके हैं, किन्तु शायद उस मात्रा में शरत्चन्द्र, प्रसाद अथवा पन्त अभी नहीं बने। इन लेखकों का साहित्य अवश्य ही अपनी शक्ति के कारण विश्व-साहित्य की कोटि में आता है, किन्तु भाषा का व्यवधान बीच में आ जाता है। इस दूरी को पार करने की समस्या इस सिलसिले में प्रमुख है।

इस सम्बन्ध में दो बातें सामने आती हैं। एक, अपनी भाषा का व्यापक प्रसार; दूसरी, श्रेष्ठ भारतीय रचनाओं का यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद। जिस सीमा तक हमारे देशका महत्त्व विश्व के इतिहास में बढ़ता है, उस सीमा तक हमारी भाषाओं का महत्त्व भी बढ़ेगा और विश्व अधिक मात्रा में हमारे साहित्य से परिचित हो सकेगा। सोवियत-संघ और अमरीका आदि देशों में आधुनिक भारतीय भाषाओं और साहित्य का अध्ययन मनोयोग से हो रहा है, किन्तु यूरोप के विद्वान् संस्कृत के माध्यम से अभी तक भारत को जानने का प्रयास करते हैं। किसी भी देश की आत्मा उसके श्रेष्ठ साहित्य और

कला में प्रतिबिम्बित होती है; इसलिए किसी भी देश का अन्यतम परिचय हम उसके साहित्य अथवा कला द्वारा पाते हैं ।

श्रेष्ठ भारतीय-साहित्य का योजनाबद्ध अनुवाद अत्यन्त आवश्यक है । इस महत् कार्य के लिए अपार धन-राशि और श्रम अपेक्षित है । बिना केन्द्रीय शासन के सहयोग के यह कार्य वांछित गति और सन्तोषप्रदता से होना कठिन है । पण्डितों को विभिन्न भाषाओं में श्रेष्ठ रचनाओं की तालिकाएँ बनानी होंगी और इस साहित्य का अंग्रेज़ी, फ्रैंच, जर्मन, रूसी आदि भाषाओं में अनुवाद करना होगा । पहले हम अंग्रेज़ी तक अनुवाद के कार्य को सीमित कर सकते हैं और इसके माध्यम से विश्व-साहित्य के मंच पर प्रवेश कर सकते हैं ।

हम अनेक यूरोपीय रचनाओं से परिचित हैं । यह लगभग सभी विश्व-साहित्य समझा जाता है । जिस साहित्य से विश्व परिचित है और उसकी शक्ति को स्वीकार करता है, मोटे तौर पर उसे हम विश्व-साहित्य कह सकते हैं । या विश्व-साहित्य किसी भाषा-विशेष के श्रेष्ठ साहित्य से ऊँची कोटि की रचना है ? क्या कालिदास विश्व-साहित्य के अन्तर्गत आते हैं और भवभूति नहीं ? टैगोर आते हैं, शरत्चन्द्र नहीं ? शेक्सपियर आते हैं, शैली और कीट्स नहीं ? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देना कठिन है, किन्तु यह कहना अनुचित नहीं लगता कि किसी देश अथवा भाषा के चोटी के साहित्यकार ही विश्व-साहित्य की निधि बनते हैं । इस प्रकार डिकिन्स, हार्डी, टॉलसटॉय, तुर्गनेव और ह्यूगो के समकक्ष ही हम टैगोर, प्रेमचन्द और शरत्चन्द्र को पाते हैं । प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी की रचनाएँ उसी श्रेष्ठ साहित्य की कोटि में आती हैं, जिससे हम अंग्रेज़ी के माध्यम से परिचित हुए हैं ।

विश्व-साहित्य की परिभाषा बनाने का प्रयास कठिन है । इस सन्दर्भ में ये प्रश्न एक बार फिर उठते हैं : साहित्य क्या है ? क्लासिक्स कौन हैं ? अनेक आचार्यों ने इन प्रश्नों को उठाया है, किन्तु उनके उत्तर अपूर्ण रह जाते हैं । हम देखते हैं कि परिभाषा में कलाकार को बाँध रखना असम्भव होता है । किसी भी परिभाषा में बहुत-कुछ छूट जाता है, जिसकी श्रेष्ठता हम स्वीकार करते हैं । विश्व-साहित्य की अपील देश और काल से ऊपर होती है, उसकी अपील विश्व-व्यापी और चिरन्तन होती है । इस साहित्य में गहरे मानवीय तत्त्व होते हैं, जो पाठक को ऊँचा उठाते हैं, उसके नैतिक और मानसिक धरातल को मज़बूत बनाते हैं, उसे निरस्त्र नहीं करते । इस साहित्य में हमें गहरी मानवीयता, तीव्र अनुभूति, व्यापक और गहनतम जीवन-अनुभवों की अभिव्यक्ति मिलती है । लूकाच के अनुसार साहित्य जीवन को उसकी सम्पूर्णता में अंकित करता है, उसकी असंगतियों और अन्तर्संघर्षों का निरूपण करता है, उसकी गहराइयों में उतरता है । वह परम्परा को समेटकर आगे बढ़ता है और भविष्य का इंगित करता है । इन्हीं गुणों से श्रेष्ठ साहित्य सम्पन्न रहता है, और इन्हीं को हम विश्व-साहित्य के केन्द्रीय गुण कह सकते हैं । क्या ऐसा साहित्य भी श्रेष्ठ कहा जा सकता है, जिसकी अपील देश और काल तक ही सीमित है ? एक हद तक सभी साहित्य इन सीमाओं में बँधा है । इनसे बचना सम्भव नहीं है, किन्तु श्रेष्ठ साहित्य और कला में सत्य और

स्वप्न दोनों के ही अंश रहते हैं, इतिहास और कल्पना दोनों की गुहार रहती है। श्रेष्ठ साहित्य में मनुष्य के भूत, वर्तमान और भविष्य सन्निहित रहते हैं, यद्यपि वर्तमान ही प्रधान होता है।

नोबुल पुरस्कार के वितरकों ने अनेक यूरोपीय कलाकारों से हमें परिचित कराया है, जिनसे हम अन्यथा अपरिचित रह जाते। इनमें नार्वे, स्वीडन, इटली, स्पेन आदि देशों के अनेक लेखक थे, जो आज के मूर्धन्य विश्व-विख्यात लेखकों के समकक्ष नहीं खड़े हो सकते। उदाहरण के लिए, टॉल्सटॉय, शौलोकौफ़, एरेनबुर्ग को यह पुरस्कार नहीं मिला, किन्तु सिग्रिड डण्डसैट, किपलिंग, कामू अथवा पास्टरनाक को मिला। इसे रुचि-वैचित्र्य भी कहा जा सकता है।

कोलम्बस द्वारा नई दुनिया की खोज के बाद सर्वप्रथम यूरोप विश्व-रंगमंच पर प्रभु-वर्ग की भूमिका में उतरा। पोप ने पृथ्वी पर एक काल्पनिक रेखा खींचकर सम्पूर्ण विश्व को स्पेन और पुर्तगाल के बीच बाँट दिया। औद्योगिक क्रान्ति के बाद इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, हॉलैण्ड और पुर्तगाल के साम्राज्य विश्व पर छा गये। अफ्रीका और एशिया के देश दासता की बेड़ियों में जकड़ गये। अंग्रेज़ी, फ़्रांसीसी, जर्मन आदि यूरोपीय भाषाएँ विश्व-भाषाएँ बन गईं। इनका ज्ञान विश्व-भर में फैल गया। पहले, और विशेष रूप से दूसरे, महासमर के बाद अमरीका का आर्थिक प्रभुत्व विश्व पर छा गया। इस सब का एक अनिवार्य फल यह भी हुआ कि यूरोपीय भाषाओं के साहित्य का परिचय विश्व को मिला और विश्व-साहित्य की भूमिका में वह इतिहास के मंच पर उतरा। इसके पूर्व 'महाभारत', 'रामायण', 'शाकुन्तल' आदि के नाम मनीषियों को ज्ञात थे, किन्तु इनका कम ही परिचय विश्व को था। बिजली, वायुयान, रेडियो, सिनेमा आदि ने आज विश्व को एक छोटा परिवार बना दिया है, समय और दूरी के व्यवधान को मिटा दिया है।

यातायात और आदान-प्रदान के साधनों के विकास ने यूरोपीय साहित्य को अपूर्व लोकप्रियता प्रदान की। इसके विपरीत अफ्रीकी-एशियाई देशों की भाषाएँ और उनके साहित्य उपेक्षित रहे। यह एक हद तक अनिवार्य था, यद्यपि वांछित न था। जो देश प्रभुता-सम्पन्न थे, उनकी भाषाएँ विश्व पर छा गईं और उन्हीं के साहित्य का विशेष मनोयोग से अध्ययन और पठन-पाठन हुआ। बहुधा भारतीय बुद्धिजीवियों को जैसा ज्ञान अंग्रेज़ी इतिहास और साहित्य का था, वैसा अपने इतिहास और साहित्य का न था। इसे हम अपनी दासता के इतिहास का दुर्भाग्य और अभिशाप कह सकते हैं।

मैकॉले ने अपने अज्ञान में दम्भपूर्वक कहा था कि पश्चिम के ज्ञान के विस्तार की तुलना में सम्पूर्ण पूर्वीय साहित्य एक अलमारी में समा सकता है! संस्कृत की साहित्य-राशि के प्रति तो एक हद तक पश्चिम के पण्डित नतमस्तक थे भी, किन्तु भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य के प्रति उनकी उदासीनता और उपेक्षा गहरी थी। साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का ही यह सांस्कृतिक पक्ष था।

आधुनिक भारतीय भाषाओं के अनेक महान् कवि और रचनाकार, जैसे तुलसी,

सूर, कबीर, विद्यापति, चण्डीदास विश्व-साहित्य के मंच पर अनेक सुपरिचित यूरोपीय साहित्यकारों के समकक्ष खड़े होने के अधिकारी हैं, किन्तु उनके साहित्य की जानकारी अपनी भाषा से बाहर भारत में ही बहुत कम है, यूरोप और अमरीका की बात तो दूर है ! वास्तव में अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, जर्मन आदि भाषाएँ आज विश्व-भाषाओं के रूप में प्रकट हो रही हैं और भारत के मानस पर भी छा गई हैं ! हम यूरोपीय भाषाओं के साहित्य को ही अजाने, मन-ही-मन विश्व-साहित्य की संज्ञा देने लगे हैं !

अब अफ्रीकी-एशियाई देशों की स्वतन्त्रता और प्रगति के साथ-साथ इस दिशा में भी परिवर्तन और सुधार अनिवार्य है। इन देशों की भाषाओं के अध्ययन और प्रसार में विकास और प्रगति अनिवार्य है और इसके साथ ही इनकी संस्कृति और इनके साहित्य-का परिचय भी विश्व-व्यापी होता जाएगा। हमारी ऐतिहासिक ख्याति को साम्राज्यवाद के राहु ने ग्रस लिया था। दासता के बन्धनों के कटने के साथ ही यह ग्रहण भी दूर होता जाएगा।

संस्कृत-साहित्य को मिलाकर भी शायद भारतीय लेखकों में सर्वाधिक विश्व-ख्याति और लोकप्रियता टैगोर को ही मिली है। टैगोर अनेक गुणों के कारण इसके अधिकारी भी हैं। वे विश्व-मानवता के उपासक थे। वे सभी प्रकार की संकीर्णताओं के ऊपर उठ गये थे। वे राष्ट्र और जाति के दायरों में न बँधे थे। वे सम्पूर्ण मानवता के मित्र और बन्धु थे। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। नाटक, उपन्यास, कहानी और काव्य के अतिरिक्त वे उच्च-कोटि के चित्रकार, संगीतकार, अभिनेता और वक्ता भी थे। उनका हृदय उदार था, उनका जीवन-दर्शन विराट् और गहरा था, उनकी कल्पना और अनुभूतियों की परिधि विस्तृत थी। वे आधुनिक भारत की प्रभावशाली त्रिमूर्ति—गांधी, टैगोर, नेहरू का तृतीय अंश थे। यह सब होते हुए भी निर्विवाद है कि नोबेल पुरस्कार ने टैगोर की ख्याति के प्रसार में मदद दी, और यह पुरस्कार बहुधा पश्चिमी यूरोप और अमरीका तक सीमित रहा है। पश्चिमी यूरोप और अमरीका के बाहर बहुत-सा विश्व-साहित्य अप्रकट पड़ा है, जिसका व्यापक प्रसार वांछनीय है।

आधुनिक भारत के साहित्यकारों में अनेक विश्व-साहित्य में स्थान पाने के अधिकारी हैं। पश्चिम के अनेक लेखकों से वे किसी प्रकार भी घटकर नहीं हैं। क्या कारण है कि पश्चिम का साहित्य-संसार अभी तक शरत्चन्द्र, प्रेमचन्द, सुब्रह्मण्यम भारती, वल्लथोल, क़ाज़ी नज़रुल इस्लाम, ताराशंकर बैनर्जी आदि के साहित्य से अपरिचित है ? मुख्यतः यह भाषा और अनुवाद की सीमा तो है, किन्तु इसके लिए साम्राज्यवाद की कथा भी कम उत्तरदायी नहीं रही है। यह सभी गहरी मानवीय दृष्टि के सम्पन्न लेखक हैं। सभी प्रकार की संकीर्णताओं के ऊपर वे उठे हैं, किन्तु अभी तक विश्व के असीम पाठक-वर्ग और उनके बीच भाषा का बड़ा व्यवधान है।

सोवियत-संघ ने आधुनिक भारतीय लेखकों के साहित्य का अध्ययन और मनन मनोयोग से किया है। इस प्रक्रिया में साम्राज्यवाद के पाश से मुक्त उनकी चेतना का बड़ा हाथ रहा है। वे स्वामी और दास की भावना से सर्वथा अछूते हैं। इसके

अतिरिक्त उनके ज्ञान-सञ्चय का इतिहास भी इस दिशा में उनका सहायक रहा है। सोवियत-संघ में पूर्वीय भाषाओं के ज्ञान के अध्ययन की परम्परा बहुत पुरानी है। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय का प्राची विभाग यूरोप में सबसे पुराना है। उन्होंने आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन पर विशेष बल दिया है। मॉस्को, लेनिनग्राद, ताशकन्द आदि के अतिरिक्त अन्य विश्वविद्यालयों में भी संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, बंगाली, तमिल आदि का पठन-पाठन होता है। सोवियत संघ में विदेशी भाषाओं का प्रकाशन-गृह भी अनुवादों के प्रकाशन में यत्नशील रहा है। पन्त, प्रसाद, निराला, प्रेमचन्द, यशपाल, अश्क, कृष्णचन्द्र आदि के साहित्य के अतिरिक्त अनेक नये लेखकों की रचनाओं का भी वहाँ अनुवाद हो चुका है और सोवियत जनता इनके नाम से अच्छी तरह परिचित है। अन्य भारतीय भाषाओं के बारे में भी यही कहा जा सकता है। स्वाधीनता के बाद अमरीका में भी हिन्दी आदि भारतीय भाषाएँ सीखने की ओर ध्यान गया है।

स्वाधीनता के बाद सम्पूर्ण विश्व में भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य के प्रति जिज्ञासा जगी है। इतिहास-क्रम में यह अनिवार्य था। भारत अब स्वाधीन देशों की पंक्ति में खड़ा है और अपने इतिहास और अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप विश्व-मंच पर महत्त्वपूर्ण भूमिका पूरी कर रहा है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय कथा-साहित्य में विशेष प्रगति हुई है। 'आरोग्य निकेतन', 'चौरंगी', 'साहब बीबी गुलाम', 'झूठा-सच', 'मैला आँचल' आदि रचनाएँ सिद्ध करती हैं कि भारत के लिए विश्व-साहित्य में प्रवेश की समस्या मूलतः भाषा के व्यवधान को दूर करने और सन्तोषप्रद अनुवाद की समस्या है, उन्नत दृष्टि से सम्पन्न साहित्य-सृष्टि की समस्या नहीं। हमारे श्रेष्ठ साहित्य में दृष्टि की संकीर्णता, जातिगत् और सम्प्रदायगत् पूर्वग्रहों, मध्यकालीन मान्यताओं और अन्धविश्वासों की पूर्ण रूप से अनुपस्थिति है। वास्तव में हमारा समाज अग्रगामी भावनाओं और विचारों को अपनाकर इतिहास-पथ पर बढ़ रहा है। यह नहीं कि हमारे देश में पिछड़ी मान्यताओं और संस्कारों का सर्वथा अभाव है, किन्तु साहित्य में अभी उन्हें अभिव्यक्ति नहीं मिली है।

वास्तव में हमारे सामने संकट दूसरी तरह का है। पाश्चात्य साहित्य के माध्यम से अनेक ह्रासमूलक प्रवृत्तियाँ हमारे साहित्य में प्रवेश कर रही हैं, और आधुनिकता के भ्रमवश कुछ लेखक उन्हें अपना रहे हैं। भाषा के विश्व-व्यापी प्रसार के आधार पर ये प्रवृत्तियां हमारे साहित्य में स्थान पा सकी हैं। ऐसी प्रवृत्तियों को प्रश्रय देकर कोई भी साहित्य विश्व-साहित्य की श्रेणी में स्थान नहीं पा सकता। ये ह्रासमूलक प्रवृत्तियाँ साहित्य के स्वरूप और प्राण-तत्त्व दोनों पर अपना विनाशकारी प्रभाव छोड़ रही हैं। प्रयोग के लिए प्रयोग, कुण्ठावाद, पराजयवाद आदि प्रवृत्तियाँ पश्चिम के सन्दर्भ में स्वाभाविक हो सकती हैं, किन्तु सद्यः-स्वाधीन और अग्रगामी अफ्रीकी-एशियाई देशों के सन्दर्भ में यह सर्वथा अरोपित प्रतीत होती हैं। टूटती हुई पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था और युद्धों से आक्रान्त समाज में ड्रेन-पाइप्स और बीटनिक्स समझे जा सकते है, किन्तु यहाँ उनका प्रचलन अन्धानुकरण के अलावा और क्या है ? सार्त्र, कामू,

हैमिग्वे, ग्रैहम ग्रीन, मॉम और औज़बर्न की रचनाएँ उन्नत और उदार मानवीय साहित्य की श्रेणी में सदैव नहीं आ पातीं। इस साहित्य के प्रवाह में मानों अनेक बाधाएँ आ खड़ी हुई हैं। इसके विपरीत हम आज के श्रेष्ठ भारतीय साहित्य में महानता के तत्त्वों का बाहुल्य पाते हैं। ऐसा लगता है कि भाषा के विश्व-व्यापी प्रसार के कारण कुछ साहित्य विश्व-मंच पर अनधिकृत प्रवेश पा गये हैं, जब कि बहुत-सा भारतीय साहित्य भाषा की सीमाओं के कारण अपने प्राप्य से वंचित रह गया है।

मुल्कराज आनन्द, आर० के० नारायण, भवानी भट्टाचार्य आदि लेखक अपने देश के प्राण-रस से उस प्रकार पोषित नहीं हुए हैं, जैसे टैगोर, प्रेमचन्द और शरत्-चन्द्र। अपनी जन्मधात्री भाषा के आधार पर ही हम अपनी प्रतिभा को शक्ति से व्यक्त कर सकते हैं, या उस भाषा के माध्यम से, जिसे हमने दीर्घ काल से मातृभाषा के समान ही अपना लिया है। यह तो निर्विवाद ही है कि किसी भी देश की साहित्यिक प्रतिभा उसी देश की भाषा अथवा भाषाओं के माध्यम से प्रकट होगी। आधुनिक भारतीय साहित्य के शिखर टैगोर हैं, जिन्होंने अपनी भाषा में ही मुख्यतः लिखा और उसे अधिक सम्पन्न और समर्थ बनाया।

हमें सर्वश्रेष्ठ भारतीय साहित्य का यूरोपीय भाषाओं तथा अफ्रीकी-एशियाई देशों की भाषाओं में अनुवाद करना है। रूसी में भारतीय साहित्य के अनुवाद की समस्या हमारे सामने नहीं है, क्योंकि सोवियत विद्वान इस काम में दत्तचित्त हैं। वे बराबर भारतीय भाषाओं के साहित्य का अनुवाद रूसी में कर रहे हैं। मार्कण्डेय, शेखर जोशी और अमरकान्त के समान तरुण पीढ़ी के कहानीकारों के अनुवाद भी रूसी में हो चुके हैं, और वे बराबर इस कार्य का विस्तार कर रहे हैं।

सफल अनुवाद के लिए मूल भाषा और अनुवाद की भाषा दोनों में समान गति वांछित है। भारत में हम अंग्रेज़ी अनुवाद की व्यवस्था तो बड़े पैमाने पर कर सकते हैं, किन्तु अन्य यूरोपीय, अमरीकी और अफ्रीकी-एशियाई भाषाओं में नहीं। इस कार्य को साहित्य अकादमी उठा सकती है और शासकीय मदद से पंचवर्षीय योजनाओं का एक महत्त्वपूर्ण अंग इसे होना चाहिए। अच्छा अनुवाद करना स्वतन्त्र साहित्य-सृजन से कम प्रतिभा का काम नहीं है। Fitzgerald के उमर ख़ैयाम के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है। इसी ऊँची कोटि के अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'मेघदूत' हैं।

भारतीय साहित्य के विदेशी भाषाओं में अनुवाद का कुछ कार्य यूरोप में हुआ है। यह मुख्यतः संस्कृत के साहित्य और टैगोर तक सीमित रहा है। इधर कुछ आधुनिक भारतीय साहित्य का अनुवाद भी प्रकाश में आया है। इसमें हुमायूँ कबीर द्वारा सम्पादित 'आधुनिक बंगला काव्य' है; 'Poetry' का भारतीय काव्य-सम्बन्धी विशेषांक है, प्रेमचन्द के 'गोदान' और उनकी कुछ कहानियों के अनुवाद हैं। इसी प्रकार के और भी कुछ प्रयास हुए हैं, किन्तु परिमाण की दृष्टि से वे सन्तोषप्रद नहीं हैं। विश्व-साहित्य में भारतीय-साहित्य के प्रवेश की समस्या मूलतः अनुवाद की समस्या है, भारतीय-साहित्य का स्तर उठाने की समस्या नहीं।

डॉ० कुमार विमल

सौन्दर्यशास्त्र के नये आधार

सौन्दर्यशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है ललित कलाओं के तत्त्वों का सैद्धान्तिक निरूपण। फलस्वरूप सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन जितना तत्त्वपरक एवं सैद्धान्तिक होता है, उतना ऐतिहासिक एवं तथ्यपरक नहीं। इसलिए सौन्दर्यशास्त्रीय अनुशीलन एक प्रकार का तत्त्वानुसन्धान या तात्त्विक विश्लेषण हुआ करता है। ऐसे सौन्दर्यशास्त्रीय अनुशीलन की आवश्यकता का सबसे बड़ा कारण ललितकलाओं का पारस्परिक अन्तःसम्बन्ध है। ललित कलाओं के इसी तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध और पारस्परिकता की परख के लिए सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की अपेक्षा होती है।

प्रारम्भ में ऐन्द्रिय सुख की चेतना का विवेचन सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का आधार था। बाउमगार्तेन के ज़माने तक सौन्दर्यशास्त्र संवेदनशील ऐन्द्रिय बोध का शास्त्र था और ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों का ज्ञान के माध्यम की दृष्टि से अध्ययन करना इसका लक्ष्य था। शायद, इसीलिए बाउमगार्तेन ने सौन्दर्यशास्त्र को 'Scientia sensitive quid cognoscendi' ('द साइन्स ऑफ़ सेन्सिटिव नॉलेज') कहा था। बाद में सौन्दर्यशास्त्र का आधार बना सौन्दर्य (व्यापक अर्थ में) का विश्लेषणात्मक निरूपण। अर्थात्, सौन्दर्यशास्त्र ऐन्द्रिय बोध से प्राप्त सौन्दर्य-भावन के मनोमय आनन्द का विश्लेषण करने लगा। और तब सौन्दर्यशास्त्र का आधार बना ललित कलाओं के तत्त्वों का सैद्धान्तिक निरूपण। अतः इस आधार के मुताबिक सौन्दर्यशास्त्र को कला-शास्त्र कहना अधिक उपयुक्त है; क्योंकि इसका सम्बन्ध सौन्दर्यानुभूति के सम्पूर्ण क्षेत्र से नहीं, केवल ललित कलाओं के माध्यम से अभिव्यक्त सौन्दर्य के साथ है। इस आधार को स्वीकार कर लेने के बाद भी सौन्दर्यशास्त्र के आन्तरिक गठन में अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। जैसे, हीगेल ने ललित कला के तार्त्विक विवेचन को सौन्दर्य-शास्त्र का आधार माना। किन्तु, क्रोचे ने हीगेल की इस मान्यता को अस्वीकृत कर सौन्दर्यशास्त्र को 'द साइंस ऑफ़ ऐक्स्प्रेसन' की आख्या देते हुए अभिव्यक्ति के विवे-चन-विश्लेषण को सौन्दर्यशास्त्र का आधार माना। इनके अनुसार अभिव्यक्ति की पुनः प्रत्यक्षात्मक तथा कल्पनात्मक क्रियाओं का अध्ययन-विश्लेषण करना सौन्दर्य-शास्त्र का उद्देश्य बन गया। परन्तु, इनकी इस धारणा पर भी आगे चलकर विप्रतिपत्ति की गई। तब लैंगर ने अभिव्यक्ति के विश्लेषण के बदले प्रभाव के विश्लेषण को सौन्दर्यशास्त्र का विवेच्य विषय माना, क्योंकि केवल अभिव्यक्ति के अध्ययन को

सौन्दर्यशास्त्र का आधार मान लेने से कला का अध्ययन मात्र रचना-पक्ष की दृष्टि से किया जा सकता है और तब सहृदय या पाठक की दृष्टि से कला का अध्ययन वृष्टि-छाया में पड़ जाता है। अतः लैंगर ने क्रोचे का प्रतिपक्ष उपस्थित करते हुए प्रभाव ('इम्प्रेसन') को महत्त्व दिया और प्रभाव-पक्ष के विवेचन-विश्लेषण को ही सौन्दर्य-शास्त्र का प्रमुख अध्येतव्य स्वीकार किया।

इस तरह बहुत दिनों तक सौन्दर्यशास्त्र का प्रधान आधार दर्शनशास्त्र रहा। सच पूछा जाए तो पहले सौन्दर्यशास्त्र दर्शनशास्त्र का एक अंग था और उसमें केवल दार्शनिक प्रणाली का चिन्तन रहता था। उपर्युक्त सभी विचारकों ने सौन्दर्यशास्त्र को दार्शनिक ऊहापोह-मात्र बनाकर उपस्थित किया है। कलाकृतियों के प्रत्यक्ष आस्वाद या अध्ययन से जो विकसित कलाचेतना अथवा रस-संवेदना पैदा होती है, उसका कोई समृद्ध कोश इन सौन्दर्यशास्त्रियों के पास नहीं था। इन्होंने दार्शनिक विजृम्भण के सहारे सौन्दर्यशास्त्र को केवल सैद्धान्तिक धरातल पर उपस्थित किया है और इन्होंने मात्र पुस्तकों के माध्यम से अर्जित ज्ञान के बल पर कला की मीमांसा की है। अतः इस तरह की सौन्दर्यशास्त्रीय मीमांसा में कलास्वाद से प्रति संवेदना नहीं मिलती है। इसमें विविध ललित कलाओं के बीच एक ऐसे अद्वैत को माना गया है, जो बहुतों की दृष्टि में अनेक ऋजु अथवा तिरश्चीन समताओं के भ्रामक आधार पर निर्भर है। तुलना की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि इस प्रकार का सौन्दर्यशास्त्र ग्रीक साहित्य के 'तेख़्ने' की तरह समग्र कलाओं के व्यक्तित्व को एक और अखण्ड मानता है तथा सभी रूपात्मक कलाओं के स्वरूप-भेद को चाक्षुष विभ्रम ('त्रोंप लईल') के रूप में स्वीकार करता है। अतः हीगेल, क्रोचे इत्यादि के सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण की परि-णति एक ऐसी दार्शनिक बावदूकता में हो गई, जो रूपात्मक कलाओं को बिम्ब-आधेय (इमेज-कंटेंट) मानकर और अरूपात्मक कलाओं को अमूर्त्त माध्यम से निष्पन्न संवेग-आधेय (इमोशन-कंटेंट) मानकर सैद्धान्तिक ऊहापोह में लीन हो गई। इस तरह स्पष्ट है कि सौन्दर्यशास्त्र का पुराना आधार दर्शनशास्त्र, विशेषकर ज्ञानमीमांसा (इपिस्टेमोलॉजी),[१] तात्त्विकी (ओंटोलॉजी) और मूल्य-दर्शन[२] (एक्ज़ियोलॉजी) है। आज भी यह आधार छूटा नहीं है, जिसका समर्थ संकेत हमें व्हितगेन्श्ताइन के विचारों तथा दार्शनिकता-प्रधान सौन्दर्यशास्त्र के प्रति आंग्ल-अमरीकी दृष्टिकोण में मिलता है। आज तक दर्शनशास्त्र की कई धाराओं (जैसे—'टोनिज़्म', 'इग्जिस्टेन्शियलिज़्म',[३] 'आइडियलिज़्म', 'फेनोमेनलिज़्म', 'लॉजिकल पॉज़िटिविज़्म' इत्यादि) ने सौन्दर्यशास्त्र को भूरिशः प्रभावित किया है। किन्तु, अब सौन्दर्यशास्त्र दर्शनशास्त्र की

१. ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की दो प्रणालियाँ प्रचलित रही हैं :— कलाकार की सौन्दर्यानुभूति और कला-निबद्ध वस्तु के सम्बन्धों तथा सन्दर्भों पर विचार, तथा कलाकृति के द्वारा अभिव्यक्त या प्रेषित कलाकार के बोध का विश्लेषण।

२. ह्वाइटहेड ने सौन्दर्यशास्त्र को एक प्रकार का मूल्य-सिद्धान्त (वैल्यू-थ्योरी) माना है। इस दृष्टि से सौन्दर्यशास्त्र मूल्य-दर्शन का एक अंश सिद्ध होता है।

३. Essays in Aesthetics by Sartre.

लक्ष्मण-रेखा में आबद्ध नहीं है, क्योंकि उसका वास्तविक उद्देश्य कलाशास्त्र का रूप धारण कर आलोचना का दर्शन ही नहीं, आलोचना का विज्ञान भी बनना है। अतः उसने ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं से कई उपयोगी सामग्रियों को उपजीव्य की तरह ग्रहण किया है। सम्भव है, इस कारण कुछ लोगों की दृष्टि में सौन्दर्यशास्त्र कला तथा सौन्दर्य से सम्बद्ध प्रश्नों का एक विजातीय सम्पिण्डीकरण बनता जा रहा हो। लेकिन इसे तो स्वीकार करना ही होगा कि अब सौन्दर्यशास्त्र एक 'एम्पिरिकल डिसिप्लिन' की हैसियत से कलालोचन के मूलभूत सिद्धान्तों तथा व्यावहारिक समीक्षण की विविध प्रणालियों के समीकरण से निर्मित व्यापक स्वरूप धारण करता जा रहा है।

सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र-विस्तार का कारण यह है कि इसकी विचारसीमा के अन्तर्गत ये सभी आ जाते हैं—(१) कलाकार, (२) दर्शक, पाठक या सहृदय, (३) कलानिबद्ध नन्दतिक वस्तु और (४) समाज। अतः दर्शनशास्त्र ही नहीं, मनोविज्ञान, विज्ञान, समाजशास्त्र इत्यादि भी सौन्दर्यशास्त्रीय निरूपणों के अकार-स्रोत हैं। इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र स्वभावतः आधार-बहुल है, क्योंकि इसके अन्तर्गत समाविष्ट विषय-सामग्री के अनेक परिसर हैं। सौन्दर्य-गुण, विशिष्ट रूप-विधान, अनुकरण, अभिव्यक्तिगत माध्यम, प्रातिभ स्फुरण, सत्य-शिव-सुन्दर, सादृश्याभास, लोकमंगल, अभिव्यंजना, आनन्द, संवेग, रस, समानुभूति, औदात्य, आलम्बन-विधान, अर्थातिशय, मिश्रित ऐन्द्रिय बोध इत्यादि अनेक ऐसे विषय हैं, जिनकी सम्यक् व्याख्या सौन्दर्यशास्त्र को अभीष्ट है। इनमें से किसी अध्येतव्य विषय का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है, किसी का काव्यशास्त्र से, किसी का समाजशास्त्र से तो किसी का दर्शनशास्त्र से। इसलिए सौन्दर्यशास्त्र को दर्शनशास्त्र के अलावा जिन अनेक नवीन आधारों की आवश्यकता पड़ी है, उनमें मनोविज्ञान, प्रायोगिक मनोविज्ञान, मनोविश्लेषणशास्त्र, समाजशास्त्र, जीवविज्ञान, भौतिकी, नृतत्त्वशास्त्र[1] इत्यादि की गणना हो सकती है। अतः स्पष्ट है कि विषय की दृष्टि से सौन्दर्यशास्त्र अत्यन्त लचीला, छितराया हुआ, अन्वितिहीन और व्यापक है। अर्थशास्त्र के विशेषज्ञों तक को सौन्दर्यशास्त्र ने परीशान किया है। इस प्रसंग में Sir Josiah Stamp के Aesthetics as an Economic Factor' शीर्षक लेख और एल० रॉबिन्स की प्रसिद्ध पुस्तक 'An Essay on the Nature and Significance of Economic Science' में संकलित 'Economics and Aesthetic' शीर्षक निबन्ध को स्मरण कर लेना पर्याप्त है। सौन्दर्यशास्त्र की इस व्यापकता से ऊबकर कुछ लोगों ने सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन को व्यर्थ माना है और उसके परित्याग को आवश्यक समझा है।

सचमुच दार्शनिक सौन्दर्यशास्त्र का कलाकारों की व्यावहारिक समस्याओं के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं रहा है। अतः अठारहवीं शताब्दि से ही सौन्दर्यशास्त्र के

१. I. A. Richards, 'Literary Criticism and the Sciences', collected in 'Speculative Instruments', Routledge & Kegan Paul, London, 1955, Page 12.

सम्बन्ध में यह धारणा प्रचलित रही है कि सौन्दर्यशास्त्र एक ऐसा फालतू विषय है, जो अनेक अतिव्यापक सामान्यानुमानों से काम चलाया करता है और विचाराधीन विविध कलाओं के पारस्परिक विशिष्ट पार्थक्य को देखने के नाम पर धृतराष्ट्र बन जाता है।[१] प्रो० पासयोर ने विगत दशक के कुछ पूर्व अपने एक बहुचर्चित निबन्ध 'The Dreariness of Aesthetics') में सौन्दर्यशास्त्र पर इस दृष्टि से विचार किया है और उन्होंने सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन को विभिन्न वस्तुओं पर कृत्रिम, कल्पित तथा थोथी अभिन्नता लादने का प्रमादपूर्ण प्रयास माना है। अतः सौन्दर्यशास्त्र को बहुत पहले से ऐसे नये आधारों की आवश्यकता थी, जो उसे एतादृश आक्षेपों से बरी कर सकें और वह विविध वस्तुओं या विभिन्न कलाओं के बीच केवल शशकशृंग अभिन्नता स्थापित करने का ढुलमुल साधन नहीं रहे। अतः अधुनातन सौन्दर्यशास्त्र का ध्यान विविध कलाओं की रचना-प्रक्रिया या सृजन-मनोविज्ञान के अध्ययन की ओर आकृष्ट हुआ है और वह प्रायोगिक मनोविज्ञान, विज्ञान, समाजशास्त्र, नृतत्त्वशास्त्र इत्यादि का सहारा लेते हुए अपनी परम्परासिद्ध दार्शनिक गरिमा के साथ अनेक प्रकार के आनुभाविक अनुसन्धानों के लिए प्रवृत्त है। फलस्वरूप, सौन्दर्यशास्त्र के आगमिष्यत् स्वरूप में मानव-ज्ञान की उन सभी शाखाओं का समाहार रहेगा, जो सौन्दर्यानुभूति और कला-सृजन की प्रक्रियाओं को समझने में उपयोगी सिद्ध होंगी।

इन अनेक संभावनाओं और आवश्यकताओं के कारण इस शताब्दि में सौन्दर्यशास्त्र के एक नये रूप—वैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र का प्रवर्त्तन हुआ है। वैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र आनुभाविक सामान्यानुमान-पद्धति (एम्पिरिकल इंडक्टिव मेथड) पर विवेच्य विषयों की मीमांसा प्रस्तुत करता है। यद्यपि यह विज्ञान के अन्य क्षेत्रों की तरह प्रयोगशाला की प्रणाली को पार्यन्तिक महत्त्व नहीं देता है, तथापि यह पूर्वमान्यताओं और सिद्धान्तों के तटस्थ तथा वस्तुनिष्ठ निरूपण में विश्वास रखता है, साथ ही, तर्कपुष्ट सरणि को ध्यान में रखकर क्रमबद्ध निरीक्षणों एवं अनुमानों पर निर्भर रहता है। फिर भी अब तक दार्शनिक सौन्दर्यशास्त्र और वैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र के बीच कोई निश्चित व्यावर्त्तक या व्यच्छेदक रेखा नहीं खींची जा सकती है। ये दोनों आवश्यकतानुसार एक-दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण करते रहते हैं। सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति का प्रथम प्रवर्त्तक गुस्ताफ थियोदोर फ़ेख़्नेर को माना जा सकता है। इन्होंने ही सम्भवतः सर्वप्रथम सौन्दर्यशास्त्र के दो प्रकारों—'इस्थेतिक फ़ोन ओबेन' और 'इस्थेतिक फ़ोन उन्तेन'—का निरूपण किया। प्रथम प्रकार की प्रणाली में सामान्य विचारों और धारणाओं से विशेष की ओर बढ़ा जाता है तथा दूसरे प्रकार की प्रणाली में विशेष से सामान्य की ओर उपनयन होता है, जिसका विकास आगे चलकर वैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र के रूप में हुआ। इस द्वितीय प्रणाली के अन्तर्गत ही फ़ेख़्नेर ने सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में प्रयोगिक परीक्षणों की परम्परा का श्रीगणेश किया। इसके बाद इस प्रणाली को वैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र की परिणति देने में लिख़्तनेर ह्वितमेर, ई० बुलो, ओस्त्वाल्द क्वेल्प, थियोदार

१. जैसे, होरेस का यह प्रसिद्ध कथन—'उत पिक्तूरा पोएसिस' (पोयेट्री लाइक ए पिक्चर)।

रसाइहेन और नॉर्मन सी० मायेर ने उल्लेखनीय योग दिया। इन लोगों के बीच भी वैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र को सैद्धान्तिक आधार देने की दृष्टि से नॉर्मन सी० मायेर (Meier) का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इन्होंने एक नये सिद्धान्त ('थ्योरी ऑव इंटर-लिंकेज') का प्रवर्त्तन किया, जिसमें इन छह तत्त्वों के अन्त:सम्बन्ध और परस्पराश्रय का निरूपण है :—१. हस्त्य निपुणता, २. ऊर्जा-उत्पाद और परिरक्षण, ३. नन्दतिक प्रज्ञा, ४. प्रतिबोधात्मक सुकरता, ५. रचनात्मक-कल्पना और ६. नन्दतिक निर्णय।

उपर्युक्त विवेचन से यह लक्षित होता है कि अनेक विद्वानों ने वैज्ञानिक सौन्दर्य-शास्त्र को स्वतन्त्र व्यक्तित्व देने का समवेत प्रयास किया है। किन्तु, कला-सृजन और कलात्मक भावना की नन्दतिक रंजनाओं को ध्यान में रखते हुए हम इस वैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र को अधिक महत्त्व नहीं दे सकते। दूसरी बात यह है कि वैज्ञानिक सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में जिसे हम प्रायोगिक अनुसन्धान (एक्सपेरिमेंटल इन्वेस्टिगेशन) कहते हैं, उसका सबसे कम उपयोग साहित्य या काव्य के सन्दर्भ में हुआ है। प्रायोगिक अनुसन्धान का कार्यक्षेत्र मुख्यत: चित्रकला और संगीत कला[1] की परिधि में सीमित रहा है। ई० डब्ल्यू० स्क्रिप्चर, डब्ल्यू० एम० पैटर्सन, एल० ए० शेर्मान, वर्नान ली, एफ० इ० स्पर्जियन इत्यादि जैसे विचारकों ने काव्य-कला के क्षेत्र में भी प्रायोगिक अनु-सन्धान को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है। इन लोगों के प्रायोगिक अनुसन्धान का विषय मुख्यत: इन उपशीर्षकों में बाँटा जा सकता है—छन्द-लय, स्वर-व्यंजनों की श्रावण पर्युत्सुकता, नाद-सौन्दर्य, प्रत्यय और उपसर्गो का भाषा-शैली पर प्रभाव, पद-शय्या और वाक्य-योजनामें में प्रसार तथा संक्षेप का अध्ययन एवं शैली के विश्लेषण में शब्द-गणना का महत्त्व। किन्तु, इन लोगों के अध्ययन की उपलब्धियाँ एतद्विषयक भारतीय काव्यशास्त्र की उपलब्धियों के समक्ष बचकानी लगती हैं। मालूम पड़ता है कि जिन क्षेत्रों को वृद्ध भारत बहुत पहले लाँघ चुका है, उनमें नया प्रवेश पाकर कुछ ज्ञानशिशु चलना सीख रहे हों। यह सच है कि इस प्रकार के अध्ययन ने अत्याधुनिक सौन्दर्यशास्त्र को पूर्व प्रचलित दर्शनशास्त्रीय और आदर्शवादी (नॉर्मेटिव) स्वरूप से पराङ्मुख कर कला-विवेचन की उस वैज्ञानिक अवधारणा की ओर उद्ग्रीव कर दिया है, जिसे जर्मन साहित्य में 'कुन्स्त ह्विसेन शाफ्त' (कला-विज्ञान) या 'आलगमाइनऽ-कुन्श्त ह्विसेन शाफ्त' (सामान्य कला-विज्ञान) कहा जाता है। इसके प्रवर्त्तन का श्रेय माक्स देस्वार को है। अमेरिका में भी वैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र की हवा पूरे वेग से चली है, जिसका पता टॉमस मुनरो के कुछ निबन्धों से चलता है। किन्तु अब तक

१. हाल में Rudolf Zaripov नामक रूसी गणितज्ञ ने एक विद्युदणु-संगणक ("Wral-one" electronic computor) के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि मशीन भी संगीत-रचना कर सकती है और संगीत-रचना के लिए किसी प्रातिभ रागात्मक सहज ज्ञान की परम्परा-प्रसिद्ध अनिवार्यता अनावश्यक है। Zaripov ने संरचना, लय, स्वरमान तथा स्वर-संगीत की दृष्टि से रूस के जनप्रिय गीतों की संगीतमयता का विश्लेषण करके कुछ ऐसे नियमों की स्थापना कर दी है कि उनके अनुसरण से विद्युदणु-संगणक पूरे स्वर-माधुर्य के साथ इच्छित गीत-संरचना कर लेता है और उसमें गत, सुरक्रम इत्यादि से सम्बन्धित कोई त्रुटि नहीं रहती है।

वैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र को पूर्णतः वैज्ञानिक धरातल नहीं मिल सका है। अतः अद्य-पर्यन्त उसकी निश्चित परिणति प्रतीक्षित ही है।

लगभग विगत सात दशकों से सौन्दर्यशास्त्र के सबल आधारों के बीच मनोविज्ञान का दर्शनशास्त्र के बाद दूसरा स्थान है। सौन्दर्यशास्त्र के मनोनीत आधारों में मनोविज्ञान का महत्त्व इतना बढ़ गया है कि सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की एक प्रणाली 'मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध हो गई है। इस मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र में सरलीकृत उद्दीपक-प्रत्यर्थक मनोविज्ञान से आगे बढ़कर उपनयन की इन तीन प्रणालियों का उपयोग किया गया है—मनोविश्लेषणात्मक, गेश्ताल्त (विशेषकर 'गहन अन्तः प्रतिबोधन' – 'डेप्थ पर्सेप्शन'—से संबद्ध) और प्रायोगिक। मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र को समृद्ध करने में इंग्लैण्ड के सौन्दर्यशास्त्रियों का उल्लेखनीय योग रहा है। ये सौन्दर्यशास्त्री मुख्यतः दो निकाय के हैं—'आइडियलिस्ट' और फॉर्मेलिस्ट'। फॉर्मेलिस्ट' यानी रूपविधानवादी विचारकों का कथन है कि सौन्दर्य का विश्लेषण हो सकता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध वस्तु-विशेष के आकृति-विधान से है। सौन्दर्य-सृष्टि के लिये किसी सहजानुभूति अथवा अन्तःप्रज्ञा की अनिवार्यता इन्हें स्वीकार नहीं है। इनके अनुसार बिन्दु, रेखा, कोण, छाया, ज्यामितिक आकृतियों और वर्णच्छटाओं से सम्बद्ध कुछ निश्चित नियमों के अनुसरण से ही वांछित सौन्दर्य की पर्याप्त सृष्टि हो सकती है। सौन्दर्यशास्त्र के नये आधार के अभ्यर्थियों ने 'सहानुभूति' (इम्पैथी—'आइनफ़्वेलुङ' और कार्ल ग्रूस का 'त्सुफ्वेलुङ्') के सिद्धान्त पर भी विशेष बल दिया है। सहानुभूति का सिद्धान्त हमारे प्रत्यक्षीकरण की गतिशील प्रत्यर्थताओं पर आधारित है। इस प्रत्यक्षीकरण की गतिशील प्रत्यर्थता में हमारी पूर्वानुभूति का महत्त्वपूर्ण योग रहता है, क्योंकि पूर्वानुभूतियों की सापेक्षता में ही हमारा कोई प्रत्यक्षीकरण सार्थक होता है। समानुभूति का अधिक सम्बन्ध रूपात्मक कलाओं का आकृतिमूलक कलाओं के साथ है, श्रव्य और अमूर्त्त कलाओं के साथ कम। कारण यह है कि समानुभूति के सिद्धान्त के अनुसार कलानुभूति सदैव एक वस्तुसम्पृक्त अनुभूति होती है। अतः इसकी विशेष गुँजाइश आकृतिमूलक या रूपात्मक कलाओं में रहती है, जिनमें वस्तुसम्पृक्तता का स्वभावतः आधिक्य रहता है। 'समानुभूति' की व्याख्या अनेक सौन्दर्यशास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से की है। अतः यह सिद्धान्त बहुत लचकीला हो गया है। इन्हीं रूपविधानवादी और मनोविज्ञान प्रेमी विचारकों ने प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र को भी संपुष्ट किया है।

सौन्दर्यशास्त्र के मनोवैज्ञानिक आधार के विवेचन-क्रम में ही फ्रायड का मनोविश्लेषणशास्त्र आता है, जिसकी सहायता से अचेतन की सरणि पर किसी कलाकृति और उसकी रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण किया जाता है। अनेक विचारकों ने इस मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से कला अथवा साहित्य का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया है। ऐसे विचारकों में फ्रायड के अतिरिक्त चार्ल्स मौरों, एरिख़ न्यूमान डब्लू० पी० विटकट, येलऽफ्रीमां शार्पे, सी० डब्ल्यू० वैलेंटाइन, ई० जे० फुर्लांग इत्यादि उल्लेखनीय हैं ! इन लोगों ने 'लिबिडो-थ्योरी' से लेकर 'सेक्सुअल थ्राल्डम' (thraldom)

तक की पृष्ठभूमि में कलाकृतियों की विवेचना की है। किन्तु, इस प्रकार का सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण, जो मनोविश्लेषण या अवचेतन-अन्वीक्षण को आधार मानकर चलता है, किसी कलाकृति के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाता है। कारण, मनोविश्लेषण के आधार पर कलाकृतियों के विषय या भाव पक्ष का ही विवेचन किया जा सकता है, उनके कला-पक्ष की शोभात्मक बारीकियों का नहीं। अतः भाव-पक्ष और कला-पक्ष के सम्यक् विवेचन की दृष्टि से मनोविश्लेषणात्मक सौन्दर्यशास्त्र एकाक्ष या एकांगी सिद्ध होता है। सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से मनोविज्ञान का जो समुचित उपयोग किया जा सकता है, उसका सुन्दर निरूपण हमें आइ० ए० रिचर्ड्स की कृतियों में मिलता है। 'द फाउण्डेशन्स आव एस्थेटिक्स' के कुछ अंश और 'प्रिन्सिप्लस आव लिटरटी क्रिटिसिज्म' के कई अध्याय इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं।

सौन्दर्यशास्त्र के नये आधार के अन्वेषकों ने मनोविज्ञान की तरह जीवविज्ञान का भी सहारा लिया है और इन लोगों ने सौन्दर्य-चेतना के विश्लेषण में पर्युत्सकता की प्रणाली, नेत्र-रचना और नेत्र-मस्तिष्क-सम्बन्ध से लेकर वनस्पति विज्ञान की 'वॉलवॉक्स कोलोनी' एवं सूर्यमुखी के 'टर्गर प्रेसर' (Turgor pressure) तक को समेट लिया है। किन्तु, इसे हम सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में अर्द्धवैज्ञानिक दृष्टिकोण की एक आकुल आपाधापी ही मान सकते हैं। इसी प्रकार की अर्द्धवैज्ञानिक आपाधापी हमें आर्थर लॉवेल के कल्पना-सिद्धान्त में मिलती है, जिसमें पदार्थ-विज्ञान और तत्त्व-वाद का विचित्र सम्मिश्रण उपस्थित करते हुए इन्होंने कल्पना को 'ईथर' की त्वरा के एक विशिष्ट रूप में ग्रहण किया है। निश्चय ही इस सिद्धान्त को निरूपित करते समय आर्थर लॉवेल के समक्ष 'ऑकल्ट साइंस' के 'आस्ट्रल लाइट' के अलावा हाइजेन्स द्वारा निरूपित प्रकाश का तरंग-सिद्धान्त रहा होगा (क्योंकि इस सिद्धान्त के मुताबिक तरंगित प्रकाश के बढ़ने का माध्यम 'ईथर' है), जबकि अधुनातन विज्ञान मैक्सवेल, हर्ज, माइकेलसन, आइन्स्टाइन, लुइडीब्रोई इत्यादि के अनुसन्धानों के बाद 'ईथर' को 'सुपरफ्लुअस' मानने लगा है। इस तरह लॉवेल के कल्पना-सिद्धान्त की अर्द्धवैज्ञानिकता और आचेष्टित झोंझ सर्वथा स्पष्ट है। सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में ऐसी प्रवृत्ति उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से अधिकतर फैली। इस प्रवृत्ति के चलते सौन्दर्यशास्त्रीय विश्लेषण में शरीर-विज्ञान और पदार्थ-विज्ञान का अवारितद्वार प्रवेश हो गया। फलस्वरूप, सौन्दर्यशास्त्र के दो नये रूप हमारे सामने उपस्थित हुए—'फ़िजियोलॉजिक एस्थेटिक्स' और 'फ़िज़िकल एस्थेटिक्स।' पदार्थ विज्ञानवादी सौन्दर्यशास्त्रियों ने अपनी विवेचना में विशेषकर दृग्विषय-विज्ञान (ऑप्टिक्स) और ध्वनि-विज्ञान (एकूस्टिक्स) को आधार बनाया तथा सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्वों की दैहिक व्याख्या करनेवाले विचारकों ने विभिन्न अंगों एवं नाड़ी-संस्थानों—प्रधानतः प्रमस्तिष्क रज्जु-चेतासंहति के अग्रभागीय पारिणाहिक अंगों (टर्मिनल पेरिफेरिक ऑर्गेन्स आव द सेरेब्रोस्पाइनल नर्वस सिस्टम) के आधार पर सौन्दर्यशास्त्र के विभिन्न तत्त्वों को विवेचित करने का प्रयास किया। यह अच्छा है कि पूर्वी गोलार्द्ध, विशेषकर भारत के विचारकों ने बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध, में पहुँचकर भी काव्यशास्त्र या सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में वह अर्द्धवैज्ञानिक आपाधापी प्रारम्भ

नहीं की है जो पश्चिमी गोलार्द्ध, विशेषकर यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध से ही प्रखर हो गई थी। सौन्दर्यशास्त्र के भारतीय विचारकों में अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और अहमद सिद्दीक़ मजनू ने प्रसंगवश शरीरविज्ञान सम्बन्धी दृष्टिकोण की चर्चा की है। श्री ठाकुर ने 'बागेश्वरी शिल्प-प्रबन्धावली' में 'शिल्प ओ देहतत्त्व' शीर्षक अध्याय में शरीरविज्ञान के अनुसार कला की दैहिक व्याख्या प्रस्तुत की है और मजनू गोरखपुरी ने 'तारीख़े जमालियात' के प्राक्कथन में डार्विन का खण्डन करते समय सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन में शरीरविज्ञान और जीवविज्ञान का चलता-फिरता उल्लेख किया है। मेरे कहने का आशय यह है कि सौन्दर्यशास्त्र अन्ततोगत्वा मानविकी (ह्यूमैनिटीज़) का अंग है, इसलिये उसका स्वाभाविक आधार जीवविज्ञान, शरीरविज्ञान या भौतिकी को नहीं बनाया जा सकता है। सौन्दर्यशास्त्र की अध्येतव्य विषय-सीमा में कुछ ही ऐसे स्थल हैं, जहाँ विज्ञान-लोक की किरणें इत:पूर्व अनुद्घाटित क्षितिजों पर कुंकुम और गुलाल बिखेर सकती हैं। जैसे, जीवविज्ञान, शरीरविज्ञान और मनोविज्ञान की समवेत दृष्टि ने कल्पना-तत्त्व पर कुछ नूतन प्रकाश उँड़ेल दिया है। अब यह सिद्ध हो चुका है कि रचनात्मक या नन्दतिक कल्पना मस्तिष्क की क्रिया से निष्पन्न होती है। अत: मस्तिष्क की क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण कल्पना का अनिवार्य सम्बन्ध प्रमस्तिष्क बाह्यक (सेरेब्रल कोर्टेक्स) के साथ रहता है। इस बाह्यक के अन्तर्गत बहुत से चेताकोश रहते हैं। ये सम्बन्धक चेताकोश बहुत ही संकुल होते हैं और इनकी संख्या भी शताधिक होती है। केन्द्र-शरीर से सम्बद्ध अनेक चेतालोमीय तन्तुओं (डेंड्राइट फाइबर्स) के सहारे ये अन्य कोशों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं और प्राप्त प्रेरणाओं को अन्य कोशों तक वैसे ही कृश तन्तुओं या लांगुलों के सहारे प्रेषित कर देते हैं। इस तरह ये चेताकोश पृथक् रहकर भी परस्पर सम्बद्ध रहते हैं और पारस्परिक संगति तथा सामाजिकता का निर्वाह करते हैं। अत: इनमें प्राप्त प्रेरणाओं की लयात्मक तरंगों का प्रतिध्वनन चलता रहता है। बाह्यक के अन्तर्गत पड़नेवाला एक चेताकोश केवल समीपी चेताकोश को ही अपनी प्रेरणा से तरंगित नहीं करता, बल्कि बाह्यक के अन्तर्गत अन्य दूरवर्त्ती चेताकोशों को भी वह समान रूप से तरंगित करता है। इस तरह कोई भी हल्की-से-हल्की प्रेरणा सम्पूर्ण मस्तिष्क को आन्दोलित कर देती है। अन्वेषकों ने वैद्युत मस्तिष्कीय बिन्दुरेख (इलेक्ट्रो एन्सेफैलोग्राफी) के सहारे इसकी सचाई का परीक्षण किया है। इन तथ्यों के आधार पर कल्पना की जीववैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिक व्याख्या करनेवाले विद्वानों की धारणा यह है कि साधारण ऐन्द्रिय अनुभूतियाँ ही कल्पना के लिये कच्चा माल प्रस्तुत करती हैं, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय अपनी प्रतिक्रिया, प्रत्यर्थता अथवा अनुभूति का संवाद बाह्यक के पास, अत: मस्तिष्क के पास भेजा करती है। मस्तिष्क में एक ऐसी शक्ति है, जिसके सहारे वह पूर्वानुभूत ऐन्द्रिय सम्वेदनों और अनुभूतियों को फिर से बुला लेता है, जिसे हम सामान्यत: 'स्मृति' कहते हैं। यह स्मृति किसी-न-किसी रूप में बाह्यक के पूर्वाघात-विशेष पर निर्भर करती है। इधर के प्रायोगिक परीक्षणों से यह पता चला है कि वही इन्द्रियानुभूति स्मृति हो सकती है, जिसका मस्तिष्कीय आघात या वैद्युत संक्षोभ कम-से-कम बीस

मिनटों तक ठहरता हो। जिस तरह स्मृति की भारतीय व्याख्या में यह माना गया है कि स्मृति के लिये संस्कारों को उद्बुद्ध करनेवाली परिस्थितियों अथवा वस्तुओं की आवश्यकता है, उसी तरह अधुनातन वैज्ञानिक भी मानते हैं कि स्मृति को जगाने के लिये वाह्यक पर अंकित प्रभावों या संस्कार-लेखों (कोर्टेक्स एन्ग्राम्स) को आन्दोलित अथवा उद्बुद्ध करने की ज़रूरत होती है। इसलिये एक स्मृति को जगाने में सहस्रों चेताकोशों को एक साथ सक्रिय होना पड़ता है। वैज्ञानिकों ने इस पर भी विचार किया है कि किस तरह का मस्तिष्क कल्पना के लिये विशेष समर्थ होता है। इनकी धारणा यह है कि जिस मस्तिष्कधारी के पास चेताकोशों की पर्याप्त संख्या रहती है, साथ ही जिसके सभी चेताकोश चेतोपागमिक (साइनैप्टिक) योजना-सूत्रों से परस्पर सम्बद्ध रहते हैं, उसी के पास रचनात्मक कल्पना करने की शक्ति रहती है। इस प्रकार विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की अधुनातन उपलब्धियों से सौन्दर्यशास्त्र के कुछ अध्येतव्य विषयों पर अनुपेक्षणीय प्रकाश अवश्य मिलता है, किन्तु, विज्ञान-लोक की चिरायु और अल्पायु—सभी उपलब्धियों से सौन्दर्यशास्त्र को आच्छन्न कर देना सौन्दर्यशास्त्र को मानविकी के स्वाभाविक क्षेत्र से विस्थापित कर देना है। वैज्ञानिक अन्वेषणों की प्रासंगिक सहायता लेते हुए हमें यह मानकर चलना होगा कि सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र विज्ञान से भिन्न है, उदाहरण के लिये, हम कला-जगत् (जो सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का क्षेत्र है) और विज्ञान-जगत् की प्रतीक सम्बन्धी अवधारणाओं के पार्थक्य पर विचार कर सकते हैं। विज्ञान-जगत् के प्रतीक सर्वथा निर्धारित एवं मान्य अर्थ रखते हैं। अतः वैज्ञानिक प्रतीकों के वास्तविक अभिप्राय और अर्थ-प्रपत्ति के सम्बन्ध में प्रयोक्ता और पाठक या श्रोता प्रायः एकमत होते हैं, क्योंकि प्रयोक्ता इन प्रतीकों का प्रयोग उसी परिनिष्ठित अर्थ में करता है, जिसे गृहीता उसी एतावत्व के साथ जानता है। किन्तु, कला-जगत् के प्रतीकों में प्रयोक्ता और पाठक, द्रष्टा या श्रोता के बीच किसी निर्धारित अर्थ या बोध्य विषय के लिये ऐसा विश्रब्ध ऐकमत्य नहीं रहता है। साथ ही, इनमें अर्थ की सम्भावनाओं और नमनीयता की विशेष गुंजाइश रहती है, क्योंकि ये केवल प्रयोक्ता ही नहीं, पाठक के ही कल्पना-बोध और उन्नत संवेदन से सापेक्षिक सम्बन्ध रखते हैं। इस तरह कला और विज्ञान की प्रतीक सम्बन्धी अवधारणाओं का पार्थक्य स्पष्ट है। अतः विज्ञान की कुछ शाखाओं को सौदर्न्यशास्त्र के नये आधार के रूप में स्वीकृत करते समय हमें सौन्दर्यशास्त्र और विज्ञान के क्षेत्रीय अन्तर तथा आस्पद-भेद को ध्यान में रखना चाहिये।

सौन्दर्यशास्त्र के नये आधारों में इतिहास तथा समाजशास्त्र की भी गणना की जा सकती है। मार्क्सवादी समीक्षा-प्रणाली ने सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन में इन शास्त्रों का अच्छा उपयोग किया है। इनकी उपयोगिता इस तथ्य पर निर्भर है कि मानव-चेतना के कुछ विशिष्ट सौन्दर्यशास्त्रीय संस्कारों और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों पर विशेष प्रकार के सामाजिक-आर्थिक विकास का स्पष्ट प्रभाव है। अतः सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन में 'डेप्थ-साइकोलॉजी' की तरह 'ऑर्गेनिक हिस्ट्री', 'डेप्थ हिस्ट्री', 'सोसियोमेट्रिक्स' इत्यादि के उपयोग की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। 'डेप्थ हिस्ट्री' की ओर लोगों का

झुकाव इसलिये हुआ है कि समाज की सतही घटनाओं, कुछ विशिष्ट व्यक्तियों अथवा युद्धों के घटनात्मक आलेखन से सामाजिक विकास के आन्तरिक सत्य का पता नहीं चलता है। अतः आधुनिक विचारक किसी महान अथवा साधारण घटना को समाज की उन प्रच्छन्न और संकुल प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में देखते हैं, जिनके अन्दर मनुष्य के सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक विकास-परिष्कार के सभी रहस्य छिपे हुए हैं। इस प्रकार के अध्ययन को हम 'हिस्टॉरिकल मेटाबॉलिज़्म' की प्रक्रियाओं का अध्ययन कह सकते हैं। किन्तु, सौन्दर्यशास्त्र के लिये विवेचनीय इस सामाजिक परिसर का पूर्ण उपयोग मार्क्सवादी समीक्षा-प्रणाली आर्थिक नियतिवाद (इकोनॉमिक डिटर्मिनिज़्म) की कठोर अवधारणाओं के कारण अब तक नहीं कर सकी है। तथापि मार्क्सवादी चिन्तन-प्रणाली ने सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के विकास में ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य किया है। प्लेखानोव्ह, कॉडवेल, बेलिन्स्की, दोब्रल्युबोव्ह, चेर्नीशेव्स्की, फ्रेडरिक अन्ताल,[1] एर्न्स्त फिशर[2] इत्यादि के द्वारा इस दिशा में किये गए कार्य उक्त तथ्य को प्रमाणित करते हैं। इन विचारकों ने यदि कला-विवेचन में मानव-मनोधातु (ह्यूमैन साइक) या मानसिक परिवर्त्तक (साइकिक ट्रान्सफॉर्मर) की अवहेलना न की होती, तो यह दृष्टि-कोण सौन्दर्यशास्त्र के लिए सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध होता और सौन्दर्यशास्त्र को पुनः किसी नये आधार के अन्वेषण की शीघ्र आवश्यकता नहीं पड़ती। इस दशक में कुछ ऐसे प्रयास किये गए हैं, जिनकी सफलता अब तक संदिग्ध है। जैसे, वाल्टर अऽबेल ने सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में समन्वय के माध्यम से 'युनिफाइड फील्ड' की स्थापना के लिये 'डेप्थ साइकोलॉजी' और 'डेप्थ हिस्ट्री' में सामंजस्य स्थापित कर 'द कलेक्टिव ड्रीम इन आर्ट'[3] शीर्षक प्रबन्ध का प्रणयन किया है। वाल्टर अऽबेल ने सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन की इस पद्धति को 'साइको-हिस्टॉरिकल', 'साइको-सोशल' या 'साइकोटेक्निकल एप्रोच' का नाम दिया है और अपनी कोटि के विचारकों को 'साइको-हिस्टोरियन' या 'साइको-टेक्नोलॉजिस्ट' कहा है।

सौन्दर्यशास्त्र के नये आधारों के विवेचन-क्रम में यह भी ध्यातव्य है कि अब तक हीगेल और क्रोचे जैसे पाश्चात्य विचारकों से लेकर दासगुप्त, मर्ढेकर, कान्तिचन्द्र पाण्डेय और सुरेन्द्र बारलिंगे जैसे भारतीय अध्येताओं तक—सबों ने सौन्दर्यशास्त्र को केवल सैद्धान्तिक निरूपण की सीमा में उपस्थित किया है और उसे एक दार्शनिक परिधि में बाँध रखा है, जबकि सौन्दर्यशास्त्र को व्यावहारिक आलोचना के धरातल पर भी उतरना चाहिए। व्यावहारिक आलोचना से दूर रहना सौन्दर्यशास्त्र के लिए हिता-वह नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक आलोचना की प्रवृत्ति के बिना सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं के दार्शनिक विकल्पों और समस्याओं का सैद्धान्तिक निरूपण-मात्र बनकर रह जाता है। अतः वस्तुनिष्ठ विचारक सौन्दर्यशास्त्र से घबराते रहे हैं और इसे दार्शनिक

---

१. Florentine Painting and its Social Background.

२. The Necessity of Art, translated by Anna Bostock, Penguin Books, 1963.

३. Watler Abell, Cambridge : Harward University Press, 1957.

वाग्विलास से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहते हैं। कहने का आशय यह है कि अब तक सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन में सूक्ष्म तात्त्विक सिद्धान्त-परिकल्पन के लिए जो आवेश रहा है, उसे नियन्त्रित करना होगा और सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन को व्यावहारिक आलोचना के निकट लाकर हमें सौन्दर्यशास्त्र का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व गढ़ना होगा, अन्यथा सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप को दर्शन, तत्त्ववाद और मनोविज्ञान ग्रस लेगा, जिसका क्वाचित्क संकेत सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास अब तक देता है। मेरी दृष्टि से अब वह समय आ गया है, जबकि सौन्दर्यशास्त्र और आलोचनाशास्त्र के पार्थक्य को मिटा देना चाहिए। इतःपूर्व अधिकांश विचारकों ने सौन्दर्यशास्त्र और आलोचनाशास्त्र के बीच एक अभेद्य लौहावरण को उपस्थित कर रखा है। इस अभेद्य लौहावरण ने सौन्दर्यशास्त्र और आलोचनाशास्त्र—दोनों का अपकार किया है। यह भेदकता इसलिए भ्रामक है कि आलोचक को अपने कार्य की सिद्धि के लिए सौन्दर्यशास्त्र का और सौन्दर्यशास्त्री को अपने व्यावहारिक विश्लेषणों की वस्तुनिष्ठ परिणति के लिए आलोचनाशास्त्र का सहारा लेना पड़ता है। जब एक सौन्दर्यशास्त्री किसी कलाकृति की निपुणता, उच्चावच शोभा या अभिव्यक्ति-लाघव का विश्लेषण करता है, तब वह किसी आलोचक से भिन्न नहीं रहता है और जब कोई आलोचक आलोच्य कलाकृति के विवेचन-विश्लेषण के बाद सूक्ष्म सैद्धान्तिक अवधारणाओं या दार्शनिक विकल्पों को प्रस्तुत करता है, तब वह किसी सौन्दर्यशास्त्री से भिन्न कार्य नहीं करता। सच यह है कि सौन्दर्यशास्त्र आलोचना के धरातल पर उतरकर निकष बन जाता है और आलोचना सौन्दर्यशास्त्रीय स्तर पर पहुँचकर ज्ञानकोश बन जाती है। अतः इन दोनों को अयुतसिद्धावयव स्वरूप देना आवश्यक है।

सौन्दर्यशास्त्र के लिए नये आधारों की आवश्यकता का एक कारण यह भी है कि जिस तरह साहित्यालोचन में अब तक काव्यालोचन (काव्यशास्त्र) की प्रधानता है उसी तरह सौन्दर्यशास्त्र में अद्य-पर्यन्त काव्य-विमर्श की ही प्रधानता रही है। बहुत पहले की बात दूर रही, अत्याधुनिक सौन्दर्यशास्त्र ने भी उपन्यास, कहानी, लघुकथा, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज इत्यादि पर उचित विचार नहीं किया है। इसलिए सौन्दर्यशास्त्र के नये आधारों के चयन और उसके स्वरूप-विस्तार की चेष्टा के समय हमें साहित्य की उन अनेक नवीन विधाओं को भी ध्यान में रखना चाहिए, जिनकी ओर सौन्दर्यशास्त्र अभी अच्छी तरह मुखातिब नहीं हो सका है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्यशास्त्र के आगमिष्यत् स्वरूप में ज्ञान-विज्ञान के विविध विकास और मानविकी की विभिन्न शाखाओं के बीच समन्वय तथा संयुजता (कोऑर्डिनेशन) स्थापित करने की विशेष प्रवृत्ति रहेगी। उसका प्रयास युग-विकास के अनुसार विकसित संवेदनाओं के नये स्वरूप, रस-प्रबोध के नूतन सन्दर्भ तथा अत्याधुनिक संकुल सौन्दर्य-चेतना के विचक्षण सम्बन्धों के निकटतर अध्ययन की ओर रहेगा अन्यथा वह सतत विकासमान 'एस्थेटिक कंटिनुअम' के साथ चलने में पश्चात्कृत हो जाएगा और अनेक प्रकार की नवीनताएँ एकजुट होकर उसकी स्वीकृत पूर्वमान्यताओं को झकझोर देंगी।

डॉ० रमेश कुंतल मेघ

सौंदर्यबोधशास्त्र के नए आयाम

कला, कलारचना और कलाकृति का दर्शन, मीमांसा, इतिहास और आशंसा को संयोजित करने वाली विद्या और विज्ञान को सौन्दर्यबोधशास्त्र (एस्थेटिक्स) कहा जा सकता है। इस कलाशास्त्रदर्शन में एक विलक्षण मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक 'बोध' और एक प्रधान 'सौन्दर्य' मूल्य का आधान होता है। इस शास्त्रदर्शन में देशकाल निपरेक्ष्य सार्वभौम सिद्धान्त, तथा देशकाल सापेक्ष्य विशेष मीमांसा दोनों होती हैं। इसमें जो सिद्धान्त सार्वभौमिकता (Universality) से प्राप्त होते हैं वे सभी कलाओं पर लागू हो सकते हैं, तथा जो मीमांसा विशिष्टता (Particularity) से प्राप्त होती है वह इतिहास और संस्कृति की शैलियों का उद्घाटन करती है।

लेकिन सौन्दर्यबोध शास्त्र के 'नये' आयामों का सन्दर्भ तथा विवरण रोचक और जटिल है। यह नवलता शुरू कहाँ से होती है, इस पर भी मतभेद हो सकते हैं। सरलता के लिए हम कह सकते हैं कि ग्रीक और रोमन परम्पराओं से बाहर निकलने पर सौन्दर्यबोधशास्त्र के नये आयाम खुलने लगते हैं। रेम्ब्राँ से पिकासो पर आने पर हम चित्रकला में नये आयाम पाने लगते हैं, लियोनार्दो से फेकनर पर आने पर सौन्दर्यबोध के प्रयोगात्मक (experimental) पहलू उभरने लगते हैं, बॉमगार्टन से हाउज़र तथा कैसीरर पर आने पर कलादर्शन के प्रतिमान बदल जाते हैं। मूलरूप से सौन्दर्यबोध के नये आयामों को खोलनेवालों में सर्वप्रथम बॉमगार्टन (१७१४-१७६२) थे जिन्हें कांट का द्रोणाचार्य-गुरु कहा जा सकता है। बामगार्टन ने 'सौन्दर्यबोधशास्त्र' के साथ-साथ 'दार्शनिक काव्यशास्त्र' की भी नींव डाली। उन्होंने "Meditationes philosophicae de nonnullis ad poema pertinentibus" नामक ग्रन्थ में कहा कि काव्य में जो पुनर्प्रस्तुतीकरण होता है वह स्पष्ट और स्वच्छ न होकर अस्पष्ट और अन्तर्विलीन (confused) होता है। इस अंतर्विलयन के कारण काव्यबोध में प्रसारी स्पष्टता आ जाती है। काव्यदर्शन में तर्कशील (रीज़न) की प्रधानता की वजह से ही क्रमरचना की जिम्मेदारी आ जाती है जिसका मतलब यह होता है कि स्पष्ट एवं अन्तर्विलीन ऐंद्रियिक बोध तर्कशील के स्वच्छ बोध के अनुगामी हो जाते हैं। कांट, सुशाने लैंगर, हास्पर्स आदि ने अनुभूति, तर्कशील, स्वरूप आदि की अपनी धारणा-निर्मितियों में बॉमगार्टन से महती प्रेरणा प्राप्त की है। उन्होंने कलाविषयक आदर्श वैज्ञानिक स्पष्टता का प्रतिपादन किया है। नये आयामों की दूसरी दिशा चित्रकार

पिकासो ने उद्घाटित की। आधुनिक पिकासो ने अफ्रीका के क़दीम कबीलों की कलाकृतियों (विशेषत: मुखौटों, स्वरूपविधान और अलंकरण) से नये प्रयोजन प्राप्त करके सौन्दर्यबोध की नयी लोचनटीका रची। सन् १८८८ में पेरिस में अफ्रीकी कला की प्रदर्शिनी से आन्दोलित गोग्याँ और वॉन गाग़ ने भी आदिम कला में एक नवीन यथार्थता का दिग्दर्शन किया जो रिनैसाँ, बाइजेंटाइन या बैरोक कला में थी ही नहीं। आदिम कलाकार मनुष्यता के शैशव और अपनी संस्कृति के स्वप्नकाल (dream time) में जीवित रहता था। उसने वस्तु के बजाय 'वस्तुप्रतीक' का अंकन किया था। आधुनिक सौन्दर्यबोध शास्त्र की प्रत्यक्षज्ञानवादी (Phenomenological) शाखा ने इस नये अन्वेषण से बहुत कुछ सिद्धान्त प्राप्त किये हैं। नये आयामों की तीसरी दिशा का आरम्भ प्रयोगवादी मनोविज्ञान से होता है जिसकी नींव सन् १८७६ में फेकनर ने डाली। उन्होंने वर्णसंयोजन और अनुपम आकृति (Golden Section) के प्रतिमान खोजे। उन्होंने यह सिद्ध किया कि सौन्दर्य हमें सीधे और तत्काल सुख प्रदान करता है जो केवल आत्मचिन्तन (Reflection) से ही नहीं, सहसम्बन्धता—आकृतियों की सहसम्बन्धता (Consequence) से भी उद्भूत होता है। उन्होंने कलात्मक बोध के बजाय वैज्ञानिक गम्भीरता की प्रतिष्ठा की। इस परम्परा को सेम्पर, हेंस्लिक, फीडलर, रीग्ल और वॉफ़लिन, हैरीली और वेलेंटाइन आदि ने आगे बढ़ाया। गणितशास्त्रीय सौन्दर्यशास्त्र को गति देने वालों में बिरकाफ़ तथा हेयल की पहल रही है। दर्शनशास्त्र से अनुवादित सौन्दर्यबोधशास्त्र के नये आयामों में मार्क्सवादी जार्ज लुकाक्स और अस्तित्ववादी सार्त्र तथा मरलो पोंटी की मौलिक देनें हैं।

सुन्दरता के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की नई दिशाओं ने दो पहलुओं पर ज़ोर दिया है—(i) मनुष्य के अपने मस्तिष्क की कार्यप्रणाली क्या है तथा (ii) कला के आनन्द और सौन्दर्य का अध्ययन किस तरह किया जाय। चित्र, संगीत और कविता को प्रारूप (माडल) बनाकर प्रयोगवादी मनोवैज्ञानिकों ने स्कूलों के बच्चों, कालेजों के विद्यार्थियों तथा विभिन्न पेशों के लोगों के समूहों पर प्रयोग करके कई तथ्य प्राप्त किये हैं। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के अन्वेषणों के अनुसार सुख का भोग (enjoyment) तथा सौन्दर्य की आशंसा (appreciation) एक और एकसमान नहीं हैं; करुणा (pathos) किसी चित्र या कविता में सौन्दर्य की सम्वृद्धि भी कर सकता है, और त्रासदी के रसास्वादन में सुख (pleasure) से कुछ अधिक होता है। अत: सुख और सौन्दर्य एकधर्मा नहीं हैं। और न ही सौन्दर्यात्मक संवेग जैसा कोई मनोभाव है। इसके मूल में अनुभूतियों (feelings) तथा एक विशिष्ट मनोवृत्ति (attitude) का समरस (हार्मोनियस) मेल होता है। इसके अलावा सौन्दर्यबोध की दशा में हम अपने स्व से परे (disinterested) हो जाते हैं और हमारा ध्यान सौन्दर्यवस्तु पर केन्द्रित होकर एकतान हो जाता है। इस दशा में उत्तेजकता और विश्रांति (stimulation and repose) दोनों का सहअस्तित्व होता है। सौन्दर्यवस्तु से उद्भूत संवेग (emotion) का मनोवैज्ञानिक वैशिष्ट्य यही है। मनोवैज्ञानिकों ने यह स्पष्ट किया है कि सौन्दर्यानन्द के सच्चे क्षणों में हमें सौन्दर्यवस्तु 'सुन्दर' प्रतीत होती है, न कि उसके

प्रति हमारा अनुभव। सौन्दर्य की बहिर्मुखता तब अन्तर्मुखी होती है जब हम एक सौन्दर्यबोधशास्त्री या मनोवैज्ञानिक के नज़रिये से परीक्षण करना शुरू करते हैं। कविता में छन्द इस विशिष्ट हिप्नोसिस दशा को गति देते हैं तथा चित्र में रंग-संयोजन की मनोवैज्ञानिक प्रभविष्णुता। बुलो ने रंग के चार पक्षों का प्रमाणीकरण किया है—(i) बहिर्गत पक्ष : गाढ़े, शुद्ध और चमकीले रंग सुखद; तथा पतले, धुँधले, बुझे रंग दुःखद; (ii) शरीरशास्त्रीय पक्ष : उत्तेजक, उपचारक और आवेशक रंग सुखद; चकाचौंध करनेवाले, चिड़चिड़ानेवाले रंग दुःखद; (iii) साहचर्यमूलक पक्ष : कोई रंग किसी विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति से जुड़कर तदनुकूल हो जाता है। तथा (iv) चारित्रक पक्ष : उल्लासपूर्ण, निर्भय, शक्तिमान, सत्यप्रिय, संवेदनशील होने के कारण रंग पसन्द किये जाते हैं; तथा ज़िद्दी, धोखेबाज, आक्रामक होने के कारण नापसन्द किये जाते हैं। यहाँ रंगों का मानवीयकरण हो जाता है। आइजेंक और मोनरो ने बुलो की स्थापनाओं का विकास किया है। इसी तरह रेखाओं के मनोविज्ञान के आधार पर पाया गया कि किसी आकार (size) या रेखा (line) की सुखदता दर्शक की दूरी के अनुपात से घटती-बढ़ती है। सुखदता का क्रम यों है—पहला—वृत्त (circles); इसके बाद क्रमशः सीधी रेखाएँ; काँपती हुई रेखाएँ, अंडाकार गोल (ellipse); और अन्ततः वृत्तों के चाप (arcs)। यह प्रभाव नेत्रों की यात्रा और अन्तरानुभूति (empathy) दोनों पर आश्रित है। कई लोगों को रेखाओं के द्वारा विशिष्ट अनुभूतियाँ होती हैं।

एक बात अवश्य है कि ये प्रयोग हमें मानस की कार्यविधि की गहराई में तो ले जाते हैं, लेकिन ये अंश और खण्ड का ही अनुसंधान कर पाते हैं। इसके अलावा ये प्रयोग विशेष देश, संस्कृति और प्रयोज्य की मनोदशा से जकड़े होते हैं जिससे इनकी सार्वभौम प्रामाणिकता नहीं प्राप्त होती। यहाँ हम थोड़े उदाहरण ही दे सके हैं क्योंकि इन प्रयोगों की संख्या और विविधता बड़ी रोचक है। इस क्षेत्र में मनोओषधि शास्त्र (Psycho-pharmacology) के प्रवेश ने कलाकार के व्यक्तित्व के परिवर्तन तक में गम्भीर और क्रांतिकारी प्रयोग किये हैं, दवाओं और गोलियों की निश्चित मात्रा देकर संवेगों को उभारने, दबाने और बदलने की प्रणालियाँ खोज ली हैं ; तथा अवचेतन के गहरे (unconscious) पक्ष के अलावा ऊँचे (high) पक्ष के अक्ष को भी खोज लिया है। 'डेप्थ मनोविज्ञान' ने कलाशास्त्र को दो प्रकार के बिंबों को दिया है—'cognitype' तथा 'dynatype'। ये बिम्ब चेतनता की प्रतीकात्मक अभिव्यंजना के रहस्यों को खोलते हैं। ये सभी स्वतन्त्र विषयों का दर्जा प्राप्त कर चुके हैं। यहाँ हम यह ध्यान दिलाना चाहते हैं कि मनोविज्ञान की नयी दिशाओं ने मनोविश्लेषण के न्यूरोटिक और सेक्स-केन्द्रित आधार को लगभग छोड़ दिया है। अब सेक्स-केन्द्रित प्रतीकात्मक अभिव्यंजना का स्थान चिति केन्द्रित (psyche) बिम्बात्मक अभिव्यंजना ने ले लिया है। मनोविज्ञान की जेस्टाल्ट शाखा ने सौंदर्यबोध-शास्त्र को अधिक समृद्ध किया है। जेस्टाल्टवादी प्रत्यक्षीय संगठनकारी प्रक्रिया (perceptual organising process) को प्रधान मानते हैं। उनके अनुसार यह प्रक्रिया मूलतः तटस्थ है और

विशेषत: रूपाकारों (Patterns) एवं सम्पूर्णों (wholes) की संरचना करती हैं । यह प्रक्रिया सौंदर्यात्मक क्रिया के सृजनात्मक एवं आशंसात्मक पक्षों का निरूपण कर सकती है । आर्नहाइम ने समसंतुलन (equilibrium) की धारणा को प्रसिद्ध किया । कलाआशंसा के क्षेत्र में पेप्पर और रालिंसन ने जेस्टाल्ट का भरपूर उपयोग किया है । जेस्टाल्ट ने आधुनिक सौंदर्यबोध-शास्त्र के चित्रकला रूप पर अपना ध्यान सर्वाधिक केन्द्रित किया है । एक्स-किरण-विश्लेषण के द्वारा उन्होंने शैली, सृजन-ऊर्जा और रूप—इन तीनों का गहरा अन्वेषण किया । इन्फ्रा-रेड-विकीरण के द्वारा उन्होंने माइकेलएंजिलो के भित्ति-चित्रों तथा बोटिचेली और रापेल के तैलचित्रों के अन्दर की महीन पर्तों की विभिन्न तरंगदैर्घ्यों वाली एक्स-किरण-चित्रमाला लेकर छाया और आलोक, मुख, बाहुओं, अँगुलियों, कमर, वस्त्राभरणों आदि के विकास और परिवर्तन का क्रम निर्धारित किया है । इस भाँति उन्होंने शैली और सृजन-प्रक्रिया दोनों के क्षेत्र में क्रांतिकारी उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं । एक्स-किरण दृश्यमान रंग पर्तों के नीचे छिपी हुई अवचेतन दुनिया को खोज लाती है । इसलिए जेस्टाल्ट ने कलाकार की इच्छाशक्ति के अनुभव को नापने का एक फार्मूला दिया । इसके अनुसार कलाकार की सृजन-ऊर्जा 'ऊ-सृ' है; चित्र की सम्पूर्ण प्रकृतस्थ ऊर्जा 'ऊ-पृ' है । जब चित्र तैयार हो जाता है तब 'ऊ-मु' नामक मुक्त ऊर्जा बच रहती है । यदि हम सारी व्यवस्था की ऊर्जा 'ऊ' मानें और उसे स्थिरांक भी मान लें तब [जटिलता और सीमा को स्वीकार करने पर] ऊ=ऊ-सृ+ऊ-पृ+ऊमु । किसी महान् और बड़े चित्र में मुक्त ऊर्जा ऊ-मु तुलनात्मक रूप से बहुत कम होती है, लेकिन किसी घटिया और कमज़ोर चित्र में यह बहुत अधिक होती है । जेस्टाल्ट मनोविज्ञान इस मुक्त ऊर्जा का ही सर्वाधिक विश्लेषण करता है—क्योंकि यही प्राप्त करके ग्राफ में अंकित की जा सकती है और यही चित्र की स्थिरता और सौंदर्यानन्द की नियामक है । अत: आदर्श समीकरण में "ऊ-मु=O" का सम्बन्ध होना चाहिए । आकृतियों और रंगों के अनेक परिवर्तन चित्रकार की सृजन-ऊर्जा की मात्रा के खर्च का ब्यौरा देती है; वह उसके स्नायविक तनावों का भी पूरा अनुमान देती है । जब न्यूनतम अवस्था बीत जाती है तब 'ऊ-मु' बड़ी तेज़ी से बढ़ना शुरू हो जाती हैं । इस आधार पर हम एक ओर तो चित्रकार के समाधिस्थलों का पता लगा लेते हैं, तो दूसरी ओर उसकी समाधिभंग के क्रम का । इस ऊर्जा को कविता में समय के घटक तथा चित्र में क्षेत्रफल के घटक पर अंकित कर सकते हैं । इन घटकों को 'लम्बाई की शक्ति' कहा जाता है ।

यदि हम प्रत्येक चित्रकार के प्रत्येक चित्र, तथा प्रत्येक शैली के प्रत्येक चित्र, या प्रत्येक आन्दोलन के प्रत्येक चित्र का ऐसा टिप्पण कर लें तो 'शैली' और 'रूप' और 'सृजन प्रक्रिया' की कई अतिवैज्ञानिक प्रपत्तियाँ कर सकते हैं ।

अवचेतन और सेक्स के केन्द्रों का परित्याग करने में सोवियत मनोविज्ञान ने भी 'पूर्ण' की विवेचना में मस्तक (brain) और कार्य (work) के सम्बन्ध ढूंढ़ने में पावलोव के 'सम्बद्ध प्रत्यावर्तन' (conditioned reflex) के सिद्धान्त को आधार बनाया है । समाजवादी मनोवैज्ञानिक कला को 'प्रकृति की सौंदर्यबोधात्मक टैक्नॉलाजी' मानते

हैं। प्रकृति के द्वन्द्वमान (dialectics) के अनुसार कार्य केवल परिवेशी प्रकृति का पुर्नानिर्माण ही नहीं करता, वल्कि मनुष्य को [प्रकृति के प्रति] अभिदान [एडजस्टमेंट] के योग्य भी बनाता है। कार्य हमारे परिवेश और मनोविज्ञान दोनों की पुनर्रचना करता है। मनुष्य के द्वारा यथार्थता का अवज्ञान दो चरणों में होता है। पहला चरण 'प्राथमिक संकेत व्यवस्था' (First Signal System) का है जिसके द्वारा वह इन्द्रियों के द्वारा संवेदना ग्रहण करता है, तथा दूसरा चरण 'द्वितीयक संकेत व्यवस्था' (Second Signal System) का है जिसके द्वारा वह उच्चतर स्नायुमण्डल और अमूर्त चिंतन के द्वारा व्यवस्थित क्रम की रचना करता है। जब द्वितीयक संकेत व्यवस्था में तनाव और जटिलता आती है तब सृजन की 'पीड़ा' का अनुभव होता है। कार्यविधि की गतियाँ १५ मानी गई हैं [striking, pressure, traction, cutting, wedging, rubbing, rotating, weaving, sawing, loosening, planing, moulding, grinding, screwing, piling] जिन्हें प्रशिल्प (techneme) कहा गया है। प्रशिक्षण के द्वारा प्रशिल्प अधिक क्रमिक और परिष्कृत हो जाते हैं, अर्थात् प्रशिल्प अधिक सुन्दर हो जाते हैं। प्रशिल्पों का सम्बन्ध माँसपेशियों तथा स्नायुमण्डल दोनों से होता है। इस तरह प्रशिल्प प्राथमिक और द्वितीयक संकेत व्यवस्था एकतान हो जाती हैं। इस भांति सृजनप्रक्रिया एक प्रत्यावर्तन जैसी हो जाती है जिसमें प्रयोजन की भूमिका खेल, श्रम, कला, ज्ञान आदि के लक्ष्यों को निर्धारित करती है। यह लक्ष्यप्राप्ति द्वितीयक संकेत व्यवस्था प्रशिल्प के माध्यम से करती है। माँसपेशियों में कर्म और विश्राम की गति से ताल का सृजन होता है। प्रेरणा और पीड़ा (inspiration and fatigue) में यह ताल अनुपात से घटता-बढ़ता है। उदाहरण के लिए सामान्यतः अँगुलियों को गति देने वाली माँसपेशियाँ आठ या नौ बार तक सिकुड़ती हैं किन्तु सितारवादक रविशंकर या येहुदी मेनुहिन की अँगुलियाँ इससे अधिक सिकुड़ती हैं क्योंकि उनमें रूपान्वयन प्रत्यावर्तन (orienting reflex) के कारण ताल की तल्लीनता भी उत्पन्न हो जाती है। सृजन के क्षणों में मस्तक में रासायनिक तब्दीलियों का अध्ययन आइसोटोप-पद्धति से किया जाता है। गाइगर योगक (Geiger Counters) उन रेडियो-सक्रिय कणों को चीन्ह लेते हैं जो भोजन, वायु आदि के द्वारा प्रविष्ट कराये जाते हैं। ई० एम क्रेप्स ने सृजन-प्रक्रिया के दौर में मस्तक के उत्तेजित अंशों का अध्ययन, और उनमें रक्तमात्रा का मापन करके सृजन की मात्रा और गुण दोनों का अंकन किया है। बीमार, जागृत, स्वप्नलीन और सृजनमुग्ध व्यक्तियों के मस्तक की यह विधि 'इलेक्ट्राएंसीफालोग्राफी' कहलाती है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना लाजिमी है कि यह विधि व्यक्ति के **विचारों** का भाव नहीं करती, बलिक कर्मनिरत मस्तक के **भौतिक** परिवर्तनों का लेखा-जोखा करती है। इस विकास की वैज्ञानिक परिणति 'साइबरनेटिक्स' (Cybernetics) के विकास में हुई है। साइवर्नेटिक्स नियन्त्रण और संप्रेक्षण प्रविधियों (mechanism) का अध्ययन करती हैं। शेन्नान और नार्बिट वाइनर ने इस क्षेत्र में अद्भुत काम किया है। यह मशीनों, तथा जीवित शरीरतन्त्र, उनके स्नायुमण्डलों और मानवीय समाजों—इन चारों की सूचना, नियन्त्रण और संप्रेषण

प्रणालियों का अध्ययन करती है। इस क्षेत्र में स्मृतिइकाइयों (memory units) का प्रयोग 'साहचर्य' और 'कल्पना' के असंख्य अनजान आयामों का उद्‌घाटन कर रहा है।

साइबर्नेटिक्स की तरह 'सृजनप्रक्रिया के वैज्ञानिक अध्ययन तथा शिक्षा में उसके उपयोग' के लिए "साइनेटिक्स" (synectics) का भी नया विकास हुआ है। सन् १९६१ में डब्लू जे० जे० गोर्डन ने इसे प्रयोगशील प्रयोगशालाओं का विषय बना दिया। साइनेक्टिक्स सिद्धान्त तीन प्रतिकल्पों पर आधारित है—(i) मनुष्यों में सृजन-प्रक्रिया का मूर्त विवरण दिया जा सकता है और इसका उपयोग अध्यापन-प्रणालियों के सुधार में हो सकता है, (ii) विज्ञान और कला में अन्वेषण एक-जैसे हैं और उसी मौलिक बौद्धिक पद्धति के द्वारा प्राप्त होते हैं, तथा (iii) वैयक्तिक सृजन प्रक्रिया बहुत कुछ समूह में सृजन-प्रक्रिया जैसी है। यह सिद्धान्त सृजन-प्रक्रिया की कुशलता की वृद्धि के उपायों की तलाश करता है। विवेकशील और संवेगशील पक्षों पर बराबर बल देकर साइनेक्टिक्स-सिद्धान्त ने चार मनोवैज्ञानिक दशाओं का निर्धारण किया है जो वैलास की चार पुरानी मनोवैज्ञानिक दशाओं (१९२६) [प्रस्तुति, गर्भीकरण, स्फूर्ति और प्रमापन] से भिन्न हैं। यह सिद्धान्त परिचित को अपरिचित, तथा अपरिचित को परिचित बनाकर सृजन-प्रक्रिया की विधियों का अध्ययन करता है।

गणितीय सौन्दर्यबोध शास्त्र में ज्यार्ज डी० बिरक़ाफ़ ने "एस्थेटिक मेजर" नामक पुस्तक द्वारा पहल की है। इस पुस्तक में उन्होंने कलाकृति के मानक (measure) के लिये एक सर्वमान्य सूत्र दिया है। यह मानक चित्रकला, काव्यकला और संगीतकला से सम्बन्धित है। बिरक़ाफ़ के अनुसार उनके फार्मूले में तीन तत्त्वों का संयोग है जो सौन्दर्यबोधानुमत के तीन चरणों से सम्बन्धित हैं—

(१) **ध्यान** की आरम्भिक चेष्टा जो प्रत्यक्षीकरण की क्रिया के लिये आवश्यक है और जो वस्तु की जटिलता 'ज' (complexity) के अनुपात से बढ़ती जाती है; (२) मूल्य की अनुभूति या सौंदर्यतात्विक मानक 'म' (aesthetic measure) जो इस चेष्टा का पुरस्कार है; तथा अन्त में (३) यह बोध कि कलावस्तु विशिष्ट समरूपतता, समन्वय, या क्रमिकता 'क' (order) से चरित्रीकृत होती है—, जो कमोवेश अन्तर्गुप्त होती है तथा, जो सौंदर्यबोधात्मक प्रभाव के लिये अनिवार्य है। अतः 'ज', 'म', तथा 'क' के सम्बन्ध 'विविधता में ऐकता' की आवश्यकता की पूर्ति कर देते हैं। यदि यह मान लें कि ये तीन घटक मापे जा सकते हैं तो—$\text{म} = \frac{\text{क}}{\text{ज}}$ होगा।

इस समीकरण का भाष्य होगा : "कलावस्तुओं की प्रत्येक श्रेणी के अन्तर्गत जटिलता और क्रमिकता की परिभाषा करने पर उनका अनुपात [म=क.ज] उस विशिष्ट श्रेणी की किसी भी कलावस्तु का सौन्दर्यतात्त्विक मानक प्रदान करता है।" एच० जे० आइज़ेंक ने इस समीकरण को गलत बताते हुए कहा कि सौन्दर्यतात्विक मानक क्रमिकता एवं जटिलता के तत्त्वों का अनुपात न होकर, गुणन है—म=क×ज। इसी क्रम में हुयेल ने समरूपता (symmetry) के सौन्दर्यत्मक मानक और ललित बोध पर काम किया है। किन्तु गणितीय सौन्दर्यबोधशास्त्र की चेष्टाएँ बहिर्गत एवं निरपेक्ष

एवं तटस्थ पर्यावरण में ही लागू हो सकती हैं जहाँ अमूर्तीकरण (abstraction) की आदर्श स्थिति होती है।

सौन्दर्यबोधशास्त्र के नये आयामों का दूसरा गोलक सिद्धान्त, दर्शन और अन्तर्मुखी मीमांसाओं का है। इस दिशा में कला इतिहासवादियों के मानव सभ्यताओं के सम्बन्ध में रोचक किन्तु परिकल्पनात्मक सिद्धान्त नितान्त महत्व के हैं। कला के सिद्धान्तवेत्ताओं और इतिहासकारों ने आधुनिक चरण के पहले भी प्रयास किये थे जिनमें फ्लिंडर्स पेट्री, पाल लिगेटी, लाप्रेड, वाल्डेयर डेन्ना आदि प्रधान थे। सम्भवतः द्वंद्वमान और हीगेल की प्रेरणा से यह शाखा पल्लवित-पुष्पित हुई। इस शाखा की केन्द्रीय समस्या यही है कि क्या हम ललित कलाओं के [इतिहास क्रम में] विकास तथा प्रसुमन के नियम-क्रम को खोज सकते हैं? यदि हाँ, तो इन नियमों के द्वारा क्या हम इतिहास की घटनाओं की 'सौन्दर्यतात्विक व्याख्या' कर सकते हैं? सारांश में यह कला के माध्यम से इतिहास की व्याख्या करती है। यह शाखा विश्व संस्कृति को इकाई मानने की ओर अग्रसर होती है तथा 'कला' के शैशव, यौवन, वृद्धता और मृत्यु-चक्र की संरचना करती है। इस शाखा में कई ध्रुवांतों का इस्तेमाल होता है; जैसे क्लासिक और रोमांटिक, आदर्शवादी और यथार्थवादी, ethos और pathos, दृश्य और श्रव्य, इत्यादि। इनके आधुनिक और वैज्ञानिक संशोधकों में कार्लमार्क्स, आर्नल्ड हाउज़र, ग्रोम्ब्रिच, मैक्स वेबर, फ्रैंक चैंबर्स कर्टसाक्स, ऐरिक आयरबाख आदि हैं। फ्रैंक चैंबर्स ने अभिरुचि-चक्रों की रचना करके 'सृजनात्मक' और 'सचेतन' कालों की कल्पना की है जब क्रमशः सामूहिक संस्कृति और व्यक्ति-संस्कार पर बल दिया जाता है (1928)। कर्ट साक्स ने 'इथास' तत्त्व को पूर्णता, प्रशान्ति तथा स्थायित्व का द्योतक माना है। और 'पैथास' को मदिरराग, यंत्रणा, स्वतन्त्रता—और अतिरंजना का (1946)। वे इन ध्रुवांतों को पूरक न मानकर विपरीत मानते हैं जिनके बीच शैली एक ज्वार की तरह प्रवाहित होती है। मैक्स वैबर के अनुसार बौद्धिक सृजनात्मकता एवं सौन्दर्यतात्विक सृजनात्मकता दोनों—ऐतिहासिक नज़र से—एक ही तरह का आचरण करती हैं क्योंकि वे दोनों ही प्रकृत् मूल्यों को उत्पन्न करती हैं। कार्लमार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार कला विचारधारा (ideology) का एक बौद्धिक रूप तथा संस्कृति का अंग है जो समाज के आर्थिक आधार [तदनुरूप सामाजिक वर्ग-सम्बन्ध] पर क़ायम है। कला का चरित्र वर्गीय होता है और कला भी इनिहास में वर्गीय चेतना का प्रतिबिंब है। लुकाच और फिश्चर ने मार्क्सवादी सौदर्यबोधशास्त्र के नये आयामों को उद्घाटित किया है। कला की ऐतिहासिक-भौतिकवादी व्याख्या द्वारा मार्क्सवाद ने सामूहिक सृजनात्मकता पर सर्वाधिक प्रकाश डाला है। लुकाच ने अपने अभिनव ग्रन्थ "Esztetika" [सौन्दर्य-बोधशास्त्र] की भूमिका [जिसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ है—१९६४] में मार्क्सवाद सौन्दर्यबोधशास्त्र की पूर्ण अन्विति की है। इस ग्रन्थ में—जैसा कि भूमिका में निवेदित है—दार्शनिक आदर्शवाद पर आद्यंत प्रहार करके उसका खण्डन किया गया है, और अपनी कला के माध्यम से मनुष्य के आत्मसृजन (self-creation) के

द्वंद्ववाद की मीमासा हुई हैं (सार्त्र ने भी "Critique of Dialectical Reason" में मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद का मेल कराके यह चेष्टा की है)। उन्होंने कहा है कि प्लेखानोव और मेहरिंग तक मार्क्सवादी सौन्दर्यबोध मीमांसा ऐतिहासिक-भौतिकवाद पर आश्रित थी। अतः उन्होंने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को प्रधानता दी है। लुकाच ने सौन्दर्यबोधात्मक सेटिंग (set zung) की रचना की है।

अस्तित्ववादियों ने भी सौन्दर्यबोधशास्त्र की सिद्धान्त मीमांसा की है, जिनमें सार्त्र, मरलो पोन्टी और फैलिको प्रधान हैं। शिल्पी आर्तूगो बी० फैलिको ने ["Art and Existentialism", 1962] सौन्दर्यबोधशास्त्र में प्रत्यक्षज्ञानवाद (phonomenology) की महत्ता की स्थापना की है। सौन्दर्यबोधशास्त्र के विचारक के रूप में मरलो पोंटी की स्थापनाएँ सार्त्र से अधिक शुद्ध और गहरी है क्योंकि वे 'being' और 'nothingness' के परे भी प्रसार पाती हैं। सौन्दर्यबोधात्मक प्रेक्षणीयता में कलाकृति सृष्टा और आशंसक के मध्य बिचवानी की भूमिका अदा करती है। अतः कलावस्तु की व्याख्या बहुत अनिवार्य है। पोन्टी ने 'प्रत्यक्षीकरण का प्रत्यक्षज्ञानवाद' ("Phenomenologic de la perception") में व्यवहार के स्वरूपों का उद्घाटन किया है। उनके अनुसार प्रथम और--विवेकशीलपूर्व अनुभावित स्वरूप "प्राथमिक अभिव्यंजना" है। विज्ञान और दर्शन "द्वितीयक अभिव्यंजना" है जिसमें प्राथमिक अभिव्यंजना का समन्वय हो सकता है। कला—जो कि प्राथमिक अभिव्यंजना है—नये अर्थों का निवेश करती है तथा ऐतिहासिक घटना के बहाव में नई दिशाएँ देती हैं। अतएव स्वयं-प्रकाश ज्ञान और धारणाएं, प्राथमिक और द्वितीयक अभिव्यंजनाएँ इस तरह अन्तर-प्रक्रियाबद्ध होती हैकि वे निर्धारित भाषा को सम्भावनापूर्ण या सम्भावनाहीन बना देती हैं। इस भाँति कला भाषा तंत्रविज्ञान (linguistics) के सिद्धान्त के क्षेत्र में, और कलादर्शन ज्ञान के सिद्धांत के क्षेत्र में आ जाते है। कलादर्शन द्वितीयक अभिव्यंजना की वस्तु है। अतः यह कला मीमांसा को भी जन्म देता है। पोन्टी ने कला को बहिर्मुखता प्रदान की है। वे कला को मानव-संस्कृति में एक नया महत्त्व मानते हैं। सार्त्र हसर्ल के प्रत्यक्षज्ञानवाद से और मार्क्सवाद से भी प्रभावित हैं। सार्त्र कल्पना और स्वतन्त्रता (imagination freedom) का समीकरण कायम करते है। कल्पना वह "देख" लेने की शक्ति है जिसका अस्तित्व नहीं है और कला रचना एक मंतव्यपूर्ण (intentional) क्रिया (एक्ट) है। अतः उन्होंने "स्वतन्त्र सृजन" की हिमायत की। उनके अनुसार कल्पनाकारी चेतना सार (essence) और वस्तु (object) दोनों का सृजन करती है। अतः यह एक क्रिया का ही रूपायन है। कल्पना "नई" वस्तु की पुनर्व्यवस्था करती है [जो पहले अस्तित्व में नहीं थी]। इसलिए कलाकार अपनी वर्तमान स्थिति में अपनी स्वतन्त्रता को लिप्त करता है। उसे स्थिति का अभिज्ञान होना चाहिये ताकि वह मूल्य का प्रक्षेपण कर सके। इसी तरह पाठक को भी अपनी स्वतन्त्रता को लिप्त करना चाहिए ताकि वह कलाकृति को समझ सके। इसी दशा में "स्वतन्त्र प्रेषणीयता" हो सकती है। अपनी मार्क्सवादी आस्था के कारण सार्त्र साहित्य को एक राजनैतिक क्रिया भी मानते आ रहे हैं।

टामस मुनरो ने संयुक्तराज्य अमेरिका में सौन्दर्यबोधशास्त्र के अध्ययन को सर्वाधिक प्रतिष्ठित किया है। आजकल वहाँ सौन्दर्य की अमुर्त धारणा की परिभाषा के बजाय कलाओं के, और उनमें सलीन मानवीय सक्रियता के निरीक्षण पर बल दिया जा रहा है। सन् १९४१ से 'Journal of Aesthetics and Art Criticism' के प्रकाशन से अमेरिका में सौन्दर्य तत्त्व के प्रति ज्ञान विकसित हुआ है। स्वयं मुनरो ने कलाओं के अन्तर्सम्बन्धों ["Art and Their Interrelations", १९५१] पर ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य किया है।···सुशाने लैंगर ने अमूर्त कलाओं में अर्थ तथा रूप खोजने के दार्शनिक प्रयास किये हैं। उनकी दार्शनिक प्रतिपत्तियाँ क्लासिकल और अर्नस्ट कैसीरर की परम्परा में आती हैं।

सन् १९६० में एथेंस में हुई "सौन्दर्यबोधशास्त्र की चौथी कांग्रेस" में कई महत्त्वपूर्ण दिशाओं का संकेत हुआ है। ऐतियाँ सूरियाँ के अनुसार सौन्दर्यबोधशास्त्र विज्ञान है अतः उसका उपयोग उद्योग, शिक्षा तथा व्यावहारिक कार्यों में भी होना चाहिए। प्रतीकात्मक अभिव्यंजना पर बल देने वाले सौन्दर्यबोध वेत्ताओं का समूह कलाकृति को रूपकात्मक (metaphoric) अर्थधूमिल (ambiguous) तथा—भविष्य-वक्ता (oracle) मानता है। जान हास्पर्स इसके विपरीत कला और संवेगों (emotions) के सम्बन्धों के प्रति होशियार रहने का आग्रह करते हैं। वे तीन तरह की सम्बन्धता पाते हैं—(क) कहा जा सकता है कि कला कलाकार के संवेगों की अभिव्यंजना है—यह कलाकृति के बजाय कलाकार का चारित्र्य पेश करती है, (ख) कहा जा सकता है कि कला दर्शक में संवेगों को उद्दीप्त करती है—यह भी कलाकृति के बजाय दर्शक का चारित्र्य पेश करती है, (ग) कहा जा सकता है कि स्वयं कलाकृति में संवेग आधृत हैं—इसका तात्पर्य यह हुआ कि कलाकृति में मानव की तरह ही विशेषताएँ हैं।

आजकल सौन्दर्यबोधशास्त्र तीन प्रकार की वस्तुओं में भेद करता है: (१) सौन्दर्यबोधात्मक वस्तु (कलाकृति), (२) टैकनालॉजिकल वस्तु (औज़ार या मशीन), तथा (३) उपयोग की वस्तु (वस्त्र, गहने आदि)। यदि एक टैकनालॉजिकल वस्तु उपयोग की वस्तु के नज़दीक आती चली जाती है तब वह सौदर्यवस्तु होने की संभावना रख सकती है क्योंकि उसमें कम-से-कम सौन्दर्यगुण का आभास मिलने लगता है। प्रत्यक्षज्ञानवादी सौन्दर्यशास्त्री माइकेल दुर्फेने की इस बात को लूसियाँ रूद्राफ़ ने दूसरे ढंग से कहा है। उनके अनुसार कला में 'आर्केटाइप (Archetype), तथा टैकनॉलाजी में 'प्रोटोटाइप' (Prototype) होते हैं। एक में रूप की अनन्त सम्भावनाएँ होती हैं, दूसरी में सीमित; एक का दृष्टान्त है—पार्थिनन की प्रतिभा और दूसरे का ईफेल टावर!!

यह संक्षिप्त और असंगठित सर्वेक्षण सौन्दर्यबोधशास्त्र के "नये" आयामों की केवल झलक देता है। विषय इतना व्यापक और विविध है कि हम आद्योपांत इस बात के प्रति जागरूक रहे हैं कि यह परिचय सुसंबद्ध और व्याख्यामूलक नहीं हो सकता।

डॉ० जगदीश गुप्त

हिन्दी कविता : प्रवृत्यात्मक विवेचन और मूल्यांकन

हिन्दी साहित्य में 'स्वतन्त्रता' जिस विधा में सबसे अधिक प्रतिफलित हुई है वह है कविता, परन्तु यह प्रतिफलन वस्तु के स्तर उतना नहीं हुआ जितना काव्य के निहित 'रूप' तथा अभिव्यंजना शिल्प के स्तर पर। कविता ने स्वतन्त्रता को प्रेरक काव्य-वस्तु के रूप में बहुत कम ग्रहण किया परन्तु वस्तु-ग्रहण की परम्परागत सीमाओं से अपने को एक झटके के साथ अवश्य मुक्त कर लिया। किसी बाह्य घटना का प्रभाव रचनात्मक प्रक्रिया वाली विधा पर, विशेषतः सूक्ष्मचेतना से परिचालित होने वाले कविता जैसे गहन माध्यम पर, इतनी त्वरा और सरलता से न तो पड़ता ही है और न लक्षित ही किया जा सकता है। फिर, जिन परिस्थितियों में स्वतन्त्रता इस देश को प्राप्त हुई तथा उससे अब तक जो विषमतर समस्याएँ उत्पन्न हुई और होती जा रही हैं उनके कारण भारतीय समाज को उसकी वास्तविक प्रतीति भी नहीं हो सकी। समग्र देश की अन्तश्चेतना को परिचालित करने तथा स्वयं सजीव रूप में काव्य में व्यापक रीति से अभिव्यक्त होने की स्थिति तो इसके बाद ही उत्पन्न होती है। स्वतन्त्र होने के बाद प्रजातान्त्रिक विधि से वैज्ञानिक प्राविधिकता का सहारा लेकर देश को समृद्ध बनाने के जो अभिनव प्रयत्न किये गए तथा जो अधिकतर पूर्ववर्ती गांधीवादी आदर्शों के प्रतिकूल भी थे, उनके फलस्वरूप यदि व्यक्तियों और वर्गों के बीच आर्थिक विषमता बढ़ने के स्थान पर घटती दिखाई देती तो भी किसी-न-किसी रूप में जीवन और साहित्य के व्यापक धरातल पर एक नये आरम्भ की कल्पना उत्पन्न होने लगती। परन्तु स्थिति इसके विपरीत और भी जटिल तथा दुर्वह होती गई। स्वतन्त्रता को इतना मूल्य तो मिला कि किसी बाहरी आतंक के विरुद्ध एकात्म भाव से देश की सारी चेतना सहसा उठ खड़ी हो परन्तु आन्तरिक सांस्कृतिक क्षेत्र में रिक्तता, विघटन एवं विसंगति के स्वर ही अधिक सुनाई देते रहे हैं। कविता के भीतर पैठकर वही स्वर धीरे-धीरे आत्म-मंथन, उत्पीड़न, क्रान्ति, विद्रोह, व्यंग्य-विद्रूप, अनास्था और विडम्बना की विचित्र अनुगूंजें पैदा करते रहे तथा कभी-कभी ऐसा भी लगने लगा कि सहस्राब्दियों से जीवन को अखण्ड रूप से धारण और रक्षित किये रहने वाली आस्था, उदात्तता और स्वार्थ के घेरे को तोड़कर व्यापक मानवीय हित की ओर बढ़नेवाली सहज सांस्कृतिक प्रवृत्ति ही समाप्त होने जा रही है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि कवि-कर्म कठिन से कठिनतर होता गया। और कविता भी अपनी रंजनात्मक तटस्थ स्थिति को छोड़कर युगीन यथार्थ के बीचोबीच आकर अपनी

शक्ति-भर संघर्ष को झेलने लगी ।

मुझे स्पष्ट दिखाई देता है कि आधुनिक कहे जाने वाले अब तक के सुदीर्घ युग में काव्य की केन्द्रीय धारा सुधारवाद की शिथिल मनोवृत्ति को त्यागकर कल्पना और रहस्य के बौद्धिक अनात्मसात् अध्यात्मवाद पर टिके हुए निराशा एवं अवसाद से पूरित वातावरण को चीरती हुई निराला के अदम्य एवं अप्रतिहत, प्रखर व्यक्तित्व के साथ विद्रोह की कठोर भूमि पर आ गई है और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी काव्य की किसी भी प्रवृत्ति के स्वरूप को इस मौलिक विद्रोह और व्यंग्य के अन्तरानुवर्ती प्रवाह का सहारा लेकर ही व्याख्यायित किया जा सकता है । क्रान्ति की सीमा तक पहुँचे हुए असंतोष के खिचावों और तनावों के भीतर रहकर ही सुकुमार और स्निग्ध पक्ष भी अपनी अभिव्यक्ति पाता रहा है पर वह जीवन के इतर ठंडे लोहे जैसे कठोर पक्ष की उपेक्षा कहीं भी नहीं कर सका । इसके जितने ही अपवाद हैं वे युगीन दृष्टि से उतनी ही मात्रा में निरर्थक कहे जा सकते हैं । साहित्य में एक दृष्टि युग की सीमा से ऊपर उठकर युगों-युगों तक टिके रहने वाले साहित्य के मूल्यांकन की भी होती है पर ऐसा कभी नहीं होता है कि अपने युग को प्रभावित न करने वाला साहित्य युग-युग के साहित्य का स्थायी महत्त्व प्राप्त कर सके । आज के युग-परिवर्तन की गहन गति और विशेषीकरण की प्रवृत्ति ने तो 'स्थायी' और 'शाश्वत्' समझे जाने वाले साहित्यिक मूल्यों पर प्रश्न-चिह्न ही अंकित कर दिया है तथा प्रेरणा दी है कि समस्त मूल्यों को पुनरावेषित एवं पुनर्प्रतिष्ठित किया जाय । स्वातन्त्र्योत्तर भारत में नये सिरे से मूल्यों को साहित्यिक धरातल पर अन्वेषित करने की प्रवृत्ति 'राहों के अन्वेषण' से भी गम्भीर सिद्ध हुई और प्रगति-प्रयोग से लेकर नयी कविता तक की सारी विकास-रेखा उससे परिचालित है । 'सुधार' और 'विद्रोह' की सीमित सफलता या प्रकट असफलता ने भारतीय परिप्रेक्ष्य में विशेषत: और विश्वजनीन सन्दर्भ में सामान्यत: एक नयी दिशा में मानव-अस्तित्व को बढ़ने और सार्थकता प्राप्त करने की प्रेरणा दी । यह दिशा मात्र होने (being) और व्यक्तित्व के रूपान्तरित अथवा परिणत होने (becoming) की दिशा कही जा सकती है । कट्टर समाजवादी इसे स्वीकार नहीं करेगा कि बिना सामाजिक ढाँचे के मूलभूत परिवर्तन के ऐसी कोई 'परिणति' किसीके भी व्यक्तित्व में सम्भव है परन्तु व्यक्ति और समाज एक-दूसरे की इकाई को काटने वाले प्रत्यय मेरी धारणा में नहीं हैं; अत: सैद्धान्तिक व्याख्या जिस रूप में की जा सके, यह तथ्य है कि परिस्थितियाँ और जागरूक युग-बोध बड़े पैमाने पर जहाँ सुधार या विद्रोह दोनों में से कुछ भी ठीक से नहीं घटित कर पाते वहाँ सीमित क्षेत्रों में यह अनिवार्यत: घटित होते हैं । ऐसे क्षेत्रों में कला और साहित्य के क्षेत्र मेरी दृष्टि में सर्वप्रमुख हैं । इनमें, आनेवाले युगों के व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की पूर्व छाया की तरह कुछ ऐसी परिणतियाँ होती हैं जो भावी सामाजिक रूपों, संघर्षों एवं उपलब्धियों को अपने पारदर्शी अनुभव के शीशे में प्रतिबिम्बित करने लगती हैं । निराला पंत, प्रसाद (और प्रेमचन्द भी क्यों नहीं), के व्यक्तित्वों में ऐसी परिणति के लक्षण स्वातन्त्र्यपूर्व ही नहीं प्रगतिवादी विचारधारा के आगमन से भी पूर्व निर्दिष्ट किये जा सकते हैं । स्वातन्त्र्योत्तर

हिन्दी साहित्य, विशेषतः कविता में अज्ञेय, माथुर, मुक्तिबोध आदि अनेक मान्य कवियों का जो व्यक्तित्व उनकी रचनाओं के द्वारा प्रकट होता रहा है उसमें इस नई दिशा की 'परिणति' का रूप स्पष्टतः देखा जा सकता है। 'नये मनुष्य की प्रतिष्ठा', जिसे मैं मानता हूँ कि नयी कविता का एक बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है, की धारणा का आधार मेरे आगे कोई अमूर्त मनुष्य नहीं रहा, वरन् समर्थ कवियों की रचनाओं के बीच से उसकी आवाज सुनकर ही मैंने पहचाना कि उनके भीतर से बोलने वाला यह मानव व्यक्तित्व न प्राचीन है, न मध्यकालीन, यहाँ तक कि द्विवेदी युगीन भी नहीं और पूरी तरह छायावादी भी इसे नहीं कहा जा सकता। निराला की 'अनामिका' और 'कुकुरमुत्ता' तथा पंत की 'ग्राम्या' और 'युगान्तर' में उसकी पद-चाप सुनाई देने लगती है। राष्ट्रवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता में उसकी गति उत्तरोत्तर स्पष्ट होती गयी है और आज हम अपने व्यक्तित्व और कृतित्व के भीतर उस 'नये मनुष्य' की आत्मा का स्पंदन सबसे अधिक तीव्रता से अनुभव कर सकते हैं, कर रहे हैं।

मध्यकालीन धारणाओं और आदर्शों को, बिना उनकी रूढ़ सीमाओं को तोड़े हुए, हम वर्तमान युग के अनुरूप बनाकरकिसी प्रकार ग्रहण नहीं कर सकते इसका एक रोचक उदाहरण कल ही स्थानीय 'जिज्ञासु केन्द्र' में महादेवीजी की अध्यक्षता में आयोजित विचार-गोष्ठी में देखने को मिला। पेशेवर धार्मिक 'ईश्वर' और 'धर्म' के बिना आधुनिक युग में भी शान्ति और एकता की स्थिति स्वीकार नहीं करते किन्तु साहित्यिक और तत्वदर्शी समाज-शास्त्री विचारक 'मनुष्य को केन्द्र में रखकर 'धर्म' को ही नहीं 'ईश्वर' तक को व्याख्यायित करना तर्क-संगत और युगानुरूप आवश्यक समझते हैं। मानव-धर्म में समाहित 'धर्म' शब्द एक लम्बे वैचारिक संघर्ष के बाद साम्प्रदायिक रूढ़ अर्थ से बहुत कुछ परिशोधित होकर उन आधारभूत प्रत्ययों को व्यक्त करता है जिन पर अधुनातन मनुष्य की कल्पना टिकी हुई है। हिन्दी काव्य ने नये मनुष्य की कल्पना तक आने में मेरी दृष्टि से एक लम्बी किन्तु सार्थक वैचारिक यात्रा पूरी की है। जन्मतः अधिकार-साम्य और योग्यतानुरूप समान सम्पत्ति विभाजन सामान्य जन (लघु मानव) के स्वाभिमान की सामाजिक स्तर पर प्रतिष्ठा आदि बातें, जिनका महत्व सौ बार दोहराये जाने पर भी मेरी दृष्टि में कम नहीं होता है, वे केन्द्रीय बिन्दु हैं जिनसे आज का बौद्धिक वर्ग प्रेरणा ग्रहण करता है। कवि के लिए भी इस विचार-भूमि से असम्पृक्त रह पाना सम्भव नहीं रहा है क्योंकि वह स्वभावतः न्याय, औचित्य और दलित के अधिकार का पक्ष लेता रहा है। जैसे उसे एक सुन्दर फूल, आकर्षक मुख और निर्मल आकाश प्रिय लगता रहा है उसी प्रकार उसकी वृत्ति उन तत्त्वों के प्रतिकार में भी संलग्न रही है जो जीवन के सहज प्रवाहमय रूप को विकृत, विच्छिन्न रुद्ध और क्षीण बनाते हैं। उसकी प्रतिक्रिया बहुधा 'बौद्धिक' न होकर 'प्रातिभ' होती है। विशेषतः रचना के क्षेत्र में प्रवेश करने पर विचार-भूमि स्वतः भाव-भूमि में परिणत हो जाती है। इस आन्तरिक रचनात्मक परिणति से पूर्व-निर्दिष्ट व्यक्तित्वमूलक 'परिणति' की धारणा को मिलाकर देखना आवश्यक है क्योंकि स्वातन्त्र्योत्तर काव्य में दोनों प्रायः एकात्म होकर व्यक्त हुई हैं। 'क्रान्ति' और 'विद्रोह' की प्रवृत्ति का ग़लत

निर्देश और भ्रामक मूल्यांकन भी हुआ है। उदाहरण के रूप में 'अंचल' जैसे असंगठित रूमानी भावुकतावाले कवि को (ऐसे और भी बहुत हैं) 'क्रान्ति दूत' के रूप में अपरिपक्व दृष्टिकोण वाला आलोचक ही ग्रहण कर सकता है फिर चाहे वह आचार्य या परमाचार्य ही क्यों न हो।[१] निराला के बादल राग जैसे प्रौढ़ क्रान्ति-घोष और इन 'क्रान्ति दूतों' की नक़ली और फिसफिसी नारेबाज़ी के अन्तर को जो नहीं पहचानता वह हिन्दी कविता के विकास को सही ढंग से नहीं देख सकता। प्रगतिवाद में जहाँ हिन्दी कविता को अशरीरी और अयथार्थ लोक के कुहा-जाल से बलात् खींचकर वास्तविकता के चौराहे पर ला खड़ा किया वहाँ इस उपकार के प्रतिकूल ऐसी अननुभूत, अनात्मसात् कृत्रिमवाणी को भी प्रोत्साहित किया जो न केवल कविता के स्तर तक बहुत कम पहुँच पाई वरन् उस स्तर को रक्षित रखने वाले कवियों के मार्ग में, अपने अत्यधिक वस्तुपरक मूल्य-बोध और आरोपित त्वरा के कारण बाधक भी बनी। उसने सारी समस्याओं का एक साथ समाधान करने की अद्‌भुत साहसिकता के साथ ऐसा अद्वितीय मार्ग दिखाया कि उसके अनेक प्रतिश्रुत एवं प्रतिबद्ध कवि भी अकस्मात् 'राहों के अन्वेषी' बनने को तैयार हो गए। प्रगतिवाद ने हिन्दी कविता को एक वैचारिक आन्दोलन के रूप में पूरी शक्ति के साथ यथार्थ की ओर उन्मुख किया किन्तु देश के निजी यथार्थ का स्वल्प-बोध होने के कारण तथा यथार्थ की अभिव्यक्ति के साहित्यिक रूप के प्रति बहुत ही 'डिक्टेटोरियल' और राजनैतिक रुख अपनाने से भी अन्ततः परिणाम यह हुआ कि वह काव्य में किसी नई तथा निजी अभिव्यंजना प्रणाली के आवर्तन का उतना भी श्रेय नहीं पा सका जितना छायावाद को सहज ही प्राप्त हो गया। इसका गहरा कारण मेरे विचार से यह है कि स्वतन्त्रता के लिए अहिंसात्मक विधि से संघर्ष करने वाला देश भले ही उसे पाने पर पूरी तरह स्वातन्त्र्य का अनुभव न कर पाया हो परन्तु वह इतना सचेतन तो हो ही गया था कि किसी वैचारिक पारतन्त्र्य की आती हुई आंधी को पहचान ले और अपनी सांस्कृतिक चेतना के अनुरूप मूल्यों की स्थापना के लिए उन्मुख हो सके। मार्क्सवाद के अर्थ-प्रधान द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन ने इस देश की समस्त दार्शनिक-आध्यात्मिक जिज्ञासाओं एवं आकांक्षाओं को, उनके समुचित रूपान्तरण, समाधान अथवा बौद्धिक परिशमन के बिना ही, नितांत निरर्थक हेय तथा त्याज्य घोषित करने का आग्रह व्यक्त किया, जिससे भारत का सांस्कृतिक स्वाभिमान विचलित हो उठा और आज तक संतुलित नहीं हो पाया है। किसी अन्य देश और काल की परिस्थितियों में आविष्कृत सिद्धान्तों को अतिवाद और बौद्धिक जड़ता के साथ, धार्मिकों जैसी कट्टरता का अनुसरण करते हुए भारत जैसे समृद्ध एवं गौरवपूर्ण सांस्कृतिक परम्परा वाले किन्तु युगों से परतन्त्र देश पर लागू करने के हठ का परिणाम यही हुआ कि तथाकथित क्रान्ति की 'लाल' ज्वाला अकाल में ही अपना तेज और आकर्षण खोने लगी। देश की समस्याओं का समाधान करने से पहले ही 'कल्पवृक्ष' मुरझाने लगा और उसकी दो शाखाएँ आपस में प्रहार-कौशल प्रदर्शित करके जनोद्धार के स्थान पर आत्मोद्धार के प्रयत्न में जनरंजन करने लगीं।

---

१. नयीधारा, फरवरी, १९६५, पृ० ३३।

जैसा स्वाभाविक था इस विभाजित रूप में एक शाखा देश की ओर और दूसरी विदेश की ओर झुकती गई, यहां तक कि देश के हित में एक का अस्तित्व ही खतरनाक घोषित कर दिया। ऐसा विघटन तभी होता है जब छोटे-छोटे अहंकार बड़े-बड़े मूल्यों पर छा जाते हैं और सारा मूल्य-बोध धुंधला और अर्थहीन हो उठता है। इस विघटन का एक प्रमुख कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक शक्ति-संतुलन के बीच स्वार्थमय ऊपरी समझौतों के आधार पर होने वाले परिवर्तनों की प्रतिच्छाया भी है। आज मूल्यगत संक्रान्ति विश्वव्यापी अप्रत्याशित धरातल पर लक्षित हो रही है और गत एक-डेढ़ दशक के काव्य को उसके परिप्रेक्ष्य में न देखना सम्भव नहीं है। इस समय प्रस्तुत विवेचन के सन्दर्भ में केवल 'यथार्थ' के स्वरूप पर विचार करना ही अभीष्ट है क्योंकि स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य का, समग्र रूप में, उससे सीधा सम्बन्ध है।

किसी भी 'यथार्थ' को 'सत्य' से विलग करके नहीं देखा जा सकता। इसका अर्थ यह है कि सत्य की खोज में निरन्तर खुलनेवाली नई दिशाएँ जो आज मुख्यतः विज्ञान की हैं, तथा सत्य की प्रतीति करनेवाले मनुष्य की 'चित्त वृत्ति' जो आन्तरिक ढाँचे के स्थायित्व को सहेजे हुए भी परिस्थितियों के अनुरूप बदलती रहती है 'यथार्थ' को कोई स्वयं-सिद्ध अथवा पूर्वनिर्धारित धारण मानने से रोकती है। फिर यथार्थ का अनुभव समाज को व्यक्ति-व्यक्ति के निजी और सीमित संवेदना-यन्त्र के माध्यम से ही होता है। व्यक्ति-रहित सामाजिक अनुभव की न कोई स्थिति है न सम्भावना। साहित्य और कला की सृष्टि इसीलिए सामूहिक सामाजिक रीति से न होकर व्यक्ति की निजी अनुभूति, उसके अपने दृष्टिकोण से गृहीत यथार्थ के अनुभव द्वारा होती है। यह हो सकता है और होता भी है कि बहुत से व्यक्तियों की दृष्टि और अनुभूति दोनों ही मिलती-जुलती या एक जैसी हों; पर वे सर्वांश में एकात्म तभी हो सकती हैं जब व्यक्तित्व का पूर्ण विलयन हो जाए। किसी जीवित समाज में चाहे वह साम्यवादी हो चाहे प्रजातान्त्रिक, ऐसा कदापि सम्भव नहीं है क्योंकि व्यक्तित्व का आत्यन्तिक विलयन आध्यात्मिक 'मोक्ष' में सम्भव हो-तो-हो सामाजिक धरातल पर वह सर्वथा अकल्पनीय है। इसीलिए नई कविता के क्षेत्र में जिस सत्य पर बल दिया जाता है वह संवेदनशील व्यक्ति द्वारा प्रत्यक्षीकृत 'विशेष सत्य' होता है और उसी को 'विशेष प्रकार का यथार्थ' भी कहा जा सकता है। मार्क्सवादी विचारधारा से पूरी सहानुभूति रखने वाले प्रसिद्ध साहित्य-समीक्षक सी० एम० बावरा ने भी इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत किया है।[1] कवि को अपनी सम्पूर्ण प्रकृति से जो सत्य अपने पूर्ण रूप में दिखाई दे वही उसके लिए यथार्थ होता है और उपयुक्त अभिव्यक्ति पाकर वही काव्य के रूप में विशिष्ट एवं मूल्यवान हो जाता है। विशेषीकरण के इस युग में अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही उत्तरोत्तर विशेषीकृत होती जा रही हैं और आज के कवि का ध्येय उनका 'साधारणीकरण' करना न होकर उन्हें कलात्मक रीति से इस प्रकार संप्रेषित कर देना होता है कि कवि द्वारा गृहीत सत्य की विशेषता अपने यथार्थ रूप में न केवल बनी रहे वरन् काव्य की उपकारक भी हो जाए। प्रयोगशील और नई कविता का

1. The Creative Experiment, पृ० ६,१०

सम्पूर्ण ताना-बाना इसी आधार पर बुना गया है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में प्रयोग को साधन मानकर, 'नकेन' के प्रपद्यवादियों की तरह उसे साध्य मानकर नहीं, जो स्वतन्त्रता ली गई है वह अनिवार्य थी। विदेशी प्रभाव ने केवल उसे सुगम और त्वरित बना दिया। वास्तविक अनुभव की निकटता की प्रवृत्ति यथार्थ के आग्रह से ही उत्पन्न हुई। इसका प्रतिफलन अभिव्यंजना-शिल्प की दिशा में भी हुआ और संयमित, सन्तुलित भावाभिव्यक्ति याकि मात्र अभिव्यक्ति जैसा शायद कुछ लोग कहना चाहेंगे, वरेण्य मानी जाने लगी। अतिरंजना, अलंकरण, काव्येतर तत्त्वों का सम्मिश्रण, रूढ़ एवं परिचित प्रतीक-योजना, सबसे धीरे छुटकारा पाने का यत्न किया गया और मैं बल-पूर्वक कहूँगा कि इससे हिन्दी कविता अधिकाधिक निखरी ही है, उसका सत्व नष्ट नहीं हुआ है, 'नई' होकर वह 'कविता' न रही हो ऐसा कहने का साहस वही करेगा जिसको निकट से उसका परिचय ही न हो अथवा जिसका उद्देश्य साहित्येतर किसी व्यक्तिगत राग-द्वेष में निहित हो। जिस यथार्थ की अभिव्यक्ति पिछले संघर्ष-काल में हुई है वह भावना और बुद्धि के घनीभूत संश्लेषण तथा उनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न जटिल मनस्थितियों का द्योतक है और उसे साधारण की अपेक्षा असाधारण कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यह दूसरी बात है कि आज के क्षिप्र-गति युग में असाधारणता ही साधारण होती जा रही है।

अभिव्यक्ति की दिशा में एक और महत्त्वपूर्ण वात उल्लेखनीय है और वह यह कि प्रस्तुत-अप्रस्तुत का परम्परागत विभाजन या स्पष्ट मर्यादानुसरण भी तिरोहित होता जा रहा है। कवि आज व्यक्त जगत की किसी वस्तु विशेष का किसी अन्य वस्तु के माध्यम से वर्णन करने नहीं चलता, वह वस्तुजगत से गृहीत सार्थक अनुभव को उसके संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करता है। वह किसी 'विषय पर' कविता नहीं लिखता, उसका अनुभव ही कविता का विषय होता है। यह अनुभव पाश्चात्य विवेकों के अनुसार एक विशेष प्रकार की 'थ्रिल' या 'थर्राहट' बनकर आता है पर मैं नहीं समझता कि मात्र इस रूप में आधुनिक युग के समस्त काव्यानुभव को रखा जा सकता है। इधर की कविता में कभी मन के अविकम्प मौन स्तरों के अति सूक्ष्म संवेदनों को अभिव्यक्ति मिली है, कभी किसी कठोर सत्य का शीतल स्पर्श रक्त को जमाता हुआ-सा लगता रहा है और कभी किसी विचार ने ही अपने तन्तु-जाल में घेरकर छोड़ दिया है, यह और ऐसी अनेक मनोदशाएँ 'थर्राहट' की कोटि में नहीं रखी जा सकतीं। एक बात सामान्य रूप से कही जा सकती है कि ऐसे अन्तरंग अनुभव की अभिव्यक्ति में मध्ययुगीन तथा द्विवेदी युगीन उपदेशात्मकता का सर्वथा अभाव रहा है। उपदेश आदमी तब देता है जब वह अनुभव के क्षण से उबर जाता है और वैसे ही क्षण में पड़े व्यक्ति को अपने ज्ञान से लाभान्वित करने का अहंकार प्रदर्शित करना चाहता है। करुणा, दया, आत्मीयता और परहित किसी भी भाव से उपदेश दिया जा सकता है पर प्रत्येक स्थिति में उपदेशक की मनोदशा अनुभव का अतिक्रमण किये हुए व्यक्ति की ही मिलेगी। अनुभूति प्रक्रिया में डूबा हुआ व्यक्ति उपदेश नहीं देता। या तो उसे दूसरे के अस्तित्व का बोध ही नहीं होता या यदि थोड़ा-बहुत होता भी है तो उसको

वह तटस्थ होकर देख नहीं पाता। उपदेशात्मकता की मुद्रा आज के कवि की मुद्रा नहीं है और यह एक महत्त्वपूर्ण बात है जो प्रगतिवाद से आगे की प्रगति को व्यक्त करती है। उपदेशात्मकता के तिरोभाव ने राष्ट्रीय काव्य-धारा को दिशान्तरण की विवशता में ला दिया। राष्ट्र के खंडित हो जाने से इस देश का सांस्कृतिक व्यक्तित्व भीतर से दरक गया। लगा कि जैसे सारी शुभेक्षाएँ, सारी साखें अकारथ चली गईं। राष्ट्रीयता के आवरण में इतनी घोर अराष्ट्रीयता पनपती रही और परिस्थिति की ऐसी भयानक विडम्बना हुई कि उसे देखते-देखते सबने स्वीकार कर लिया। धरती के दरकने से जो अग्नि-ज्वालाएँ प्रकट हुईं उनमें भस्म हो जाने वालों के लिए अथवा पंगु होकर रह जानेवाले अर्धमृत जीवितों के लिए एक गहरे पश्चात्ताप के अतिरिक्त कविता के पास उपहार देने को और कुछ भी शेष नहीं रहा। आँसू बहाने वाली कविता दयनीय लगने लगी और बलि के लिए ललकारने वाली कविता नाटकीय। 'तान-तान फन ब्याल कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ' कहने वाला कवि नारी के भीतर निहित नारी और उसके भीतर निहित उर्वशी का काम-कक्ष देखने में तल्लीन हो गया। दिल्ली ने उसे भले ही बदल दिया हो, वह दिल्ली को नहीं बदल सका। संस्कृति का कोई अध्याय विदेशी ऋण से बोझिल देश ने स्वीकार नहीं किया और राष्ट्रीय कविता अपना पृथकत्व छोड़कर या तो कविता की सामान्य परिधि में समाहित हो गई या पुनः ओजस्विता के साथ लज्जावनत शीश उठाने के लिए किसी गहनतर संकट की बाट जोहने लगी। संकट आया पर कविता का सर स्वातन्त्र्य के पहले वाले ओज से पुनः न उठ सका। लगता है उसकी पीड़ा का उपचार तन्द्रा ने कर दिया। जब राष्ट्र का स्वाभिमान प्रत्येक दिशा में कुचला जा रहा हो, साथ ही कृत्रिम रूप से उसकी भारी सफलता का डंका भी पीटा जाता हो, तो नया कवि अगर वह सचमुच ईमानदार है, चाँद के मुँह का टेढ़ापन देखने लगेगा या 'एक कंठ विषपायी' बनने के लिए तत्पर हो जाएगा। आज मेरी निगाह में वह सारी कविता, जो मूलतः राष्ट्रविरोधी नहीं है, राष्ट्रीय कविता है या फिर कोई राष्ट्रीय कविता नहीं है। अन्धा-युग से लेकर 'संशय की एक रात' तक कविता प्रबन्धात्मकता के बीच जिस सांस्कृतिक अन्तर्मंथन को व्यक्त करती रही है वह राष्ट्र की गम्भीर समस्याओं के प्रति उदासीनता की दिशा नहीं है। 'लोकायतन' तो उद्घोषित रूप में लोक-मंगल को 'मंगलायतनो हरिः' की मन्त्र-पूत वाणी देकर स्वातन्त्र्यपूर्व के सारे राष्ट्रीय-संघर्ष को सहेजता हुआ मानों 'भारत-भारती' का महाकाय पन्त-संस्करण होकर प्रकट हुआ है। उसकी भीतरी महानता का बोध तो वही प्राप्त कर सकता है जिसमें उसे पूरा पढ़ जाने का साहस, धैर्य और निष्ठा-संकल्प हो। मैं तो सिर्फ़ इतना ही जानता हूँ कि जिसे महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा हो वह महान् से कम क्या हो सकता है। पहले मुझे सन्देह था कि महाकाव्यों का युग बीत गया है पर अब विश्वास हो गया है। पन्तजी के पार्श्व-पुरुष बच्चन और नरेन्द्र का कृतित्व भी इस सन्दर्भ में उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। चाहे लोक-धुनें हों चाहे 'द्रौपदी', एक पार्श्व में 'लोक' और दूसरे में 'अध्यात्म' कुल मिलाकर वही लोकायतन। कठोर पृथ्वी के इस सिरे से उस सिरे तक फैला हुआ इन्द्रधनुष।

नई कविता और उसके बाद' यह प्रश्न उठने लगा है और उठना भी चाहिए पर 'सनातन सूर्योदयी' कहलाकर कोई कविता नई कविता को स्थानान्तरित नहीं कर सकती क्योंकि उसमें इतनी भी संकल्प-शक्ति नहीं है कि सनातन जैसे शब्द को थोड़ी देर भी टिका सके, बेचारी विवशता में अकस्मात् 'नूतन सूर्योदयी' हो गई। वे तरुण जो आज की कविता से ऊब का अनुभव करने लगे हैं, उसके 'सूर्योदयी' शब्द को भी हटा देना चाहते हैं। उनके अनुसार नई कविता "नूतन कविता" के रूप में पुनर्जीवित होगी (द्र० 'भारती' फरवरी'६५) लेकिन क्या 'नूतन' 'नई' का पर्याय-मात्र नहीं है ? बात फिर-जहाँ-की-तहाँ पहुँचती दिखाई दे रही है। लगता है अभी समय लगेगा।

डॉ० शिवकुमार मिश्र

हिन्दी कविता : प्रगतिशील

(१)

स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविता का इतिहास अपनी पूर्ववर्ती आकृति को स्थिर रखते हुए, अधिक प्रशस्त लीकों पर आगे बढ़ने, कला और शिल्प की अधिक समुन्नत भूमियों का स्पर्श करने तथा लोकप्रियता के उच्चतर सोपानों तक सहज ही पहुँच सकने का इतिहास है। यद्यपि आज प्रगतिशील आन्दोलन जैसा कोई आन्दोलन नहीं है, और न ही प्रगतिवाद जैसा कोई काव्य-युग, परन्तु स्वातन्त्र्योत्तर काव्य-सृजन इस तथ्य का साक्षी है कि प्रगतिशील चेतना तथा उससे सम्पृक्त काव्य रचना आज भी विरल नहीं हो सकी है। प्रगतिशील कविता के उद्भव के साथ सामने आनेवाले समाजचेता कवि-वर्ग के साथ नई पीढ़ी के कवियों का भी एक महत्त्वपूर्ण तथा जागरूक अंश है, जो आधुनिक युगबोध से दीप्त, सामाजिक चेतना की प्रशस्त राहों पर, लोकोन्मुखी जीवन-दृष्टि से परिचालित होते हुए प्रगतिशील कविता को उसी प्रकार आज के युग की केन्द्रीय काव्य-प्रतिमा बनाये हुए है, जैसा वह उस समय थी, जब एक युग बन-कर हिन्दी कविता के क्षेत्र में उसका अवतरण हुआ था। ऐसी स्थिति में यदि प्रगति-शील चेतना या काव्य के जनाज़े में कंधा देने की इच्छा रखने वाले अभी प्रतीक्षा ही कर रहे हैं तो दोष किसे दिया जाय ? प्रगतिशील चेतना या कविता को, जो मर नहीं रही और इस प्रकार उन्हें संवेदना-प्रकाशन का अवसर नहीं दे रही, या उन्हें जो बिना बात एक जगह बैठे जनाज़े की प्रतीक्षा में अपने मूल्यवान समय का दुरुपयोग कर रहे हैं ? युग के जो ज्वलन्त सन्दर्भ किसी समय प्रगतिशील कविता को सामने लाए थे, चूंकि अधिक उग्र, अधिक जटिल तथा अधिक व्यापक रूप में आज के युग-जीवन का भी सत्य बने हुए हैं, अतः प्रगतिशील कविता की विकास-यात्रा के रुकने का अभी कोई प्रश्न भी नहीं है।

प्रगतिशील कविता की स्वातन्त्र्योत्तर नई और सम्पन्न भूमिकाओं को सामने लाने में इस युग के अनेकानेक महत्त्वपूर्ण तथा लोकप्रिय कवियों का योग रहा है, जिन्होंने भावभूमि तथा शैली की भिन्नता के बावजूद अपनी कवि-चेतना की प्रगतिशील तथा सामाजिक रुझानों को न केवल जीवित रखा है, उन्हें अपनी सर्जना का भागीदार भी बनाया है। इस प्रगतिशील कविता के अन्तर्गत यदि एक ओर निराला, पंत तथा नरेन्द्र शर्मा जैसे कवियों का वह परवर्ती कृतित्व आता है, भक्ति, रहस्य तथा अध्यात्म की सारी चर्चा के बावजूद जिसकी मूल चेतना लोकोन्मुखी चेतना है, तो दूसरी ओर बच्चन तथा दिनकर जैसे कवियों की युगोद्‌बोधक रचनाएँ भी इसका स्वरूप स्पष्ट करती हैं। विशुद्ध सामाजिक यथार्थ की भूमि पर जनजीवन तथा धरती की महिमा को रूपायित करनेवाला, प्रखर सामाजिक बोध से दीप्त रामविलास शर्मा, नागार्जुन, केदार अग्रवाल, रांगेय राघव, 'सुमन' तथा त्रिलोचन जैसे कवियों का काव्य-सृजन यदि इसका मेरुदण्ड है, तो प्रगतिशील आन्दोलन की चेतना से आलोकित, व्यष्टि और समष्टि के किंचित् द्वन्द्व तथा शैली-शिल्पगत प्रयोगों की रुझान के बावजूद नयी स्वस्थ दिशाओं का आकांक्षी, और एक हद तक सशक्त ढंग से उनका चित्रण करनेवाला मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर, नरेश मेहता, हरिनारायण व्यास आदि कवियों की सर्जना भी इसके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कोण का निर्माण करती हैं। भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचन्द्र जैन, प्रभाकर माचवे, गोपालकृष्ण कौल, विजय चौहान जैसे कवियों तथा वीरेन्द्र मिश्र, नीरज, शम्भूनाथसिंह तथा रामदरस मिश्र जैसे गीतकारों के कृतित्व के एक महत्त्वपूर्ण अंश से लेकर केदारनाथसिंह, मदनवात्स्यायन आदि नई पीढ़ी के कवियों की नए भाव तथा सौन्दर्यबोध की सूचक, फिर भी सामाजिक चेतना की प्रशस्त राहों पर गतिशील नई कविता भी प्रगतिशील काव्य के व्यापक वृत्त-चित्र का एक अंग है। कहने का तात्पर्य यह कि आशा और आस्था की भूमि से, संकीर्ण व्यक्तिवाद तथा कोरे कलावाद की उपेक्षा करते हुए सामाजिक चेतना तथा प्रशस्त कला-मूल्यों का वरण कर, इस युग में हिन्दी कविता की जो भी आकृति उभरी है, वह प्रगतिशील कविता की ही विधायिका है, जिसे पैदा की गई तमाम धुंध के बावजूद इस अवधि के समूचे काव्य-निर्माण के बीच सरलता से पहचाना जा सकता है। वादी परिधियों को पीछे छोड़ आनेवाले इस साहित्यिक युग में किसी विशिष्ट चेतना की परख के लिए घोषित तथा जाने-बूझे क्षेत्रों के अलावा समग्रता पर यह दृष्टिपात आवश्यक भी है।

(२)

युग के प्रगतिशील बोध को भावना तथा बुद्धि की समन्वित भूमिका पर अभिव्यक्ति देने के लिए ही प्रगतिशील कविता एक समय इतिहास की अनिवार्यता बनकर सामने आई थी। उसका अब तक का विकास इस तथ्य का साक्षी है कि सामाजिक यथार्थ-दृष्टि के आलोक में उसने इस दायित्व का सफलतापूर्वक, उसकी सम्पूर्णता में, पालन किया है। इस सामाजिक यथार्थ-दृष्टि ने प्रगतिशील कविता को न केवल बाह्य यथार्थ के इस समूचे प्रसार में साँस लेते मानव-जीवन की तलस्पर्शीय भूमिकाओं

तक पहुँचाया है, परिवेश को भी पूरी विविधता के साथ देख सकने तथा चित्रित कर सकने की क्षमता दी है। मन की अँधियारी गलियों में भटकना और उन्हीं में खो जाना प्रगतिशील कवि की नियति नहीं है। यदि मन के अँधेरे कमरों में वह जाता भी है, तो मुक्तिबोध की तरह उस अँधेरे का तिलस्म तोड़ने के लिए, उसे बाहर के प्रकाश से आलोकित करने के लिए, यह साबित करने के लिए कि मन के भीतर का यह अँधेरा, और उसमें चक्कर लगाती हुई शक्लें अपने में निरपेक्ष कुछ भी नहीं, बाहरी जीवन के इस यथार्थ का ही अक्स हैं। उन्हें बाहरी दुनिया में बखूबी, आसानी से पहचाना जा सकता है। तभी मुक्तिबोध रात के सन्नाटे 'अँधेरे में' निकलने वाले बड़े-बड़े नामधारियों के विराट नंगे जुलूस को देखकर झट इस निर्णय पर पहुँच सकने का बोध प्राप्त कर पाते हैं कि ये तो इसी नगर की गहन प्रेतात्माएँ हैं जो हर रात जुलूस में चलती हैं और दिन में दफ्तरों, घरों, केन्द्रों तथा कार्यालयों में बैठकर भाँति-भाँति के षड्यन्त्र रचती हैं। इसी प्रकार तन और मन को तोड़कर रख देने वाले सारे भीतरी-बाहरी तनावों को भोग चुकने के बाद गिरिजाकुमार जब यह निष्कर्ष देते हैं कि 'मन के संघर्षों से बाहर के संघर्ष अधिक बोझिल हैं', तो प्रकारांतर से अपनी सामाजिक यथार्थ-दृष्टि का खरापन ही सूचित करते हैं। यह बोध ही उन्हें मन के अँधियारे में उभरने और मिट जानेवाली आकृतियों के चित्रण का मोह छोड़-कर बाहरी दुनिया में चल रहे भयानक-से-भयानक संघर्षों, मनुष्यता का रक्त तक निचोड़ लेने तथा धरती को सदा-सदा के लिए बंजर तथा वीरान बना देने वाली अतिचारी शक्तियों, शासन तथा समाज व्यवस्थाओं की असलियत को साफ़-साफ़ रेखांकित करने का साहस प्रदान करता है, और तभी वे 'एशिया का जागरण' तथा 'हब्स देश' जैसी कविता लिख पाते हैं। यह गिरिजाकुमार का ही नहीं, प्रगतिशील आस्था वाले इस युग के हर कवि का सत्य है। सामाजिक यथार्थ-दृष्टि का यही आलोक शमशेर को प्राय: रूपवादी ढलानों से ऊपर उठाते हुए युद्ध की काली छायाओं के बावजूद 'अमन का राग' गाने की शक्ति देता है, उन्हें अपनी कला-क्षमताओं को भारद्वाज की शहादत, जनक्रान्ति जैसे विषयों पर सार्थक करने के लिए प्रेरित करती है। नरेश मेहता की लेखनी सामाजिक यथार्थ-दृष्टि की इसी प्रेरणा से 'समय देवता' का आह्वान करती है, मनुष्य की उस आकृति को देखती है जो बावजूद अणुबम, अकाल, भूख, बीमारी जैसे युगीन अभिशापों के, आज भी नई समाज-रचना के संकल्प को लेकर, युग के सारे जुल्म और शोषण के बीच 'कुतुब-सरीखा' खड़ा है। सामा-जिक यथार्थ-दृष्टि के बल पर ही ये कवि मन के भीतरी द्वन्द्वों से जूझ सकने की, और प्राय: ही प्रशस्त पथों पर खड़े होकर स्वस्थ सामाजिक स्वरों के उद्‌घोष की शक्ति पाते हैं।

रामविलास शर्मा, नागार्जुन, त्रिलोचन तथा केदार का काव्य इस सामाजिक यथार्थ-दृष्टि द्वारा देखे गए जीवन को अनेक रूपों तथा अनेक स्तरों पर, शैली और शिल्प की सारी सहजता के साथ प्रस्तुत करता है। अन्तर्मुखी जीवन के अँधियारे चित्रों अथवा कला और शिल्प की पच्चीकारी पर जान देनेवालों को भले ही नागा-

र्जुन की अपेक्षाकृत खरी-रूखी अभिव्यक्ति, केदार का सहज भावबोध तथा त्रिलोचन की सरस-सादी अभिव्यंजना ग्राह्य न हो, परन्तु कविताई को किसान की तरह जोत-बोकर उसकी साधना करने वाले इन कवियों के काव्य में एक ऐसी प्रखर प्रभाव-क्षमता है जो समसामयिक सारे काव्य-संभार के बीच, प्रखर यथार्थ बोध, धरती तथा जनता के प्रति अनन्य प्रेम के सूचक, निष्कम्प आस्था तथा विश्वास से आद्यन्त मंडित इनके 'बोलों' को एक वैशिष्ट्य प्रदान करती है। जीवन की सारी विरूपता को चित्रित करने के साथ, उसके स्वस्थतम रूप की सारी छवियों से पूर्ण इनका काव्य बहुत दूर तक एक पिटी-पिटाई, परम्परा-मुक्त काव्य दिशा से भिन्न, भाव तथा सौन्दर्य-बोध दोनों धरातलों पर अभिव्यंजना की कुछ अत्यन्त प्राणवान लाकों की सृष्टि कर सका है। ये वे कवि हैं जिन्होंने जीवन को उसके सारे खट्टे-मीठे अनुभवों के साथ आगे बढ़कर स्वीकार किया है, और ईमानदारी तथा साहस के साथ उसकी तथा उसके बीच पलने वाली कविता की एक नई मूर्ति गढ़ने की दिशा में अपने प्रयत्नों को सक्रिय किया है। युग-शोषण तथा उस शोषण के बावजूद एक नये स्वस्थ जीवन के लिए संघर्ष करते हुए मनुष्य की जो आकृतियाँ रामविलास या नागार्जुन के काव्य में उभरी हैं, धरती की सोंधी गंध तथा नगर और ग्रामों की विषमतापूर्ण जिन्दगी के बीच जो कुछ स्वस्थ, सबल तथा सुन्दर ये अथवा केदार देख सके हैं, गँवई-गाँव की प्रकृति और वहाँ के सामान्य लोगों के बीच सुख-दुख पूर्ण अपनी ज़िन्दगी गुजारते हुए भी युग-जीवन की जो थोड़ी भी साफ़ छवियाँ त्रिलोचन की कविता में ढल सकी हैं, वे वस्तुतः सामाजिक यथार्थ और इस यथार्थ को सामने ला सकने वाली इनकी पैनी दृष्टि तथा प्रशस्त संवेदना की ही परिचायिका हैं। दृष्टि की इस नूतनता ने ही इन कवियों को एक नया आत्मविश्वास तथा धरती और जन-जीवन से सम्पृक्ति के नये आधार दिए हैं। इन्होंने यथार्थ के कुछ विरूप कोनों का ही नहीं, उसकी सम्पूर्णता में उसे देखा तथा परखा है। तभी उनके विश्वास का धरातल उन कवियों के धरातल से भिन्न हो जाता है, जो धरती तथा जनता की तुलना में केवल अपने को ही प्यार करते हैं, अपने खण्डित नज़रिये को ही दुनिया का नज़रिया मान लेने की हिमाक़त दिखाते हैं। आत्मरति अथवा खण्डित यथार्थ की इन भूमिकाओं से प्रगतिशील कविता का कोई सम्बन्ध नहीं। वह व्यक्ति की होते हुए भी जन-जन की कविता है—निराला के शब्दों में जनता की सरस्वती, जनता के दुख-दर्दों, हर्ष-उल्लास, उसकी प्रकृति, ऋतुओं तथा लोकगीतों के सारे सौन्दर्य, उसके कठोर श्रम की साक्षात प्रतिमूर्ति—तेजोदीप्त प्रतिमा, जैसे सुलगती हुई यथार्थ की ज्वाला के बीच से चमकती-दमकती अभी-अभी निकाली गई हो।

यह सामाजिक यथार्थ-दृष्टि ही है जिसने प्रगतिशील कवि को गँवई-गाँव की प्रकृति की सरल-सादी सुषमा की ओर मोड़ा है, लोकजीवन की गहराइयों में उतरकर अपनी संवेदनाओं को सार्थक करने की प्रेरणा दी है। सौन्दर्य-बोध का यह एक नया ही धरातल है जो प्रगतिशील कविता के इस अंश में पहली बार उद्घाटित होता है। इसके मूल में वही आन्तरिकता तथा वही मोहाकुल रुझान है जिसने वर्ड्सवर्थ की दृष्टि

को बलात् नदी के कगार के एक उपेक्षित कोने में खिले ढेर-के-ढेर डैफोडिल के फूलों से बाँध दिया था। 'ग्राम्या' के रचनाकाल में पंत के 'ग्रामीण नयनों' ने पहली बार इसे देखा था, फलत: ग्राम्य-प्रकृति के कुछ बहुत दुर्लभ चित्र हिन्दी कविता को प्राप्त हुए थे। निराला ने 'देवी-सरस्वती' में इसे साकार किया, और यही परम्परा अपने समृद्ध रूप में नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन, रामविलास तथा नई पीढ़ी के अनेक कवियों में दिखाई पड़ती है। ग्रामीण जीवन की सारी सहज सुषमा वहाँ की इस प्रकृति में भी ज्यों की त्यों विद्यमान है। बैंसवाड़े के तालों में खिलती कोकानेली, मिथिला के सरोवरों के तालमखान और कमल, बुंदेलखण्ड की फसलों का स्वयंवर, और इसी प्रकार के अनेकानेक चित्रों का एक समूचा संभार इन कवियों में द्रष्टव्य है। ये कविताएँ इन कवियों के अंचल-प्रेम के साथ इनके उत्कट देश-प्रेम की भी परिचायिका हैं, और यही 'मेघदूत' को भारत के एक सच्चे देशभक्त कवि की वाणी कहने वाले उतने ही देशभक्त समीक्षक आचार्य शुक्ल के कथन को नये सन्दर्भ देती हैं। प्रगतिशील कविता के इन कवियों की देशभक्ति पर जब तब उँगली उठाने वाले, आचार्य शुक्ल के इस कथन रूपी दर्पण में चाहें तो 'अपनी देशभक्ति' की शक्ल देख सकते हैं। प्रगतिशील कविता की इसी लीक पर आगे के मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार, हरिव्यास, केदारनाथसिंह, मदन वात्स्यायन जैसे कवि चलते हैं, जो ग्राम्य-प्रकृति की इस सुषमा को रूपविधान की नई भंगिमाओं में सामने लाते हैं। इन सारी कविताओं के मूल में जिस गहरी 'वासना' की स्थिति है, उसके परिणाम को गँवई-गाँव के दस-पाँच शब्दों का इस्तेमाल करके, ग्राम्य प्रकृति के चित्रण का भ्रममात्र पैदा करनेवाली कविताओं में नहीं परखा जा सकता। यह धरती के प्रति उस सम्पृक्ति का आकांक्षी है जो देश की उत्तर-दक्षिण पूर्व-पश्चिम की सीमाओं का कोरा निर्देश करनेवाली 'देशभक्ति पूर्ण' पंक्तियों में नहीं, 'अबकी मैं जीभर छू पाया, अपनी गँवई पगडंडी की चन्दनवर्णी धूल' जैसी पंक्तियों में सार्थक होती है। नागार्जुन के लिए इस 'चन्दनवर्णी धूल' को 'जी भर छू पाने' का संतोष कुबेर की सारी सम्पत्ति से भी कहीं अधिक मूल्यवान है।

ग्राम्य प्रकृति के साथ-साथ लोक-जीवन की सजीव भूमिका भी प्रगतिशील कविताओं में बड़ी सफाई से उतरी है। जन सामान्य का दैनंदिन जीवन, उसके तिथि-त्योहार, क्षण-भर के लिए अपनी विपदाओं को भूलकर उनमें खो जाने वाला उसका उत्साह, साँझ होते ही हथेलियों में जलपात्र धरे गाँव की बहुओं-कुमारियों का पाँति बाँधकर मंदिरों की ओर धीरे-धीरे गाते हुए जाना, सेंदुर लपेटे गाँव के टूटे-फूटे मंदिरों के टूटे-फूटे महावीर और उनकी पूजा-अर्चना, सावन की झड़ी लगते ही चौपालों पर आल्हा के साथ ढोलक पर पड़ने वाली थाप, तुलसीदास की 'रामायन' का अखण्ड पाठ, कतकी का ठर्रा, मुँह-अँधेरे गलिहारों को पार करती हुई बैलगाड़ियों में जुते बैलों के गले में बँधी घंटियों की विश्रृंखलित टुनटुनाहट, ऊँघते हुए बच्चे, प्रसन्न ग्रामीणाएँ, हाँक लगाते युवा-अधेड़ गाड़ीवान, चित्रकूट के बौड़म यात्री, बरगद के नीचे छोटे लोगों की जमी महफिल में पेशवाज़ पहने पतुरियों का नाच और दारु का दौर, चैती-बिरहा के कलेजे को चीर देने वाली आवाज़, भूत-प्रेतों की बनावटी कहानियों

की शिवालयों पर होने वाली लम्बी चर्चाएँ—तात्पर्य यह है कि लोक-जीवन की सारी भूमिकाएँ आकर्षक छवियों में प्रगतिशील कविता की विशिष्ट उपलब्धि के रूप में इन कवियों द्वारा सामने लाई गई हैं। इन्हें ग्रामीण जनता का 'पिछड़ापन' कह लीजिये या 'अंध-विश्वास', ये उसके वर्तमान जीवन का अंग हैं, नये स्वस्थ जीवन के लिए छेड़े गए भयानक संघर्षों में, इन्हीं से रस लेती हुई, वह सदैव से जूझती रही है और विजयी भी हुई है। निराला, नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन, रामविलास, गिरिजाकुमार, केदारनाथ सिंह आदि की कविताओं में प्रगतिशील दृष्टि के आलोक में इन्हें बखूबी देखा जा सकता हैं।

सामाजिक यथार्थ की यही चेतना प्रगतिशील कवि को जीवनाभिमुख बनाती है, परिवेश की सारी भयावहता, सारे तनावों के बावजूद उसे घुट-घुटकर मरने की ओर नहीं, प्रत्युत आशा, विश्वास और जीवन की सारी कुरूपता से संघर्ष करते हुए उसके नये संस्कार को सम्भव बनाने वाली दिशाओं की ओर सक्रिय करती है। जीवन के प्रति, मनुष्य तथा मानव समाज के नए भविष्य के प्रति प्रगतिशील कवि की निष्कम्प आस्था का यही प्रमुख स्रोत है। हाथी दाँत की मीगरों में छिपकर बैठ जाने वाली पलायन की भूमिकाएँ प्रगतिशील कवि के लिए अपरचित हैं, उपलब्ध क्षणों को सबसे कटकर अकेले ही भोग लेने वाली संकीर्ण भोगवादिता का भी उससे कोई सम्बन्ध नहीं, उसका विश्वास संघर्ष और नव-निर्माण की सक्रियता पर है। उसके लिए उसकी कविता की सार्थकता उसी समय है, जबकि वह एक तेज हथियार के रूप में जीवन की विरस तथा जर्जर आकृति से संघर्ष करते मनुष्य के हाथों में अपनी सारी धार के साथ चमक सके, जीवन को उसके स्वस्थतम रूप में मनुष्य के लिए भोग सकने के योग्य बना सके। यहाँ क्षण में ही समूची विराटता को देख लेने वाली खोखली दार्शनिकता नहीं, और न ही 'वेस्ट लैन्ड'-सी अकर्मण्य अनास्था, यहाँ जीवन की अबाध स्वीकृति तथा धरती और मनुष्य के भविष्य के प्रति अखण्ड विश्वास है। इस विश्वास को क्षण के तराजुओं में नहीं तौला जा सकता। स्वातन्त्र्योत्तर समूची प्रगतिशील कविता में ये स्वर अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ ध्वनित हुए हैं। केदार की ये पंक्तियाँ—

'प्यार है मनुष्यों में—बार-बार जीने का,
बार-बार राग रूप, गंध, धूप पीने का,
बार-बार पृथ्वी में नया जन्म पाने का,
बार-बार गाने का—गेह के बसाने का।'

ऐसा नहीं है कि प्रगतिशील कवि को अपने दुःख-दर्द नहीं सताते, गोया वह मनुष्य न होकर पत्थर का पुतला हो। सिंध-प्रवास के समय अपनी धरती तथा स्नेही-जनों से बिछड़े नागार्जुन के ये उद्‌गार कि—

'हो गया हूँ मैं नहीं पाषाण
जिसको डाल दे कोई कहीं भी,
करेगा वह कभी कुछ न विरोध

दुःख-सुख की सहज संवेदनाओं का औरों की भाँति अनुभव करने वाले एक

साधारण मनुष्य के रूप में ही उन्हें प्रस्तुत करते हैं। युग का विषम परिवेश प्रगतिशील कवि के तन और मन पर भी अपने गहरे निशान डालता है, निराशा की घड़ियाँ उसकी चेतना को भी दबोचती हैं। सामान्य, औसत मनुष्य की भाँति उसके कदम भी प्रणय की पगडंडियों पर उठते हैं, फलत: संयोग और वियोग की मधुरतिक्त अनुभूतियाँ भी उसके मानस का अंग बनती हैं। अन्तर केवल इतना है कि प्रणय के सुख-दु:ख हों अथवा जीवन के अन्य क्षेत्रों से प्राप्त सफलताएँ-असफलताएँ, प्रगतिशील कवि इन सारी स्थितियों को सहज मन से स्वीकार करता है। उनकी अभिव्यक्ति भी, उसकी कविता, इसी सहजता के साथ करती है—कुंठाहीन स्वच्छ मन की स्वच्छ-सहज अभिव्यक्ति। निराश-से-निराश मन:स्थिति में भी वह इसी कारण टूट नहीं पाता कि उसकी सामाजिक चेतना उसे हर क्षण यह अनुभूति देती है, कि इन स्थितियों को भोगने वाला वह अकेला नहीं है, और भी हैं जो इनसे पीड़ित हैं, और सामाजिक चेतना की इसी लौ के प्रकाश में वह सहज ही इन स्थितियों से उबर कर पुन: सचेत भूमिका पर आ जाता है। त्रिलोचन जब यह कहते हैं कि 'सुख हो या दु:ख, अकेले सहा नहीं जाता' तो अपनी तथा अपने साथियों की इसी सामाजिक चेतना को अभिव्यवित देते हैं।

प्रगतिशील कवियों की प्रणय-सम्बन्धी कविताएँ भी इसी कारण अन्य कवियों की ऐसी कविताओं से विशिष्ट हैं। संयोग की भूमिका में यदि उनमें प्रगतिशील कवि का मुक्त उल्लास दृष्टिगत होता है, तो वियोग की स्थितियों में क्षय से सर्वथा रहित उसका प्रसन्न अवसाद। अधिकतर तो इन कवियों में दाम्पत्य-प्रणय की अत्यन्त प्रशस्त तथा उदात्त आकृति उभरी है। सिंध-प्रवास की घोर-निर्जन परिस्थितियों में नागार्जुन के मन में जब उनकी प्यारी मिथिला की धरती की स्मृतियाँ उभरती हैं, तो अनेक विम्बों में, माला के सबसे बड़े कमल की भाँति उनके नेत्रों के सामने सबसे पहले उनकी प्रिया का 'सिंदूर-तिलकित भाल' स्पष्ट होता है। नरेन्द्र शर्मा, त्रिलोचन तथा मदन वात्स्यायन की कुछ कविताएँ भी इस दाम्पत्य प्रणय को बड़ी स्वच्छ तथा सजीव अभिव्यक्ति देती हैं। दाम्पत्य प्रेम की इस स्वच्छ, सहज भूमिका ने प्रगतिशील कविता की प्रणय कविताओं को वह वैशिष्ट्य प्रदान किया है, जो समसामायिक कविता में चित्रित प्यार की सारी काल्पनिक उड़ानों, उसके 'दर्द' के सारे-कयामत भरे अफसानों से कहीं अधिक जीवन्त तथा मूल्यवान है। दाम्पत्य प्रेम की स्वस्थ भूमिका से विच्छिन्न, प्यार के घुटन-भरे दर्द में ही सुख का अनुभव करने वालों को मदन वात्स्यायन का यह प्रसन्न अवसाद भले ही प्रभावित न करे, लेकिन जिस मन ने इस प्रेम को भरपूर भोगा है, वह उसकी इस मधुर पीड़ा का भी अनुभव कर सकता है—

> **'आज भी सुलाते हैं मुझे पड़ोसिन के विहाग,**
> **आज भी जगाती है मुझे ऊषा चहकती;**
> **बस रामू को पुकारती एक पतली आवाज़ नहीं है**
> **और कुछ भी नहीं है।...'**

इस युग की प्रगतिशील कविता में ही जब-तब वात्सल्य की भी वे मार्मिक अभिव्यक्तियाँ

देख पड़ती हैं, जिसका सम-सामयिक बहुत-सी कविता में लगभग अभाव है। किसी की 'दंतुरित मुस्कान' पर रीझ उठने वाले नागार्जुन तथा 'स्वस्ति मेरी बेटी' के गायक मदन वात्स्यायन प्रगतिशील कविता की ही उपलब्धि हैं।

इस युग की प्रगतिशील कविता ने अस्पष्टताओं के घटाटोप में घिरी मानववाद की व्याख्याओं को भी नये आधार तथा संदर्भ दिए हैं। मानववाद के नाम पर घोर व्यक्तिवाद का नज़ारा दिखाने वाली तथा मानव-मूल्यों के नाम पर अराजकता का प्रचार करने वाली विचारणाओं की असलियत स्पष्ट करते हुए प्रगतिशील कविता ने सिद्ध किया है कि मानववाद कोई लेबिल नहीं है जिसे हर कोई अपनी छाती पर चिपकाए उसका विज्ञापन करता फिरे। उसका सम्बन्ध दृष्टिकोण की आंतरिकता से है, जो विज्ञापन या प्रचार की मुहताज नहीं। प्रगतिशील कविता इस कारण सही और सच्ची मानववादी कविता है कि मनुष्य के सचेतन व्यक्तित्व को प्रधानता देती है। उसके केन्द्र में समूचे सुख-दुःख के लिए एक सामाजिक-मानव की ही मूर्ति प्रतिष्ठित है। उसका सारा प्रयास इसी सामाजिक मनुष्य की सम्पूर्ण आकृति को रूपायित करते हुए उसकी वास्तविक मुक्ति है—उसकी आकृति को मलिन करने वाली समस्त विरूप छायाओं से उसकी मुक्ति। एक नये और स्वस्थ मानव-मन का निर्माण उसका लक्ष्य है, जिसे हरिनारायण व्यास ने 'इस पुरानी जिन्दगी की जेल में, जन्म लेता है नया मन' कहकर अभिव्यक्ति दी है। प्रगतिशील कविता में केवल विषमताओं से ग्रस्त दुर्बल मनुष्य की ही आकृति नहीं चित्रित है, उसमें उन विषमताओं से लड़ती उसकी संकल्प-दीपित प्रतिमा भी उभरी है, और यही उसकी मुख्य दिशा भी है। प्रगतिशील कवि मनुष्य में उसकी शक्ति का अहसास पैदा कर, उसे समर्थन देकर, उसमें नया आत्म-विश्वास भरता है। वह स्वतः उन परिस्थितियों के लिए संघर्ष करता है जिनमें मानव व्यक्तित्व अपनी सहजता में सम्पूर्णतः विकसित हो सके। उदात्त मानव-मूल्यों की जिस भित्ति पर प्रगतिशील कविता की इमारत खड़ी हुई है, उन मूल्यों को सम्भव बनाने के लिए वह मनुष्य की इसी आकृति का आकांक्षी है। इसमें संदेह नहीं कि उसके सारे प्रयत्न इसी मानव-आकृति को प्राप्त करने की ओर हैं। यह वह क्रान्तिकारी मानववाद है जिसका संदर्भ 'लघुमानव' नहीं, लघु कहे जाने वाले धरती के कोटि-कोटि संघर्ष-रत मानव हैं, और यही प्रगतिशील कविता के नायक भी हैं। उद्धरणों की आवश्यकता नहीं, समूची प्रगतिशील कविता के बीच उन्हें आसानी से देखा जा सकता है।

प्रगतिशील कविता की यह मानववादी विचारणा किसी एक भूभाग की परिधि बद्ध नहीं है, इसका क्षेत्र सम्पूर्ण विश्व है। मनुष्यता जहाँ भी पीड़ित है, मनुष्य जहाँ भी अपनी तथा समाज की नई रूपरेखा के लिए संघर्ष कर रहा है, प्रगतिशील कवि की संवेदना का प्रसार निर्बाध रूप से वहाँ तक है। यह वह भूमिका है, जहाँ पूर्व और पश्चिम के भेद मिथ्या हो जाते है—सत्य है तो केवल मनुष्य की जीवित-जागृत प्रतिमा। इस अन्तर्राष्ट्रीय बोध को भी प्रगतिशील कविता के किसी भी कवि की कविताओं में देखा जा सकता है, जिसे श्रीमती विजय चौहान ने 'स्वर, स्वर है, देशी हो या विदेशी'—इस पंक्ति द्वारा अपनी इसी शीर्षक की कविता में स्पष्ट किया है।

शमशेर के 'अमन का राग', गिरिजाकुमार की 'हब्श देश', 'एशिया का जागरण' तथा अन्य कविताओं के साथ-साथ यह समस्त प्रगतिशील कवियों का मूल स्वर है। इस अन्तर्राष्ट्रीय बोध के अभाव में स्वतः प्रगतिशीलता ही प्रश्न-चिह्नों के कटघरे में बन्दी हो जाती है।

व्यंग्य इस युग की प्रगतिशील कविता की भी उतनी ही बड़ी उपलब्धि है, जितना स्वतन्त्रतापूर्व की। यह भारतेन्दु और उनके युग की परम्परा है जो निराला और पन्त से होती हुई इस युग की प्रगतिशील कविता को विरासत के रूप में मिली है। व्यंग्य को प्रगतिशील कवियों ने यथार्थ के एक अत्यन्त सशक्त और प्रभावशाली माध्यम के रूप में ही ग्रहण किया है, यही कारण है कि उनकी रचनाओं में ये रचनात्मक मूल्य लेकर आए हैं। इन व्यंग्यों का लक्ष्य व्यक्ति, समाज, संस्थाएँ, जर्जर तथा सड़ी-गली रूढ़ियाँ—सब बनी हैं, और सबके ऊपर चोट करते हुए इन्होंने सबकी असलियत को उघारकर सामने रखा है। नागार्जुन का प्रदेय इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। उनके व्यंग्यों से बहुतों को चिढ़ है, परन्तु वैसी ही, जैसी रोगी को दवा से होती है—क़सूर दवा का नहीं है। यह ठीक है कि कहीं-कहीं नागार्जुन के व्यंग्य असन्तुलित हो उठे हैं, परन्तु 'प्रेत का बयान', 'तालाब की मछलियाँ', 'वे और तुम' तथा इस अवधि की उनकी बहुत-सी अन्य व्यंग्य-रचनाएँ इस तथ्य को भी प्रमाणित करती हैं कि इस शस्त्र के प्रयोग में वे कितने सिद्धहस्त हैं। व्यंग्य की यही प्रखरता अपनी रचनात्मक सम्भावनाओं के साथ श्रीमती विजय चौहान की 'नये कवि के प्रति' शीर्षक कविता में देख पड़ती है, जिसने बहुतों को अपनी आकृति पर एक बार फिर से गौर करने की समझ दी है। गिरिजाकुमार और मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा और केदार, त्रिलोचन और भवानीप्रसाद मिश्र, प्रभाकर माचवे और मदन वात्स्यायन, सब ने इस माध्यम का आवश्यकतानुसार सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। हिन्दी कविता के इस पक्ष को सम्पन्न करने का एक बहुत बड़ा श्रेय इस युग की प्रगतिशील कविता को है।

प्रगतिशील कविता की यह प्राणवान वस्तु स्वातन्त्र्योत्तर युग में कला और शिल्प की अनेक नूतन भंगिमाओं की सूचना देती है। परन्तु इस क्षेत्र में उसकी उपलब्धियाँ दूसरी धाराओं के कवियों की उन उपलब्धियों से बहुत भिन्न हैं, जिन्होंने कला और शिल्प की ही आराधना को कविता का सर्वस्व मानकर या तो कोरे कलावाद की ही सृष्टि की है या फिर मध्यवर्गीय मन की कुंठा तथा क्षय को शिल्प की बारीकियों के बीच अभिव्यक्ति दी है। प्रगतिशील कवियों ने कला तथा शिल्प की नूतन भंगिमाओं को वहीं तक ग्रहण किया है जहाँ तक वे व्यक्ति, समाज तथा जीवन के प्रति उनकी स्वस्थ प्रतिक्रियाओं को, जीवन तथा जगत के समूचे प्रसार से ग्रहण की गई उनकी अनुभूतियों को प्रभावशाली माध्यम बनकर अभिव्यक्ति दे सकें।

भाषा का ही उदाहरण लें तो भाषागत प्रयोगों की एकान्त वैयक्तिक लीकों से बचते हुए प्रगतिशील कवियों ने अपनी कविताओं में न केवल उसकी व्यंजना-शक्ति को समर्थ बनाया है, आधुनिक जीवन के समूचे प्रसार से शब्दों का चयन करके उसे व्यापकता भी दी है। भाषा का ढला-ढलाया कोई टकसाली रूप प्रगतिशील कविता

में उपलब्ध नहीं होता, परन्तु काव्यगत संप्रेषणीयता को अधिकाधिक सक्षम बनाने के लिए भाषा के जिस सहज, सुथरे, अर्थगर्भ तथा लोकप्रिय रूप की आवश्यकता होती है, उसकी सत्ता अपनी-अपनी भूमिका में इन सब कवियों का सत्य है। यदि नागार्जुन केदार, त्रिलोचन, रामविलास शर्मा तथा सुमन जैसे कवियों में भाषा की लोकप्रियता तथा सहजता का गुण विशेष रूप से दिखाई पड़ता है, तो गिरिजाकुमार, नरेश मेहता, केदारनाथसिंह, मुक्तिबोध तथा शमशेर जैसे कवियों में निजता का तत्व अधिक है। यह निजता शमशर तथा नरेश मेहता के भाषा-प्रयोगों को कुछ दूर तक चिन्त्य बनाने में भी सफल हुई है, परन्तु दूसरों के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। अपने खास अन्दाज़ में भी उसका सामाजिक स्वरूप क्षतिग्रस्त नहीं होने पाया है, और उसने सफलतापूर्वक कथ्य की अभिव्यंजना की है। यही बात नवगीतों के पुरस्कर्ता प्रगतिशील आस्था वाले गीतकारों के लिए भी कही जा सकती है, जिन्होंने भाषा की रोमांटिक रुझानों के बावजूद उसे छायावादी पन्त की 'रलमल टलमल' या 'धूल-फूल, शूल, कफ़स, जैसे पिटे-पिटाए नीरस-बेजान हो गए शब्दों से बचाया है। लोक-जीवन से शब्दों का चुनाव करते हुए अपनी भाषा को सम्पन्न करने के प्रति सभी प्रगतिशील कवि सजग रहे हैं, और इस रुझान ने उनकी भाषा की शक्तिमत्ता तथा आकर्षण को बढ़ाया ही है।

छन्द-प्रयोगों में भी इस युग की प्रगतिशील कविता ने अतिरिक्त नयेपन से बचते हुए, परम्परागत भूमिकाओं से जुड़कर ही नये पथों पर प्रयाण किया है। गीत, गज़ल, रुबाई, सानेट तथा परम्परागत अन्य काव्यरूपों के साथ, विशेष रूप से मुक्त छन्द के प्रयोग के प्रति सबकी रुझान रही है। इस मुक्त छन्द को प्रगतिशील कवियों ने लय-तत्व की संगति में ही ग्रहण करने की चेष्टा की है, यद्यपि अपवाद भी मिलते हैं। शमशेर के प्रयोगों में वैचित्र्य की मात्रा भी पर्याप्त रूप से देख पड़ती है, परन्तु यह वैचित्र्य उन कविताओं का सत्य नहीं है, जो उन्हें प्रगतिशील कवि की संज्ञा देती हैं। लय-तत्व की इस चर्चा के सन्दर्भ में ही नये गीतकारों का स्मरण भी हो आता है। शम्भूनाथ सिंह, वीरेन्द्र मिश्र तथा क्षेम जैसे विशुद्ध गीतकारों को छोड़ भी दिया जाय, जिनके गीत भावानुरूप लय तथा संगीत की सहज स्थितियाँ सूचित करते हैं, तो गिरिजाकुमार, शमशेर, केदारनाथ सिंह, केदार अग्रवाल, ठाकुरप्रसाद सिंह, मदन वात्स्यायन आदि के गीतों में भी लोक भूमिका से जुड़कर लय-तत्व का नया अभिनिवेश देख पड़ता है। कविता और संगीत की भूमिकाओं को पृथक् मानने वाले संगीत के काव्य-प्रवेश पर सिर धुना करें, गीत-विधा इस संगीत को साथ लेकर ही जन्मी है, और आज तक नई-नई भूमिकाओं में उसे ग्रहण करते हुए ही आगे बढ़ रही है। अज्ञेय जैसे आधुनिक कहे जाने वाले कवि ने भी जो गीत लिखे हैं—यह संगीत-तत्त्व उनसे भी पृथक् नहीं हो पाया है। लोकलयों की भूमिका में मानस के भावबोध को अभिव्यक्ति देने वाले इन कवियों के ये गीत स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविता की विशेष उपलब्धि हैं। केदार अग्रवाल तथा केदारनाथ सिंह के नये गीतों का स्मरण तो यहाँ विशेष रूप से होना चाहिए।

इस अवधि की प्रगतिशील कविता ने अपने भावबोध को सौन्दर्य के नये आयाम भी दिए हैं। सामाजिक यथार्थ की भूमि से रस ग्रहण करते हुए भी प्रगतिशील कवियों की कल्पना ने आकर्षक से आकर्षक तथा ताज़े-से-ताज़े शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध-चित्रों की सृष्टि की है। त्रिलोचन, गिरिजाकुमार, शमशेर, नरेश मेहता, केदारनाथ सिंह तथा मदन वात्स्यायन आदि कवियों के काव्य में सौन्दर्यबोध की नई दिशाएँ प्रारम्भ से ही विद्यमान रही हैं (जो सर्वथा नये निबन्ध का विषय हैं), परन्तु नागार्जुन तथा केदार का नया काव्य भी इस दृष्टि से, इस अवधि में, अपनी विशिष्ट रूप-भंगिमाओं तथा सौन्दर्य की तलस्पर्शीय भूमिकाओं के साथ सामने आया है। किसी समय इन पर रूखेपन का, अभिधामूलक उक्तियों का, समतल-सपाट अभिव्यक्ति का आरोप लगाया जाता था, परन्तु नागार्जुन की, इस अवधि की, 'अबके इस मौसम में कोयल आज बोली है, पहली बार', 'यह तुम थीं', 'तन गई रीढ़', 'सतरंगे पंखों वाली' आदि-आदि कविताएँ सहज ही इस आरोप का तिरस्कार करती हैं—

'कर गई चाक, तिमिर का सीना
जोत की फांक, यह तुम थीं।
सिकुड़ गई रग-रग, झुलस गया अंग-अंग
बनाकर ठूँठ छोड़ गया पतझार
उलंग असगुन-सा खड़ा रहा कचनार
अचानक उमगी डालों की सन्धि में, छरहरी टहनी
पोर-पोर में गसे थे टूसे,
यह तुम थीं।
झुका रहा डालें फैलाकर, कगार पर खड़ा कोढ़ी गूलर
ऊपर उठ आई भादों की तलइया
जुड़ा गया बौने की छाल का रेशा-रेशा
यह तुम थीं।

केदार का सत्य भी यही है। उनकी नयी कविताएँ स्वस्थ मन के प्रशस्त सौन्दर्य-बोध को जिन छवियों में प्रस्तुत करती हैं, वे छवियाँ नये सौन्दर्य-बोध का दावा करने वाले आज के बहुत से कवियों की तुलना में प्रगतिशील कविता की शक्ति का प्रमाण हैं—

१. पहले जब देखा था, सावन था, बादल थे
इससे कम देखा था,
लेकिन अब फागुन है,
फूलों में, गन्धों में, बाँधे तन देखा है,
इससे अब देखा है।

२. नीली पँखुरियों के एक खिले फूल ने
आज मुझे काट लिया
और मैं अचेत रहा, धूप में।

ये कुछ उदाहरण मात्र हैं। इन उदाहरणों की एक बड़ी संख्या इनके नये काव्य में है।

हमारा उद्देश्य यहाँ प्रगतिशील कविता की इस समृद्धि का एक संकेत मात्र देना था। स्पष्ट है कि प्रगतिशील कवियों ने अपनी प्राणवान वस्तु को भावाश्रित कल्पना की समर्थ भूमि पर प्रस्तुत करते हुए नये युग के काव्य के बीच उसके केन्द्रवर्ती स्थान को निश्चित कर दिया है।

स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविता के समूचे प्रसार को उसकी सारी मूलभूत विशेषताओं के साथ समेट सकने की दिशा की ओर इस छोटे-से निबन्ध में एक हलका प्रयास मात्र हुआ है। इस कविता की अपनी सीमाएँ भी हैं, परन्तु महत्व सीमाओं का नहीं, उन सीमाओं के बावजूद की गई उपलब्धियों का है। और उपलब्धियों की इस भूमि पर प्रगतिशील कविता अपनी अशेष सम्भावनाओं के साथ इस युग में, इस प्रकार अपना परिचय दे रही है, जैसे अभी-अभी उसका जन्म हुआ हो। उसके जनाजे में कन्धा देने की इच्छा रखने वाले फुरसत से बैठकर प्रतीक्षा करें।

डॉ० रमाशंकर मिश्र

हिन्दी कविता : प्रयोगशील

तार साप्तक-प्रकाशन काल के पूर्व जिन कवियों ने छायावादी-काव्यमूल्यों और काव्योपकरणों का विरोध किया था, वे प्रगतिशील विचारों के कवि थे। प्रगति और विकास के नैरन्तर्य ने 'परम्परा' के प्रति आसन्न-भावना को केन्द्रित न कर परम्पराओं के परिवेश और अन्तर-परिक्षेत्र से मुक्त किया। तार सप्तक के प्रकाशन काल में परम्पराओं के प्रति विद्रोह की भावना देखने को मिलती है। इसका मूल कारण प्रगतिशील विचार-चेतना का निरन्तर विकास और प्रयोगशील 'वस्तु' एवं 'शिल्प' की उद्भावना होना है। कार्ल मार्क्स के साम्यवादी जीवन-दर्शन ने भी भारतीय चिन्तनधारा को प्रभावित किया। किन्तु यह प्रभाव प्रगतिशीलता से सम्बन्ध रखता है। चिन्तनधाराओं के समन्वय के कारण विचारों में गति और प्रगति आ गई, भावनाओं के परिक्षेत्रों का प्रसार होने लगा। कविता में इस प्रगतिशीलता ने वस्तु को नवीनता और शिल्प को प्रयोगशीलता दी। प्रगतिशील विचारधारा से प्रभाव ग्रहण कर गजानन माधव मुक्तिबोध, शमशेर बहादुरसिंह, नागार्जुन, केदारनाथसिंह, और त्रिलोचन आदि कवियों ने तार-सप्तकोत्तर काव्य-धारा को परम्पराओं से मुक्त किया और 'वस्तु' की विविधता और नवीनता का समन्वय कर प्रगतिशीलता का उन्मेष किया।

किन्तु प्रगति, 'वस्तु' तक ही सीमित न होकर 'शिल्प' के विविध परिवेशों में भी व्यक्त होने लगी। प्रगतिशील विचारधारा के अधिक अभिव्यंजना-शिल्पगत प्रयोग आरम्भ हुए और 'वस्तु' में भी प्रयोगशीलता समरस हो गई। फिर भी प्रगतिशील एवं प्रयोगशील विचारधाराएँ पूर्णतः अलग-अलग न हो सकीं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त प्रयोगशील विचारधारा का प्रसार होता गया और आज प्रयोगशील विचारधारा अपने

विकसित रूपों में दिखाई दे रही है। प्रगतिशील विचारों की संरक्षणा भी आज के कवि कर रहे हैं किन्तु प्रयोगशीलता का स्वस्थ स्वरूप जिन कवियों की रचनाओं में उपलब्ध होता है, उनमें सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', डॉ० जगदीश गुप्त, डॉ० प्रभाकर माचवे, डॉ० कैलाश वाजपेयी, दुष्यन्त कुमार, कुंवरनारायण, लक्ष्मीकान्त वर्मा, वीरेन्द्रकुमार जैन, भवानीप्रसाद मिश्र, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, विजयदेवनारायण साही, प्रयागनारायण त्रिपाठी, नरेश मेहता एवं श्रीकान्त वर्मा का उल्लेख किया जा सकता है। इन कवियों ने वस्तुविधान को नवीनता और शिल्प को अलंकृति प्रदान की है।

प्रयोगशील कविता का मूल्यांकन करते समय सामान्य रूप से यह आक्षेप किया जाता है कि इस धारा की काव्याभिव्यंजना सामान्यीकृत नहीं है। अनेक आचार्यों ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है। सत्य तो यह है कि प्रयोगशील कविता ने परम्परागत मूल्यों को अभिव्यक्त न कर जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति की है। प्रयोगशील काव्य में 'वस्तु' और 'शिल्प' के नवीन प्रयोग हुए हैं। यथार्थ सत्य का अन्वेषण करना और नवीन मूल्यों का प्रतिपादन ही प्रयोगशील कविता में हुआ है। ये जीवनमूल्य वास्तविक सत्य से ही उद्‌भूत थे। जिस समय प्रयोगशील काव्यधारा का आविर्भाव हुआ, उस समय तक प्रगतिवादी विचारचेतना ही गतिशील थी। अतएव मानसचेतना, जीवन के यथार्थ की ओर उन्मुख होने लगी थी। किन्तु सौन्दर्य-दृष्टि, मात्र प्रगति के परिक्षेत्रों में ही सीमित न रह सकी। उसका निरन्तर प्रसार होता गया और इसका परिणाम यह हुआ कि नये सत्य की अभिव्यंजना काव्य में होने लगी। प्रश्न उठता है कि यह नया सत्य क्या है, जिसका अन्वेषण प्रयोगशील काव्यधारा के रचनाकारों ने किया? वास्तव में काव्य-विधान को जीवन के विराटत्व से विलग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक मानस यथार्थ-सत्य से सम्बद्ध होता है और इस परिक्षेत्र से ही प्रभाव-चित्रों का संचयन करता है। विश्लेषण प्रक्रिया के कारण अन्वेषण में संश्लेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक वृत्ति सहज ही आ जाती है और यही सत्य, जीवन-मूल्यों के रूप में रूपान्तरित हो जाता है। प्रयोगशील काव्यधारा ने परम्पराओं के तटों का त्याग कर दिया था। इस धारा के दर्शन में जीवन की यथार्थता अभिव्यक्त होने लगी थी। किन्तु उसमें केवल प्रगति की जड़ता न थी, प्रयोग की आकर्षणशीलता भी थी। इस आकर्षणशीलता का परिणाम इस काव्यदर्शन के परिवेक्षों पर भी पड़ा और इस धारा का प्रत्येक प्रक्षेत्र सौन्दर्य-दृष्टियों से पूरित हो गया। प्रयोगशील काव्यधारा में नवीन संस्कार हैं। ये नवीन संस्कार नये यथार्थ से ग्रहण किये गये हैं और यह नया यथार्थ ही नया सत्य है। इसी सत्य का अन्वेषण करने का कार्य इस धारा के रचनाकारों ने किया है और यही संस्कार काव्य के वास्तविक उपकरण भी हो गये हैं। अतएव 'असामान्यीकरण' का आरोपण कुछ यथार्थ-सा प्रतीत नहीं होता।

प्रयोगशील कविता में नये सौन्दर्य की व्याख्या की गई है। सत्य के निरीक्षण और परीक्षण ने सौन्दर्यबोध के स्तरों को प्रभावित किया था। पाश्चात्य सौन्दर्य-मूल्य और जीवन-दृष्टियाँ, इस काव्यधारा में समाहित हैं, किन्तु उनका भारतीयकरण हुआ

है। पाश्चात्य परिवेश को ही प्रस्तुत करने का कार्य प्रयोगशील काव्यधारा में नहीं किया गया। इस काव्यधारा में नये मूल्यों के अन्वेषण के साथ ही नये सौन्दर्यबोध के स्तरों की सृष्टि भी की गई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रयोगशील काव्य, सौन्दर्यबोध के नये धरातलों को स्पर्श तो करता ही है साथ ही उनकी सृष्टि भी करता है। तार सप्तक का प्रकाशन जिस काल में हुआ उस काल की काव्य-मान्यताएँ परम्परागत थीं। किन्तु इस सप्तक में जिन रचनाकारों की कृतियों को संकलित किया गया है उनकी कृतियों में सम्पूर्णतः जीवन-दृष्टि और यथार्थ सौन्दर्य-दृष्टि के समन्वय का आभास भी होता है। अतएव यथार्थ सत्य को अनावृत करते हुए नये सौन्दर्य-मूल्यों की व्याख्या ही प्रयोगशील कविता में की गई है। अनेक आलोचकों ने इस प्रयोगशीलता को 'वाद' की सीमाओं में बाँधने का प्रयत्न किया है। किन्तु प्रयोगशीलता के अन्तर में निहित नैरन्तर्य के कारण इस धारा को वाद की सीमाओं में बाँधना उचित प्रतीत नहीं होता। स्वयं 'अज्ञेय' और गिरिजाकुमार माथुर ने इसका विरोध भी किया।

प्रयोगशील काव्य धारा में 'वस्तु' और 'शिल्प' के प्रयोगों की विविधता दिखलाई देती है। व्यक्ति-चेतन और समाज-चेतन नये परिवेशों में अभिव्यक्त हुआ है। जीवन दृष्टि, यथार्थ के वास्तविक रहस्यों को अनावृत करना चाहती है। इस अनावृति के कारण यथार्थ सत्य का धरातल जीवन के वास्तविक सत्य के समधरातल तक आ गया है। इस प्रक्रिया ने काव्य की रचना-प्रक्रिया और काव्य की दृष्टि को पूर्ण-रूपेण प्रभावित किया है। यथार्थ सत्य के अनावृत सत्यों का अनुशीलन करते हुए काव्य की रचना-प्रक्रिया में नवीन सौन्दर्य-दृष्टि का समावेश स्वाभाविक रूप से हो गया है। प्रयोगशील काव्यधारा में अयथार्थ को प्रकट करने की चेष्टा ही नहीं की गई है। जिन उपकरणों ने जीवन के यथार्थ को प्रभावित किया है तथा जिन उपादनों ने आत्म-सत्य की अभिव्यक्ति की है उन्हीं का प्रकटीकरण काव्य में हुआ है। अतएव आत्म-सत्य के अन्वेषण एवं व्यक्ति-चेतन की यथार्थ स्थिति के अनुशीलन के कारण व्यक्ति-चेतन ही प्रखर हो उठा है। किन्तु यदि अधिक विश्लेषण करते हुए वृत्ति और धर्म को समझने की चेष्टा करें तो यह और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा कि जीवन-मूल्यों में वास्तविक सत्य के समन्वय के कारण ही व्यक्ति-चेतन की प्रधानता हो गई है। यदि व्यक्ति-चेतन प्रबल न होता और 'व्यक्तिगत स्थिति' निर्बल होती तो इसका परिणाम यह होता कि यह काव्यधारा भी रहस्यों की बीहड़ता में भटकती रहती। उसे न तो नए सत्यों की उपलब्धि ही होती और न नए सौन्दर्यबोध का आभास ही होता।

व्यक्ति-चेतन को केवल वैयक्तिक सीमाओं में बाँधना उचित नहीं है। 'व्यक्ति-चेतन' का अर्थ नये सौन्दर्यबोध और नये सत्य के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। आत्म-चेतन की प्रधानता ने कहीं-कहीं यथार्थ के प्रवाह को बाधित भी किया है, किन्तु यह सर्वत्र नहीं है। प्रयोगशील काव्यधारा में आत्म-चेनन अथवा व्यक्ति-चेतन की जो अभिव्यक्ति हुई है वह समाज-मूल्यों से असंबद्ध नहीं है। व्यक्ति-चेतन का आविर्भाव समाज-मूल्यों से ही हुआ है। अतएव व्यक्ति-चेतन, वास्तविक सत्य से उद्भूत समाज-मूल्यों की ही एक अन्विति है। अनेक आलोचकों ने प्रयोगशील कविता

पर यह आरोप लगाया है कि इस काव्यधारा की जीवन-दृष्टि, व्यक्ति-चेतन और आत्म-चेतन पर ही आधृत और केन्द्रित है। किन्तु वास्तविकता यह है कि व्यक्ति-चेतन अथवा आत्म-चेतन को समाज के यथार्थ से विलग करना काव्य-रचना की सहज प्रक्रिया के विश्लेषण से दूर हो जाना है। अतः इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये। किन्हीं-किन्हीं आलोचकों ने इसे 'वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति अथवा व्यक्तिवाद की अभिव्यक्ति' तक कह दिया है। सत्य तो यह है कि इस काव्यधारा में वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति नहीं अपितु व्यक्ति-चेतन की अभिव्यक्ति हुई है और यह 'व्यक्ति-चेतन' कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं, समाज की ही एक इकाई है।

प्रयोगशील कविता का धर्म, यथार्थ के विराटत्व के प्रति आस्थावान है। जीवन के सत्यों की विराटता का अन्वेषण करते हुए इस काव्य-धारा में जीवन की विराटता सहज ही समन्वित हो गई है। अतएव इस काव्यधारा में जिस विराटता का विश्लेषण किया गया है तथा जिस विराटता के प्रति आस्था प्रदर्शित की गई है, वह भी वास्तविक सत्य और कठोर यथार्थ से ही उद्भूत है। यदि रचनाकार रहस्यों के बंधन में बंध जाता और रहस्यों को ही अपने चिन्तन की चरम परिणति स्वीकार कर लेता तो इसका परिणाम यह होता कि उसकी जीवन-दृष्टि में न तो सत्य का यथार्थ प्रति-बिम्बित हो पाता और न जीवन की विराटता ही समन्वित हो पाती। अतएव नये कृतीकार का नये यथार्थ के प्रति आस्थावान होना सहज स्वाभाविक है। प्रगतिवाद ने नवीन मानववाद की प्रस्थापना की थी और नये मानव-मूल्यों की ओर संकेत किया था। प्रयोगशील काव्यधारा में नवीन मानव-मूल्यों की प्रस्थापना करते हुए जीवन-मूल्यों की ही व्याख्या की गई है। अतएव वास्तविक सत्य के प्रति आस्था एवं विश्वास का जागृत होना भी स्वाभाविक है। यह कार्य परम्पराओं की जड़ता से भयभीत होकर नहीं किया जा सकता था। यदि परम्पराओं का पालन करते हुए सौन्दर्य और सत्य का अन्वेषण किया जाता तो उसका परिणाम होता कि परम्पराओं को ही नये रूप में विकसित होने का अवसर मिलने लगता। अतः प्रयोगशील चिन्तन-दृष्टि में परम्पराओं के प्रति विद्रोह की भावना दिखलाई देती है।

नये मानव-मूल्यों की प्रस्थापना करते हुए रचनाकार जीवन के यथार्थ के प्रति आस्थावान और वैयक्तिक शक्तियों के प्रति विश्वासी भी हो गया है। उसकी दृष्टि में समष्टि का विशेष मूल्य है। आत्म-चेतन की, समष्टि में समाविष्टि के कारण नये विधानों के प्रति अडिग विश्वास की भावना भी जागृत हो गई है। दूसरी ओर समष्टि का अनुगायन करते-करते संवेदना-शक्ति में भी विराटता एवं विशालता आ गई है। प्रयोगशील काव्यधारा में प्रचुर संवेदना तत्व है। अनुभूतियों के सहज प्रसार के कारण समष्टि का बोध भी समाजगत ही हो गया है। यदि व्यष्टि-चेतन की अभिव्यंजना की जाती तो 'आत्म-केन्द्रीयकरण' का एक नया गतिरोध उत्पन्न हो सकता था। किन्तु इस धारा में संवेदनशीलता की अतिशयता के कारण जीवन-मूल्यों के वास्तविक स्वरूपों के दर्शन होने लगते हैं। यही प्रयोगशील कविता का वैशिष्ट्य है।

इस काव्यधारा में समष्टिवाद की परिणति जीवन-मूल्यों की नई व्याख्याओं

में हुई है। ऐसे तथ्यों में व्यक्तिवाद के बंधन और भी अधिक शिथिल हो गये हैं। प्रयोगशील काव्यधारा में 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' को महत्व दिया गया है। किन्तु वह समष्टिवाद के धरातल को आक्रान्त नहीं करता अपितु 'व्यक्ति-चेतन' को भी इस सीमा तक नियन्त्रित करता है कि जीवन-मूल्य, समाज-मूल्यों में ही एकरस हो जाते हैं। वास्तव में प्रयोगशील कविता में जो 'समिष्टवाद' अभिव्यक्त हुआ है, वह यथार्थ सत्य का ही प्रतिबिंबन करता है। आज प्रयोगशील काव्यधारा का जो रूप है उसे 'व्यक्ति-केन्द्रित' नहीं कहा जा सकता। व्यक्तिवाद भी समष्टिवाद का एक अंग हो गया है और इसी भाव की अभिव्यक्ति प्रयोगशील काव्यधारा में हो रही है।

प्रयोगशील कविता में उदार मानवतावादी दृष्टिकोणों के भी दर्शन होते हैं। बौद्धिक जागृति के कारण दृष्टिकोणों में विराटता भी अधिक आ गई है और चिन्तन का प्रक्षेत्र भी विस्तृत हो गया है। जीवन के साधारण से साधारण तत्व की भी उपेक्षा नहीं की गई है। साधारण तत्वों को भी महत्व देकर जीवन के यथार्थ के अन्तर में प्रवेश करने का प्रयास किया गया है। इस प्रक्रिया में एक प्रकार का वैचारिक संघर्ष भी आ गया है। वैचारिक संघर्ष का प्रत्यक्ष संबन्ध बौद्धिकता से होता है। साधारण-से-साधारण तत्वों का निरन्तर विश्लेषण करते रहने के कारण चिन्तनशीलता और भी अधिक गतिशील हो उठी है। अतएव परम्परा से विलग होकर नये सन्दर्भों को खोजने की प्रवृत्ति भी इस काव्यधारा में दृष्टिगत है। किन्तु इस चिन्तनशीलता एवं विश्लेषणात्मक-वृत्ति की प्रधानता के कारण मानवतावादी दृष्टिकोण कुण्ठित नहीं हुआ। चिन्तनशीलता और विराट संवेदनशीलता के कारण आज की प्रयोगशील कविता में उदार-वृत्ति का सहज समावेश हो गया है। इस समाविष्टि के कारण उदार मानवतावादी दृष्टिकोण का अत्यधिक प्रसार दिखलाई देता है।

प्रगतिशील काव्यधारा बाह्य शक्ति के प्रति अधिक आस्थावान थी। आत्म-सत्य की समाविष्टि न होने के कारण इस काव्य-दर्शन में जीवन-दृष्टि आत्मारहित हो गई थी, किन्तु प्रयोगशील काव्यधारा में अन्तः और बाह्य सत्यों की सम्यक् समायोजना हो गई है। इस संयोजना के कारण बाह्य शक्ति और आन्तरिक शक्ति में समरसता आ गई है। जीवन-दृष्टियों के प्रसार के कारण आत्मतत्त्व का प्रसार भी अधिक हो गया है। इस काव्य-चेतना की एक विशिष्टता और भी यह है कि बाह्य शक्ति को भी आन्तरिक सत्य ने इतना अधिक प्रभावित कर दिया है कि बाह्य शक्ति का परिवेश ही आत्मसत्य से अभिभूत हो उठा है। अतएव जो चित्र-दृश्य सत्य से संकलित किये जाते हैं तथा जिन सत्यों का आकलन किया जाता है, उनमें भी आत्म-तत्त्वों के रंग बिखर उठते हैं और यही आत्म-तत्त्व बाह्य सत्य की अभिव्यंजना को प्रभविष्णु बना देता है। बाह्य सत्य, आत्म-तत्त्व से परिवेष्टित होकर अधिक सरलीकृत हो गया है।

प्रयोगशील काव्यधारा में शिल्पगत प्रयोग भी अधिक हुआ है। छन्दों के बन्धनों के प्रति अनास्था होते हुए भी राग-तत्त्व और लय-तत्त्व के प्रति उपेक्षा-भाव दिखलाई नहीं देता। अनेक आलोचकों ने "साधारणीकरण और रस की समस्या उठाकर प्रयोगशील कविता को" काव्यतत्त्वों से विहीन काव्यधारा घोषित कर दिया है।

डॉ० नगेन्द्र ने भी रस और साधारणीकरण की समस्या को उठाकर 'प्रयोगशीलता' को बाधित करने का प्रयास किया है। उनका मत है कि प्रयोगशील काव्यधारा में न तो रस की आयोजना हुई है और न इस काव्यधारा में साधारणीकरण के तत्त्व विद्यमान हैं। डॉ० नगेन्द्र का यह दृष्टिकोण पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं है। वे परम्परावादी हैं। वे जागृत होकर भी परम्पराओं से विद्रोह नहीं कर सकते। अतएव नए तत्वों की अन्वेषणा कर प्रयोगशील कविता का मूल्यांकन करना उनके वश की बात नहीं है। इसी प्रकार 'रूप के कवि' 'अंचल' ने भी प्रयोगशील कविता की महत्त्वहीनता का प्रतिपादन किया है। सत्य तो यह है कि अंचलजी की दृष्टि, आलोचक की दृष्टि ही नहीं है। उनके तर्कों में न तो प्रामाणिकता ही है और न उनकी दुर्बल बुद्धि आदि सत्यों का तथ्याकलन ही कर सकी है। वे स्वयं 'विवस्त्र काम' के विकृत-सौन्दर्य के उपासक और अनुगायक हैं। अतएव उनके दृष्टिकोण का कोई मूल्य नहीं है।

प्रयोगशील काव्यधारा का मूल्यांकन करते समय दृष्टि का विस्तार आवश्यक है। इस काव्यधारा में शिल्प के जो प्रयोग हुए हैं, उनमें परम्पराओं की गंध नहीं है। छन्दों के बन्धनों को प्रयोगशील कवियों ने स्वीकार नहीं किया। अतएव उनकी काव्य-धारा में स्वच्छन्दता भी आ गई है। किन्हीं-किन्हीं स्थलों में यह स्वच्छन्दता इतनी अधिक हो गई है कि काव्य के धर्म एवं अन्य काव्योपकरणों के विकास एवं प्रसार में गत्यवरोध उत्पन्न हो गया है। किन्तु आज की काव्यधारा में काव्य-दृष्टियों का प्रक्षेत्र इतना विराट् है कि स्वच्छन्दता का आ जाना स्वाभाविक है। छन्द अथवा गीति-तत्वों की रहितता के कारण काव्य के भावबोध अथवा सौन्दर्यबोध में किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं आ पाया। छन्द अथवा लय की एकस्वरता एवं एकरसता के कारण प्रयोगशील कविता में भी साधारणीकरण तत्व विद्यमान हैं। यदि भाव स्तर ऊँचा उठ जाय और सामान्य धरातल की अभिव्यक्ति होने लगे तो जटिल भाव बोध भी सामान्यीकृत हो जाता है। प्रयोगशील कविता में जिन नवीन भावों की अभिव्यक्ति हुई है तथा सौन्दर्य के जिन नए धरातलों की सृष्टि की गई है, उनमें साधारणीकरण के तत्त्व भी सहज ही समन्वित हो गए हैं। परम्परागत मूल्यों का आग्रह लेकर साधारणीकरण के तत्त्वों के आधार पर यदि प्रयोगशीलता का मूल्यांकरण किया जायगा तो वास्तविक भावबोध के प्रसार एवं उसकी ग्रहणशीलता में गतिरोध उत्पन्न होगा। इन आलोचकों को अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर प्रयोगशील कविता का मूल्यांकन करना चाहिए।

प्रयोगशील कविता में भावबोध के नए स्तर हैं। अतएव उन स्तरों तक ही पहुँचकर वास्तविक भाव-स्तर को समझा जा सकता है। इन स्तरों तक पहुँचने के लिए नए प्रज्ञा-स्तरों तक पहुँचना और उन भाव-स्तरों को आत्मस्थ करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि रचनाकार और पाठक के भाव-स्तरों में एकरूपता आ गई तो फिर सौन्दर्य-बोध की न तो कोई समस्या खड़ी होगी और न असाधारणीकरण के तत्त्वों के कारण काव्यधारा में निहित भाव-प्रसार बाधित हो पायगा। प्रयोगशील रचनाकारों में इस तथ्य के प्रति सचेतन भाव दिखलाई देता है। उनकी कृतियों में

नवीन भाव स्तरों, कल्पना स्तरों और प्रज्ञा स्तरों की सृष्टि हुई है तथा जीवन के यथार्थ का प्रत्येक वृत्त उन स्तरों को स्पर्श करता हुआ आधुनिक भावबोध एवं आधुनिक सौन्दर्यबोध की सर्जना करता है।

प्रयोगशील काव्यधारा के प्रतिनिधि कवियों में 'अज्ञेय' को 'व्यक्तिवाद' का पोषक माना गया है। पाश्चात्य सौन्दर्य-मूल्यों के अनुशीलन के कारण तथा नवीन भाव-स्तरों के अन्वेषण के कारण उनके काव्य-स्तरों में चिन्तनशीलता और रचना-प्रक्रिया में विकसनशीलता अधिक आ गई है। इस चिन्तनशीलता के आधिक्य के कारण ऐसा भी प्रतीत होने लगता है क़ि उनके काव्य में 'व्यष्टि' की अभिव्यक्ति ही अधिक हुई है। किन्तु मेरी धारणा है कि 'अज्ञेय' का 'व्यक्तिवाद' व्यष्टि-केन्द्रित नहीं, समष्टि-केन्द्रित है। उनके जो वैयक्तिक मूल्य हैं, वे भी समाज से ही गृहीत हैं। अतएव उनके व्यक्ति-चेतनगत मूल्यों को पूर्ण आत्मकेन्द्रित अथवा सम्पूर्ण व्यक्तिवादी नहीं माना जा सकता। 'अज्ञेय' का व्यक्तिवाद' समष्टि-रूप में इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है—

"हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर
स्रोतस्विनी बह जाय ?
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकत कूल,
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।
माँ है वह ! इसी से हम बने हैं !

(अज्ञेय—नदी के द्वीप)

अज्ञेय का सौन्दर्यवाद समष्टि से ही उद्भूत है। 'नदी के द्वीप' में जिस समस्या का चित्रण किया गया है वह व्यक्ति-चेतन अथवा अस्तित्वचेतन की ही समस्या है। 'द्वीप' प्रतीक के माध्यम से जिस 'स्थायित्व' की ओर संकेत किया गया है, वह वास्तव में मानवीय सत्य की स्थिरता है। यही स्थिरता प्रयोगशील कविता में यत्र-तत्र अभिव्यक्त हुई है। 'अज्ञेय' न तो खण्डित मनःस्थितियों के कवि हैं और न व्यक्ति-चेतन के ही अनुगायक। अतएव उनके काव्य में अस्तित्व-चेतन की अभिव्यक्ति न होकर समष्टि-चेतन की ही अभिव्यंजना हुई है। 'अज्ञेय' ने 'वस्तु' और शिल्प के विविध प्रक्षेत्रों में समान रूप से प्रयोग किये हैं। इस प्रयोगशीलता का परिणाम यह हुआ है कि उनके वस्तु-विधान में नवीनता और शिल्प-प्रयोग में भास्वरता अधिक आ गई है।

डॉ० धर्मवीर भारती मूलतः रागवृत्ति के अनुगायक हैं। किन्तु उन्होंने समष्टि-चेतन से ही रागतत्वों का अनुशीलन किया है। भारती ने अपनी वैयक्तिकता को समष्टि राग में ही समरस कर दिया है। अतएव उनकी काव्यधारा में वैयक्तिक राग भी सामान्यीकृत रूपों में ही अभिव्यक्त हुआ है। भारती की काव्यधारा में कहीं-कहीं विवस्त्र राग-सौन्दर्य की उद्भावना भी हुई है किन्तु वह संयमित और नियन्त्रित है। एक सौन्दर्यचित्र द्रष्टव्य है—

"प्रात सद्यःस्नात
कन्धों पर बिखरे केश
आँसुओं में ज्यों
घुला वैराग्य का सन्देश
चूमती रह रह
बदन को अर्चना की धूप
यह सरल निष्काम
पूजा सा तुम्हारा रूप।

(डॉ० धर्मवीर भारती—ठण्डा लोहा)

स्पष्ट है कि भारती का वैयक्तिक राग, पूर्णतः व्यक्तिगत होते हुए भी समष्टिगत ही है। प्रयोगशील कविता में जिन राग-संकेतों और जिन राग-प्रतीकों का चयन किया गया है, उनमें वैयक्तिकता का सन्निवेश तो है ही, साथ ही आत्मराग का प्रस्फुटन भी अप्रत्यक्ष रीति से हुआ है। ऐसी रागात्मक-अभिव्यक्ति को कुण्ठाग्रस्त मानना उचित नहीं होगा। प्रयोगशील काव्यधारा में जहाँ कही वैयक्तिक-राग की अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ मानव-मूल्यों का समुचित संयोजन भी हुआ है। अतएव ये व्यक्तिगत-चित्रावलियाँ, निर्वैयक्तिक भी हो उठी हैं।

प्रयोगशील काव्यधारा में शिल्प के जो नए प्रयोग किये गए हैं, उनमें अर्थगत सार्थकता भी है। ऐसे प्रयोगों में भी समाज-मूल्यों एवं जीवन-मूल्यों की पूर्ण संरक्षणा हुई है। प्रयोगशील कविता पर अरसमयता और लयहीनता का आरोपण किया जाता है। डॉ० जगदीश गुप्त ने 'अर्थ की लय' नामक शास्त्रीय परम्परा को जन्म देने का कार्य किया है। पाश्चात्य काव्य-मूल्यों की उद्‌भावना करते हुए प्रयोगशील कविता में 'अर्थ की लय' की अन्वेषणा करके डॉ० गुप्त ने काव्य-समीक्षा को नई दिशा प्रदान की है। किन्तु मेरी धारणा है कि डॉ० जगदीश गुप्त ने 'अर्थ की लय' नामक जिस काव्य-शास्त्रीयता का प्रतिपादन किया है उसके आदि स्रोत 'अर्थ की ध्वनि में' हैं। यदि 'अर्थ की ध्वनि' को ध्वनि-शास्त्र की शास्त्रीयता से अलग रखकर रूपान्तरित रूप में विचार किया जाय तो इस तथ्य की पुष्टि ही होगी। 'ध्वनि' आधुनिक अर्थ में 'लय' ही है अतएन 'अर्थध्वनि' ही परिवर्तित एवं रूपान्तरित रूप में 'अर्थ की लय' है। आधुनिक प्रयोगशील काव्यधारा, परम्परागत काव्यधारा से पूर्णतः भिन्न है। इस काव्यधारा में पुरातन मूल्यों का रूपान्तरण ही हुआ है। अतएव 'अर्थ की ध्वनि' यदि 'अर्थ की लय' के रूप में उद्‌भूत हो तो कोई असंगति नहीं है। सत्य तो यह है कि सांस्कृतिक चेतना, समाज-मूल्यों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। जब सांस्कृतिक मूल्य विकसित हो जाते हैं, तब उनके परिक्षेत्र में विराटता आ जाती है और इस विराटता में ही सांस्कृतिक मूल्यों का आदि-रूप एकरस हो जाता है। अतएव यह स्वीकार किया जाना कि पाश्चात्य संस्कारों का आगमन ही प्रयोगशील कविता में हुआ है, अर्थसंगत नहीं है। आज के इस विराट चेतन में भी 'केन्द्र-बिन्दु' अपने परिवर्तित रूप में विद्यमान हैं किन्तु इसकी विराटता और अतिशय रूप-

भिन्नता के कारण पाश्चात्य जीवन-मूल्यों का भ्रम हो जाता है। मेरी धारणा है कि आज के विराटत्व में भी 'केन्द्रबिन्दु' निहित हैं और बिन्दु की संकुलता का विकसित रूप ही विराट हो गया है।

डॉ० जगदीश गुप्त की काव्यधारा में जीवन का यथार्थ-सत्य ही अभिव्यक्त हुआ है। वे विराट-चेतन के प्रति आस्थावान तथा जीवन के यथार्थ के प्रति विश्वासी हैं—

एक क्षण : क्षण में प्रवहमान
व्याप्त सम्पूर्णता।
इससे कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधि जो
पिया था अगस्त्य ने।
एक क्षण, होने का
अस्तित्व का अजस्र अद्वितीय क्षण।
होने के सत्य का—
सत्य के साक्षात् का—
साक्षात् के क्षण का
क्षण के अखण्ड पारावार का
आज हम आचमन करते हैं।

(डॉ० जगदीश गुप्त : नई कविता—अंक, २)

डॉ० जगदीश गुप्त ने क्षण के महत्त्व को समझा है। वास्तव में अखण्ड दृश्य-चेतन का एक खण्ड-रूप ही 'क्षण' है। 'क्षण' का अनुशीलन करते हुए विचार-चेतन के सत्य का ही अनुशीलन किया गया है। प्रयोगशील कविता में 'क्षण' अर्थात् खण्डशः इकाई का कोई अलग 'स्वतन्त्र अस्तित्व' नहीं है। जीवन के वास्तविक सत्य की अभिव्यंजना करते हुए आज के प्रयोगशील रचनाकार व्यक्तिगत रूप से प्रत्यक्षतः उस विचार-चेतन का आनुभूतिक अनुशीलन करते हैं और इस आन्तरिक सत्य की अभिव्यक्ति करते हैं। आत्माभिव्यक्ति करना प्रयोगशील कविता का धर्म हो गया है—

वाणी की दीनता
अपनी मैं चीन्हता
कहने में अर्थ नहीं
कहना पर व्यर्थ नहीं,
मिलती है कहने में
एक तल्लीनता!

(भवानी प्रसाद मिश्र : वाणी की दीनता)

प्रयोगशील कविता में आत्मा की अभिव्यक्ति हुई है : प्रत्यक्ष सत्य से भावों का आकलन करते हुए प्रयोगशील रचनाकारों ने गृहीत भावों को यथार्थ रूप में प्रकट किया है। इस काव्य में साधना मुखरित हुई है और विराट चेतन में भी प्रत्येक व्यक्तित्व एवं प्रत्येक अस्तित्व-चेतना अधिक सहजीकृत रूपों में प्रकट हुई है। कुंवरनारायण, मूलतः

आन्तरिक भावों के कवि एवं आन्तरिक विराटत्व के अनुगायक हैं। अतएव उनकी कृतियों में आत्म-तत्व अथवा आन्तरिक सत्य की ही प्रधानता दिखलाई देती है। आन्तरिक सत्य की व्याख्या इस प्रकार हुई है—

> वस्तु का दर्पण उधर सुनसान,
> जो अपनों बिना वीरान,
> इधर धूसर बुद्धि जो अति
> जिन्दगी के प्रति
> उदासी स्वप्न की प्रतिध्वनि:
> कुछ अवनि के अंक से आश्वस्त,
> कुछ ऊँचाइयों से पस्त
> दृष्टियों में जन्म लेता प्यार:
> दर्पण की सतह पर तैर आये
> जिस तरह कोई निजीपन।

(कुंअरनारायण : दर्पण)

दृश्यबोध की प्रत्येक अन्विति का अनुशीलन करते हुए प्रयोगशील काव्यधारा का रचनाकार अपने अन्त:-बाह्य सत्य के प्रति समान रूप से आस्थावान है। वह आन्तरिक दृश्य को भी बाह्य सत्य के समानन्तर रखने के लिये आतुर है। अतएव उसके काव्य-चिन्तन में बाह्य और अन्तर का सहज ही समन्वय हो गया है। प्रयोगशील काव्यधारा में 'वस्तु' के रूप में जिस 'दर्पण' की व्याख्या की गई है, वह वास्तव में जीवन की यथार्थता और यथार्थता का विराटत्व ही है। यही विराटत्व समष्टि-चेतन है एवं इसी समष्टि-चेतन की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूपों में हुई है। प्रयोगशील कृतिकार सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने आत्म-चेतन की रागात्मकता एवं बाह्य-चेतन की यथार्थता में 'तरंग-रति' उत्पन्न कर दी है—

> सत्य कहता हूँ
> चाहे मर्म झकझोर उठे
> आँखें छलछला आयें
> क्योंकि आहत दुर्बलता भी
> एक बार दर्प से शीश उठा देती है,
> मुट्ठियाँ भींचकर
> सूखी शिराएँ तानती है
> वज्र से भी टूटी पसलियाँ अड़ा देती है।
> यदि दुर्बलता दर्प में बदल जाय,
> व्यथा अन्तर्दृष्टि दे
> खण्डित आत्माएँ
> संचित कर सकें शक्ति की समिधायें,
> जो जलकर अग्नि को भी

गन्ध ज्वार बना दें,
तो मैंने अपना कवि-कर्म पूरा किया
चाहे मर्म सहलाया न हो, कुरेदा हो।

(सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : मैंने कब कहा)

स्पष्ट है कि प्रयोगशील कृतियों में जिस वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति हुई है, उसमें आधुनिक भावबोध के साथ ही जीवन-मूल्यों की यथार्थता भी पूर्णतः सन्निहित है। 'व्यक्ति-चेतन' के समाजीकृत रूपों पर प्रयोगशील कृतिकारों का अडिग विश्वास है। इसी विश्वास और आस्था ने इस धारा को पूर्णतः आधुनिकता प्रदान की है। प्रयोगशील काव्यधारा में यथार्थ की जड़ता और अतिशय सत्य की कठोरता, 'तरंग-रति' के रूपों में अभिव्यक्त हुई है। आधुनिक-भावबोध के नये स्तरों की सृष्टि करता हुआ प्रयोगशील कवि अपने आन्तरिक और बाह्य सत्य में समरसता एवं एकरूपता ला देता है।

प्रयोगशील कृतिकारों ने युग की गति को पहिचाना है। जीवन की यथार्थता की व्याख्या करते हुए प्रयोगशील कृतिकारों ने नये जीवन्त प्रतीक और संकेतों का आकलन किया है और उन्हीं के माध्यम से वास्तविक सत्य की अभिव्यक्ति की है। इसी प्रकार वीरेन्द्र कुमार जैन का भाव-स्तर भी आन्तरिक सत्य की ओर अधिक उन्मुख है। उन्होंने कहीं-कहीं तो प्रकृति के साथ अपने भाव-स्तरों को एकस्वर कर दिया है और यह एकस्वरता इस रूप में प्रस्तुत हुई है—

अचानक बाहर से
शारदी समुद्री हवा की एक लहर
आकर मेरे बालों में बल खा गई :
मसहरी कांप गई :
आँखें अपसारित होकर
फिर मात्र देह रह गई।
अनगिन कालों की रहस्य-रातों से भरी
वह यात्रा-महेफिल जाने कहाँ लय हो गई!
वे अगोचर में झांकती
उजियाली आसमानी खिड़कियां,
औचक ही जाने कब, कहाँ बन्द हो गईं!

(वीरेन्द्रकुमार जैन : छाया-महेफिल और जापानी बंगला)

इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति में भी आन्तरिक-दृष्टि का प्रसार ही दिखलाई देता है। प्रयोगशील कविता में भावों के अनेक स्तर निर्मित किये गए हैं। किन्हीं स्तरों में जीवन-दृष्टि, बाह्यरूपता का परिवेश धारण कर लेती है और किन्हीं स्तरों में अन्तःरूपता का। किन्तु इन दोनों ही स्तरों में जीवन के वास्तविक यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है। इस काव्यधारा में आत्म तत्वों का संरक्षण भी हुआ है। आन्तरिक स्वत्व की रक्षा करते हुए काव्याभिव्यंजना की गई है। रघुवीर सहाय की कविताओं में आन्तरिक तत्वों का प्रसार दिखाई देता है। वास्तव में रघुवीर सहाय ने इस विराट चेतन में भी अपने

अस्तित्व का अन्वेषण किया है—

पर मैं इस हाहाहूती नगरी में अकेला हूँ।
देह पर जो लता-सी लिपटी
आँखों में जिसने कामना से निहारा
दुख में जो साथ आये
अपने वक्त पर जिन्होंने पुकारा
जिनके विश्वास पर वचन दिये, पालन किया
जिनका अन्तरंग होकर उनके किसी क्षण में मैं भी जिया
वे सब सुहृद हैं सर्वत्र हैं सर्वदा हैं।
पर मैं अकेला हूँ।

(रघुवीर सहाय : वह जो बार बार मरता है)

इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति में 'विराट' के ऐकान्तिक भावों के चित्र ही दिखलाई देते हैं। किन्तु ये चित्रावलियाँ अस्तित्व की लघुता की ओर न ले जाकर विराटता की ओर ही ले जाती हैं। प्रयोगशील काव्यधारा की विशिष्टता ही है कि इसमें 'विराट' दोनों ही रूपों में प्रकट हुआ है। ऐकान्तिक रूप-चित्र भी कहीं-कहीं दिखलाई देते हैं। किन्तु वे विराट चेतन के ही उपकरण हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा की कृतियों में 'वस्तु' और 'शिल्प' के सम्यक् प्रयोग हुए हैं किन्तु उनमें आत्म-तत्व का पूर्ण अभाव-सा प्रतीत होता है। 'वस्तु-सत्य' को विवरण के रूप में प्रस्तुत कर वर्मा ने अपनी निरीक्षण-वृत्ति का तो परिचय दिया है किन्तु परीक्षण वृत्ति का नहीं। वस्तु-सत्य और दृश्य-सत्य का अनुशीलन इस प्रकार किया गया है—

मैं हूँ,
मैं एक छोटा किन्तु जागरूक अस्तित्व
मैं ही नल हूँ
अजगर-सा चाय की पत्तियाँ निगलता हूँ
मैं ही शराब की बोतलें ले
रामायण से गीता तक जीता हूँ
मैं, लक्ष्मीकान्त, सत्यवान, नल, दुष्यन्त, आक्रान्त,
मैं जो क्षण-क्षण जन्मता हूँ, मरता हूँ।

(लक्ष्मीकान्त वर्मा : ठण्डा स्टोव, चाय का टिन और शराब की बोतल)

आत्म-कुण्ठा और आत्म-अनस्तित्व की भावाभिव्यक्ति करते हुए वर्माजी ने अपनी संकुचित काव्यदृष्टि का ही परिचय दिया है। वे अपने अस्तित्व को विराट में समाहित नहीं कर पाये। उनका अस्तित्व लघुता का रूप-परिवेश ओढ़कर अधिक कुण्ठाग्रस्त एवं पराजित-सा हो गया है। प्रयोगशील कविता में इस प्रकार के पराजित भावों की अभिव्यक्ति अधिक नहीं हुई है। सत्य का अन्वेषण करते हुए जिन कवियों की दृष्टि में दौर्बल्य आ गया है, वे अपने अस्तित्व की लघिमा को स्वीकार करने लगे हैं। किन्तु प्रयोगशील कविता तो विराट चेतन और विराट सत्य की कविता है। अतएव ऐसी

संकुचित अभिव्यक्ति के आधार पर प्रयोगशील कविता का मूल्यांकन करना उचित नहीं होगा। अस्तित्व के विराटत्व को स्वीकार करना आवश्यक है। विजय देवनारायण साही ने अस्तित्व की विराटता को ही स्वीकार करते हुए अपने वैयक्तिक भावों की अभिव्यक्ति की है—

बहुत नीचे,
किसी ओझल अतल घाटी से उमड़ता
मृदुल संख्यातीत लच्छों भरा बादल
मुग्ध पैरों से लिपटता हुआ उठता आ रहा है
और ऊपर कहीं से
उत्फुल्ल रोमों पर बरसती
पिसे तारों की अतीन्द्रिय जगमगाती धूल।
आह ! मैं हूँ झंझरियों से भरा ढाँचा मात्र
और यह अनुरक्त बादल
झनझनाती हुई आदिम धूल
मेरे तन्तुओं के बीच से होकर गुजरती जा रही है।

(विजय देवनारायण साही : विष-कन्या के नाम)

वास्तव में आत्म-तत्वों का संरक्षण करते हुए प्रयोगशील कविता के कृतीकारों ने अपने आन्तरिक भावों की अभिव्यंजना की है। वे सत्य की बाह्य और आन्तरिक क्रियाशीलता के प्रति समान-रूप से आस्थावान हैं। इस काव्यधारा में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक अस्तित्व-खण्ड, विराट-चेतन का ही एक-एक अंग है और इन अस्तित्व-खण्डों के माध्यम से विराट-चेतन की ही अभिव्यक्ति की गई है।

प्रयोगशील कृतिकारों में गिरिजाकुमार माथुर और नरेश मेहता वास्तव में 'सौन्दर्य' के ही व्याख्याकार हैं। इन दोनों कवियों ने बाह्य और आन्तरिक, आत्म एवं प्रकृति सौन्दर्य को समरसात्मक रूपों में प्रस्तुत किया है। गिरिजाकुमार माथुर ने रूप और रंग की 'तरंग-केलि' में आनन्द-तत्वों का विकास देखा है—

नयन लालिम स्नेह दीपित, भुज-मिलन तन गन्ध-सुरभित
उस नुकीले वेश की, वह धुवन, उकसन, चुभन, अलसित
इस अगरु-सुधि से सलोनी हो गई है, रात यह हेमन्त की।

(गिरिजाकुमार माथुर : रात यह हेमन्त की)

माथुर की कृतियों में आन्तरिक एवं दृश्य-मूल्यों का द्वन्द्व नहीं है। उनमें एकस्वरता है। अपने अन्तर के रूप और रंग के बिम्ब-रूपों को सत्य रूप में चित्रित करने की चेष्टा ही उन्होंने की है। अतएव उनके काव्य में 'माधुर्य सत्य' सहज ही आ गया है। इसी प्रकार नरेश मेहता ने भी आन्तरिक एवं बाह्य सौन्दर्य-मूल्यों की सन्दर्भ सहित व्याख्याएँ की हैं—

आओ रितुपति चन्द्र सूर्य तुम
अपनी धूप चाँदनी के सौ सौ चीवर फैलाने।

मनुज घाव पर चैत शरद की चाँदनियों की रेशम पलकें हवा कर सकें।
गगन आम्र पर स्वर्ग कहीं बैठा-बैठा तारों की बंशी मुझे सुनाये
धरती नीले तारों का परिवार बन सके,
इसीलिए खेतों में सन्ध्या केसर बरसे।
ज्वारों के सिंहासन पर तुम बैठे हुए महा सिन्धुओ !
बहो ध्रुवों तक, चलो तटों तक,
अपने शत उपहारों से मानव को लादो।

(नरेश मेहता : समय देवता)

प्रयोगशील कविता में सौन्दर्य-चित्रण का यही रूप दिखलाई देता है। इस धारा के रचनाकारों ने विराट् सत्य का अनुगायन करते हुए अपनी सौन्दर्य-दृष्टि को अधिक-से-अधिक सौन्दर्यशीला बनाने का प्रयास किया है। प्रयागनारायण त्रिपाठी की कृतियों में भी सौन्दर्य-चित्रों की प्रांजलता देखने को मिल जाती है—

मेरी अन्तरात्मा का यह उफान
जब तक मुझे तुम से, और तुम से और तुम से जोड़नेवाला—
जीवन्त सूत्र है
तब तक मैं बिखरूँगा नहीं, मैं मरूँगा नहीं।

(प्रयागनारायण त्रिपाठी : यह उद्वेलन)

आन्तरिक सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए प्रयोगशील कविता के कृतिकारों ने यथार्थ सत्य का ही अनुशीलन किया है। आन्तरिक स्थिति का चित्रण करते हुए प्रयोगशील कवियों ने ऐसी सरल भावाभिव्यंजना की है कि काव्य-तत्त्वों का प्रसार स्वाभाविक रूप से हो गया है। डॉ० प्रभाकर माचवे श्रीकान्त वर्मा, कैलाश वाजपेयी, अशोक वाजपेयी और दुष्यन्तकुमार आदि कवियों में यथार्थ सत्य का अनुगायन अधिक हुआ है—

खण्ड खण्ड होकर जिसने
जीवन विष पिया नहीं
सुखमय सम्पन्न मर गया हो जग में आकर
रिस रिस कर जिया नहीं
उसकी मौलिकता का दम्भ निरा मिथ्या है
निष्फल सारा कृतित्व
उसने कुछ जिया नहीं !

(दुष्यन्त कुमार)

यथार्थ सत्य की अभिव्यक्ति करते हुए प्रयोगशील कविता के रचनाकारों ने अपनी विराट् जीवन-दृष्टि का परिचय दिया है। आज काव्य के क्षेत्र में जो प्रयोग हो रहे हैं, उनका अनुशीलन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन का यथार्थ और भी अधिक स्पष्ट रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। इस भावाभिव्यक्ति के कारण वर्तमान काल की प्रयोगशील कविता में जीवन के तत्वों का समावेश अधिकाधिक हो रहा है।

अति प्रयोगशील कवियों की कृतियों में यथार्थ सत्य, रहस्य के रूप में भी प्रकट होने लगा है। किन्तु आत्मतत्व की समाविष्टि के कारण ये रहस्य, रहस्य नहीं रह सके अपितु प्रकट हो चुके हैं। श्रीकान्त वर्मा की एक अभिव्यक्ति इसी तथ्य की ओर संकेत करती है—

पुराने नक्षत्रों और पुराने विश्वासों और
पुराने सुखों ने
तुम्हारे मस्तक को अबाबीलों की तरह
घेर लिया है।
तुम एक पुरानी-सी शाम में रह रही हो।
तुम मुझमें थीं
लेकिन अब मेरे पास से होकर बह रही हो।

(श्रीकान्त वर्मा : त्यौहार का एक दिन)

इन प्रयोगशील कवियों में सत्य अपने प्रखर रूप में अभिव्यक्त हुआ है। आज सत्य की विराटता ने प्रत्येक अस्तित्व-खण्ड को प्रभावित किया है। इन प्रभावों के कारण काव्य की रचना-प्रक्रिया भी एक विशिष्ट दिशा की ओर उन्मुख हो गई है। ये प्रभाव-चित्र, प्रत्येक अस्तित्व-खण्ड को प्रभावित कर अप्रत्यक्ष रूप से विराट सत्य की ही व्याख्या कर रहे हैं। डॉ० कैलाश वाजपेयी, अशोक वाजपेयी, शकुन्त माथुर, कीर्ति चौधरी, रूपनारायण त्रिपाठी, अजितकुमार आदि कृतिकारों की रचनाओं में भी यही सत्य अभिव्यक्त हुआ है।

प्रयोगशील कविता का मूल धर्म परम्परागत 'वस्तु' एवं 'शिल्प' को नवीन रूप एवं नवीन विधान प्रदान करना है। जीवन के वास्तविक सत्य को आत्मीकृत करने का कार्य इस धारा के रचनाकारों ने किया है। आत्म-सत्य की व्याख्या भी यथार्थ सत्य के परिप्रेक्ष्य में की गई है। इसी व्याख्या ने आज प्रयोगशील कविता को जीवन के सत्य के अधिक निकट ला दिया है। प्रयोगशील कविता का मूल्यांकन करते समय जीवन के विराट तत्त्वों को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है। प्रयोगशील काव्यधारा को जीवन से विलग रखकर नहीं समझा जा सकता। अनेक आलोचकों ने इस धारा की काव्य-दृष्टि को कुण्ठित माना है। वे परम्पराओं से विलग होकर स्वतन्त्र दृष्टि से प्रयोगशील काव्य-चिन्तन का मूल्यांलकन नहीं करते। परिणामतः उनकी आलोचना-दृष्टि में पूर्वाग्रहों का अनुशासन बना रहता है। प्रयोगशील कविता वास्तव में जीवन के विराटत्त्व और यथार्थ के गुरुत्त्व की कविता है। इस काव्यधारा में 'वस्तु' और 'शिल्प' के जो नवीन प्रयोग किये गए हैं, उनके कारण भावों के नए स्तर अनुभूतियों की नयी दिशाओं से संलग्न हो गए हैं। आत्म-सत्य की नयी व्याख्या और यथार्थ सत्य का नवीन शिल्पगत परिवेश, प्रयोगशील कविता में दिखलाई देता है और यही इस काव्यधारा का आन्तरिक एवं बाह्य सत्य है। इसी सत्य का अनुगायन और इसी दृश्य-रूप-रंग की व्याख्या, प्रयोगशील कविता में हुई है। आधुनिक भाव-बोध, नया सौन्दर्य-बोध और नयी काव्य-सामासिकता एवं समरसता भी यही है।

प्रयोगशील कविता जीवन के जिस यथार्थ को लेकर लिखी जा रही है और मानवीय जीवन जिन रूपान्तरित रूपों में प्रस्तुत हो रहा है, उससे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि इस काव्यधारा का भविष्य पूर्णतः यथार्थमय हो जायगा। 'वस्तु' और 'शिल्प' की नयी प्रयोगशीलता आगे चलकर ऐसे काव्यवृत्तों का निर्माण करेगी कि वे वृत्त आधुनिक सौन्दर्य-बोध के ही जीवन्त रूप हो जाएँगे। प्रयोगशील कविता में 'वस्तु' का विकास जिन दिशाओं में हो रहा है तथा चिन्तनशीलता जिन नए अग्निकोणों का निर्माण कर रही है, वे वास्तव में प्रयोगशील काव्यधारा को एक शाश्वत 'परिवृत्त' प्रदान करेंगे। काव्य के क्षेत्र में भावावात्मक गतिशीलता सदैव परिवृत्त की ओर बढ़ती चली जाती है और प्रत्येक स्थल पर अपने केन्द्र-बिन्दुओं को छोड़ती चली जाती है। यही केन्द्रबिन्दु आगे चलकर विराट हो जाते हैं और यही विराटता सम्पूर्ण परिवृत्त को आबद्ध कर लेती है। इसका परिणाम यह होता है कि काव्य के प्रत्येक विधान में यही विराटत्व अभिव्यक्त होने लगता है। शिल्प के प्रयोग में भी यही प्रक्रिया कार्य करती है। आरम्भ में निर्बन्धता ने काव्य-शिल्प को प्रभावित किया और अभिव्यक्तीकरण में नियन्त्रण आ गया। किन्तु 'परिवृत्त' के निरन्तर विकास और 'बिन्दु' के निरन्तर प्रसार के कारण शिल्प-प्रयोग में भी स्वाभाविक रूप से नियन्त्रण आ जायगा और फिर निर्बन्धता नियमों का रूप धारण कर लेगी। प्रयोगशील काव्य, जीवन्त सत्य का अनुगायक है, यथार्थ जीवन-मूल्यों का व्याख्याकार है, और नए सौन्दर्य-बोध का जन्मदाता है। इस काव्यधारा में जिस सत्य की अभिव्यक्ति हो रही है वही जीवन का वास्तविक सत्य है तथा यथार्थ का वास्तविक बोध ही प्रयोगशील कविता की आत्मा है।

ठाकुर प्रसादसिंह

हिन्दी : गीत-कविता

हिन्दी में गीत-कविता की परम्परा पर इसके पहले बहुत-कुछ कहा-लिखा गया है। नई कविता के आन्दोलन की तुलना में हिन्दी का गीत काफ़ी पुराना है, इसलिए उसकी लम्बी-चौड़ी वंशावली प्रस्तुत करने की भी आवश्यकता यहाँ नहीं है और न तो उसे ब्रह्मा के अग्निकुण्ड या सूर्य-चन्द्र वंश से जोड़ने की आवश्यकता है। गीत मात्र गीत है; वह बराबर गाया गया है, पीढ़ियों के कण्ठों से होते हुए वह आज हमारे-आपके जीवन का माध्यम बन रहा है, केवल इतना ही कहा जाए तो काम चल जाएगा। यहाँ तो केवल इतना ही देखना है कि पिछले बारह-चौदह वर्षों में जहाँ हिन्दी काव्य में कितनी ही विधाएँ आविष्कृत हुई, वहाँ गीतों की क्या स्थिति रही? सम्भवतः हिन्दी की गीत-कविता पर जितना बड़ा संकट इस बीच उपस्थित हुआ था उतना इसके पहले कई शताब्दियों में भी नहीं हुआ होगा। प्रयोगवाद या प्रगतिवाद के सभी

वैचारिक या बुद्धिवादी आलोचक विचार-प्रक्रिया के बीच गुज़रने वाले काव्य-रूपों का विचार करके आगे बढ़ गए। उनके अन्तराल में अनजाने या जाने हिन्दी की गीत-धारा सूखती-घटती स्वयं ही आगे बढ़ी। ऐसी स्थिति में कविता के क्षेत्र से उपेक्षित हो जाने का संकट मोल लेकर जिन कुछ लोगों ने तब भी गीत लिखे उसकी पहचान आज हो रही है। यह प्रसन्नता की बात है, लेकिन पिछले दस-बारह वर्षों में उन गीत-कारों को रचना-प्रक्रिया के कितने संकटों के बीच गुज़रना पड़ा है इसका अन्दाज़ आज भी हिन्दी के आलोचकों को नहीं है। कुछ वर्ष पहले हिन्दी के नये गीतों को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करने के लिए हमारे हिन्दी के आलोचक प्रस्तुत ही नहीं थे।

१९५१-५२ में काशी में हुए साहित्यिक संघ के अधिवेशन में हिन्दी के नये गीतों पर चर्चा हुई थी। चाँदनी रात में गंगा की धारा पर हुई नौका-गोष्ठी में उस दिन भारती, नरेश मेहता, जगदीश गुप्त, रामदरश मिश्र, केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शम्भूनाथ सिंह, नामवरसिंह तथा अन्य कितने ही नये कवि उपस्थित थे। मैंने वहाँ 'वंशी और मादल' की नई कविताएँ पढ़ी थीं और लगभग सभी कवियों ने अपने नये-से-नये गीत सुनाये थे। उस रात की सहज आत्म-स्वीकृति और सप्राण वातावरण आज भी याद आने पर रोमांचित हो उठता हूँ। लेकिन उस नौका-गोष्ठी की बात ही समाप्त हो गई। काल की तरंग में यह पूरी रात बहकर किसी अनजाने घाट लग गई और और लोग प्रयोगवाद और कितने ही नये बुद्धिवादी आन्दोलनों की चर्चा में लग गए। १९५५-५६ में प्रयाग अधिवेशन के समय लोग नई कविता के विवेचन पर कृपावश तैयार तो हो गए लेकिन जब गम्भीरतापूर्वक नई भाषा और शैली के प्रश्न पर विचार करने की बात उठी तो जहाँ किसी एक खास शहर की एक साधारण-सी गली के लुहारों और सुनारों की भाषा को लेकर घण्टों चर्चा होती रही। वहाँ नये गीत के अवदान पर विचार करने की आवश्यकता भी न समझी गई। यह स्थिति कुछ घट-बढ़कर आज भी बनी हुई है। नई कविता के कवि आज भी यह तो मानने को तैयार हो गए हैं कि नये गीत नई कविता से अलग नहीं हैं। लेकिन वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि रघुवीर सहाय द्वारा विकसित 'लखूखों' की भाषा के मुकाबले नये गीतों की परिष्कृत और विकसित भाषा का कोई महत्त्व है। वे इस सम्बन्ध में समझदारी या तीव्र लालसा से प्रेरित नहीं हैं और न तो किसी प्रकार की 'अर्जेन्सी' का ही अनुभव करते हैं। नये गीतों को लेकर आज इन सब लोगों में खीझ अधिक दीखती है, समझदारी तो ख़ैर इनमें है ही नहीं। ये सभी लोग जैसे याद दिलाये जाने पर याद आई बात के अन्दाज़ से इस नई चेतना पर विचार करने के लिए तैयार होते दीख रहे हैं। ऐसा लगता है कि जैसे यह संघर्ष उनका अपना न होकर उनके पड़ोसी का है। इन लोगों की इस उपेक्षा के चलते नया गीतकार आव-श्यकता से अधिक खीझ गया है और आवेश में परम्परा से अलग होने आदि की बातें करने लगा है। यह तय है कि जब उसे अपने घर में अच्छी जगह नहीं मिलेगी तो वह कहीं भी जाकर, खुले आसमान के नीचे भी अपना घर बनायेगा ही।

अपने नये गीतकार मित्रों की तरह मैं किसी लम्बी-चौड़ी घोषणा का पक्षपाती

तो नहीं हूँ लेकिन इतना अवश्य कह सकता हूँ कि यदि यह नया विकास पूरी हिन्दी कविता या प्रकारान्तर से पूरे भारतीय साहित्य का एक आवश्यक विकास न होता तो मैं कभी का इससे अपने को अलग कर चुका होता। स्वतन्त्रता के बाद इस देश में समन्वय की जो रासायनिक प्रक्रिया घटित हो रही है उसका एक बहुत ही उजागर स्वरूप हिन्दी के नये गीतों में देखा जा सकता है। जितनी सच इस पीढ़ी की ऊब, असफलता और टूटन है, उतनी ही सच इस सारी असफलता के अन्तराल से उभरती नये गीत की ताज़गी भी है। आपको अपनी निराशा और असफलता पर गर्व करने का अधिकार है लेकिन केवल निराशा, असफलता, ऊब या बिखराव तब तक व्यर्थ है जब तक इन सबके अन्तर में ताज़गी की, नयेपन की, सीधेपन की अदम्य आकांक्षा जीवित और विकसित न हो। ग्राप इस आकांक्षा को चाहे जो नाम दें लेकिन यह हमारे देश में है और नाना संघर्षों के बीच विकसित हो रही है। इसे इन्कार कर देने के मानी होंगे भविष्य से इन्कार कर देना और भविष्य के इनकार कर देने के बाद किसी व्यक्ति और किसी राष्ट्र के जीवन में बचता भी क्या है? मेरी यह कमज़ोरी है कि मैं हमेशा बड़ी-से-बड़ी निराशा के बीच कहीं-न-कहीं से सुख की एक किरण ढूंढ़ने की कोशिश करता हूँ; इसलिए नहीं कि अलग से केवल सुख का ही चित्रण करना चाहिए बल्कि इसलिए कि उस किरण के रंग को निराशा के गहरे अन्धकार से मिलाये बिना मेरे मन का रंग बनता नहीं। आशा और आकांक्षा रखकर भी रोया जा सकता है। मैं स्वयं भी जीवन में घोर असफल, निराश ग्रौर टूटा हुआ आदमी हूँ, लेकिन यह मानकर कि यह हमारी पीढ़ी की नियति है और हम सबको मिलकर एक विशाल रासायनिक प्रक्रिया में गुजरकर एक नया रूप लेना है, मैं प्रसन्नता से सब सहता रहा हूँ। इसीलिए आसपास की बुनावट में आखिरी हद तक बुना जाने के बाद भी मैं अपने भीतर इतना कुछ बचा लेता हूँ जिससे सीधी-सादी सामान्य ज़िन्दगी के विस्तार पर दो-एक खूबसूरत बूटे काढ़ ले सकूँ। मेरा खयाल है कि साहित्य में जिन लोगों की परम्परा के हम लोग उत्तराधिकारी हैं उनकी भी नियति बहुत-कुछ ऐसी ही थी। निराला की पूरी ज़िन्दगी एक युद्ध में कटी लेकिन अपने काल की बुनावट में पूरी तरह बुन दिये जाने के बाद भी उनका जो कुछ बचा रह गया था वह उनकी पीढ़ी का सबसे बड़ा धन है। मेरे प्रिय मित्र केदारनाथसिंह बुन जाने के विरुद्ध लड़ते हैं यह उनकी नियति है। मैं बुने जाने के बाद जितना-कुछ बचता हूँ उसी के बल पर लड़ता हूँ और रचित होता हूँ। गीतकार के नाते मेरा जो-कुछ है वह इसी प्रक्रिया से विरचित हुआ है।

मुझसे बाहर इस बड़े देश में एक और देश विकसित हो रहा है। सैकड़ों वर्षों से इस देश के बड़े-बड़े अंचल परस्पर एक-दूसरे से विच्छिन्न रहे हैं, बिना एक-दूसरे को प्रभावित किये। इस देश के चित्र पर उनकी अपनी कोई छाप नहीं छूट सकी थी। लेकिन स्वतन्त्रता के बाद ऐसी स्थिति बहुत दिनों तक बनी नहीं रह सकती थी। अंचलों का प्रभाव न केवल पूरे देश के क्षितिज को नाना रंगों से रंग रहा है बल्कि उसने यहाँ की धरती का रंग भी बदल दिया है। आंचलिकता का आन्दोलन इसीलिए

नई पीढ़ी की समग्र चेतना का विरोधी न होकर उसका पूरक है। गीतों में स्वीकृत लोक-चेतना और संकेत पहले की कविता में प्रयुक्त संकेतों और बिम्बों से इसीलिए पहले अलग लगे लेकिन शीघ्र ही वे कविता की मूल-धारा के विकास में हिल-मिल गये और ऐसा लगने लगा कि इन नये रंगों और बिम्बों के अतिरिक्त जो कुछ है वही विजातीय और परम्परा-विहीन है। इस बोध को आत्मसात करने के लिए रचनात्मक साहित्य की इस सामाजिक पृष्ठभूमि को भी ध्यान में रखना होगा। नई गीतरचना का यह आन्दोलन बड़े शहरों से हट-बढ़कर उभर रहा है; यह केवल संयोग की बात नहीं है। मुझे स्वयं भी बड़े नगरों से हटकर सन्थाल परगने में एक उभार दिखलाई पड़ा था, वैसे ही जैसे ओम प्रभाकर को आज मध्य प्रदेश के पठारों में नये अनुभव और नये संकेत मिल रहे हैं। केदार अग्रवाल ने इसे बुन्देलखण्ड में सुना, केदारनाथसिंह, रामदरश मिश्र या इनके ऐसे ही अन्य गीतकारों ने इसे भोजपुरी अंचल में देखा। आंचलिक प्रभाव ग्रहण करने का यह पहला स्तर था और जब इन नये कवियों ने अपनी कविताओं के द्वारा इन प्रभावों को रचनात्मक स्वीकृति दे दी है तब तथा-कथित नागरिक कविता का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ।

नई कविता की बौद्धिकता तथा नये गीतों की हार्दिकता को परस्पर एक-दूसरे का पूरक मानते हुए भी यह स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि ये दोनों दो परिस्थितियों और मनःस्थितियों के काव्य हैं। हिन्दी-कविता के विकास के लिए १९५० के कुछ पहले से लेकर आज तक जितने भी प्रयत्न नये कवियों ने किये हैं उनको इन दो प्रमुख प्रवृत्तियों के खाते में आसानी से डाला जा सकता है। एक ओर स्वतन्त्रता के बाद बढ़ता हुआ अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव था तो दूसरी ओर अपने देश की उभरती हुई सही पहचान की ललक। १९५० के आसपास समझदारी की कमी या समन्वय की स्थितियों से परिपक्व न होने के कारण जहाँ ये दोनों प्रवृत्तियाँ अलग-अलग छोरों पर दिखाई पड़ती थीं वहीं अब वे एक-दूसरे से इतनी घुल-मिल गई हैं कि हम इन्हें एक-दूसरे का पूरक मानने के लिए प्रस्तुत हो गए हैं। इसलिए नये गीत-आन्दोलन को केवल शिल्प-संकट के परिवेश में देखने की ग़लती न की जानी चाहिए। १९५०-५२ में इस ग़लती के कारण पूरा प्रयोगवादी आन्दोलन झूठा पड़ गया था। दस-पन्द्रह वर्षों में हमने-आपने बहुत-कुछ सीखा-समझा है इसलिए गीतों का मूल्यांकन करने के साथ-साथ यह आवश्यक है कि आप इस देश में घटित हो रहे परिवर्तन की प्रक्रिया का भी सही अन्दाज़ और मूल्यांकन कर लें।

इधर इन गीतों की प्रतिक्रिया में या नई कविता की पिछले वर्षों की असफलता को नया नाम देने के लिए महानगर की कविता का सिर ऊँचा किया गया है। वस्तुतः बड़े नगरों में रहने वाले रचनाकार उसी परिवर्तन के दर्द से आक्रांत हैं, जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है। महानगर की कविता इसी जीवन-संकुलता के विरोध में उठायी गई आवाज़ है जिसके पीछे तर्क कम, खीझ अधिक है। यों देखिए तो महानगर के बोध में नगर का बोध होता कितना है? यदि कोई बोध है तो उसे हम नगर में रहकर भी नगर में न रहने का बोध कह सकते हैं। आज के बड़े-बड़े शहरों में हिन्दी

के कितने कवि हैं जिनकी कई पीढ़ियाँ नगर में रहती आई हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र या जयशंकर प्रसाद कई पीढ़ियों के नागरिक थे लेकिन उनकी रचनाओं में कहीं भी इस नगर-बोध के दर्शन नहीं होते जब कि आज कुछ वर्षों से ही शहर में रहने वाला हिन्दी का नया कवि नगर के इस बोध से आक्रांत है। यह इस बात का प्रमाण है कि वस्तुत: नगर का बोध उतना प्रधान नहीं है जितना रचनाकार की अपनी कुण्ठा और उसका अपना दर्द प्रधान है। गाँवों या कस्बों से आये हुए नए रचनाकार का निजत्व इन विशाल नगरों में कितना है और वे इन बड़े नगरों में कितने कष्ट से जीवन-निर्वाह करते हैं, यह देखकर ही इस आन्दोलन की गम्भीरता का अन्दाज़ लगाया जा सकता है। वस्तुत: इस तरह की सभी कविताएँ नागरिक से कहीं अधिक अनागरिक हैं। योरोप के अधिकांश देशों का ढाँचा मुख्य रूप से उनके बड़े-बड़े नगरों पर ही खड़ा है, इसलिए यदि इंगलैंड के ८ बड़े नगरों में रहने वालों की भावनाएँ ही इंगलैंड के सामाजिक और साहित्यिक मंथन की प्रतीक मानी जाएँ तो उसमें किसी को कोई ऐतराज नहीं होना चाहिए। लेकिन पूरब के नए स्वाधीन हुए देशों का ढाँचा आज भी गाँवों या कस्बों के आधार पर खड़ा है। ऐसी दशा में कलकत्ता, दिल्ली या बम्बई के संस्कार-बोध को पूरे देश के बोध का पर्याय नहीं माना जा सकता। कुछ थोड़े-से रचनाकारों को छोड़ दें तो हिन्दी का अधिकांश नया रचनाकार शहरों में पिछले १० वर्षों से ही रह रहा है। जब कि वह पश्चिम के जिन नागरिक कवियों को अपना आदर्श मानता है उनकी १० से अधिक पीढ़ियाँ नगरों में रहती आई हैं। एक हल्की-सी एकता के भ्रम में यदि उन्हें अपनी कविता में 'काम्मोपोलिटन सिटीज़' या महानगरों की आत्मा के दर्शन होने लगे हैं तो हमें इसके लिए कुछ नहीं कहना है।

यों देखा जाय तो महानगर या गाँव दोनों ही विषय के रूप में कविता के लिए कोई आवश्यक विषय भी नहीं हैं। विषय या लक्ष्य यदि कुछ हो सकता है तो वह ताने-बाने या बुनावट से अतिरिक्त या उससे आगे की चीज़ होगा। वर्तमान स्थिति में सभी नई रचनाओं को इस देश की नई सामाजिक रचना-प्रक्रिया को नाना स्तरों में देखना और उसे अपने माध्यम से स्पष्ट करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करना है। यह कार्य करते हुए नई कविता अपनी रूप-सज्जा के लिए किन रास्तों से जाए, यह कवि की अपनी रुचि, समझ और उसके अपने परिवेश पर निर्भर करती है। यदि रघुवीरसहाय शहरों में रहने वाले अत्यन्त सामान्य लोगों की भाषा के सहारे हिन्दी कविता की नई भाषा बनाना चाहते हैं तो उन्हें उसकी उतनी ही छूट है जितनी ओम प्रभाकर को ग्वालियर की प्रकृति से शब्द और चित्र लेकर नई चित्र-सृष्टि करने की है। लेकिन यदि रघुवीर सहाय और ओम प्रभाकर एक-दूसरे को विरोधी मानने लगते हैं तब चिन्ता की बात उत्पन्न हो सकती है। उन्हें बराबर यही समझना होगा कि वे दोनों दो नए क्षेत्रों में काम कर रहे हैं लेकिन वे दोनों मिलकर हिन्दी कविता तथा प्रकारांतर से हिन्दी भाषा की शक्ति में वृद्धि कर रहे हैं और उसे ऐसे अछूते शब्द-बिम्बों से अलंकृत कर रहे हैं जिसके बिना कल तक वह प्राणहीन लगती थी।

इतना मान लेने के बाद आलोचकों द्वारा हिन्दी गीत कविता की की गई उपेक्षा

पर थोड़ा दुःख होता है। आलोचकों की अपनी नासमझी के कारण पिछले १०-१२ वर्षों में हिन्दी कविता का बहुत नुकसान हुआ है। उन लोगों ने बराबर हर नए विकास को पिछले विकास का विरोधी मान लिया है और अपनी शक्ति-भर वे अपने स्वयं बनाये हुए चक्रव्यूह से बाहर निकलने की जगह उसे दृढ़ करने में व्यस्त रहे। पूरा हिन्दी साहित्य ऐसे कितने ही चक्रव्यूहों से भरा हुआ है। इनका सबसे बुरा परिणाम यह हुआ है कि एक दल द्वारा जिन कुछ नामों का उच्चारण होने लगा बाद में चाहे दुनिया इधर-से-उधर हो जाय उनमें नये नाम स्वीकृत नहीं हो सके। पिछले दिनों ये चक्र अपनी शक्ति-भर अपने-अपने केन्द्रों पर घूमते रहे और इनके चलते हिन्दी रचना का मूल रूप छिन्न-भिन्न हो गया है। सारे क्षेत्र में अराजकता फैली हुई है और नये के नाम पर जाने कितने तमाशे खड़े किये जा रहे हैं।

इस सारे शोरगुल के बीच हिन्दी के नए गीतों को एक साथ कई विरोधों का सामना करना पड़ा है। एक ओर नई कविता की ओर से घोर उपेक्षा का सन्नाटा और दूसरी ओर कवि-सम्मेलन के मंच से गाए जाने वाले गीतों का कान के पर्दे फाड़ देने वाला शोर-गुल। नए गीत की साँसें इस दोहरे दबाव से घुटने लगती हैं। यदि वह मंच के गीतों से होड़ लेता है तो उसका स्वर इतना चढ़ जाता है कि नई कविता के चिन्तन-परक वार्तालाप में उसकी परख होनी सम्भव नहीं दीखती और यदि वह नई कविता का वार्तालाप अपने भीतर उतारते हैं तो उसे तथाकथित गीतों की सीमा में ही सम्मिलित नहीं किया जायगा। नया गीत नई कविता के साथ तो शायद आसानी से रह भी ले, उसे सामान्य हिन्दी गीतों के साथ स्वर मिलाने में सबसे अधिक दिक्कत हो रही है। इसीलिए वह अपना भाग्य नई कविता के साथ जुड़ा हुआ देखता है, गीतों से उसका कोई दूर का सम्बन्ध भी प्रतीत नहीं होता। हिन्दी गीत कविता में समय से पहले जो एक समझदारी आ गई थी उसका कोई संकेत भी हिन्दी के अन्य गीतों में नहीं है। हिन्दी के सभी प्रतिष्ठित गीतकार आज भी तुतलाहट-भरी भाषा में लिखते है, गाते हैं और अविकसित मस्तिष्क से सोचते हैं। उनके स्वर और उनकी भाषा १९६४-६५ में सामान्यतया देश में बोली जाने वाली भाषा नहीं है। उदाहरण के लिए अंचल, देवराज दिनेश, रामअवतार त्यागी या नीरज के गीत लिये जा सकते हैं। इनके विपरीत अत्यन्त नवीन गीतकार नरेश सक्सेना या ओम प्रभाकर में एक परिपक्वता है और उनकी भाषा नवीन संकेतों में शण्डित है। नए गीतों ने इस बीच तेजी से कई खोलें बदली हैं। प्रारम्भ में थोड़े-से नये शब्दों या बिम्बों की पूँजी पर खड़ी हुई इस नई चेतना ने बहुत जल्दी ही नई मंजिलें पकड़ ली हैं। शब्द-प्रयोगों, बिम्ब विधानों या वातावरण प्रधान विशेषताओं से नई गीत-रचना तेज़ी से आगे बढ़ गई है। कारण यह है कि ये लक्षण केवल निमित्त थे, लक्ष्य नहीं थे। लक्ष्य था रचनाकार का वही टूटने तथा नई तरह से गढ़े जाने का बोध और उस बोध को पारदर्शी तरह से स्वाभाविक भाषा में व्यक्त किये जाने की छटपटाहट।

गीतकार ने जो उत्तरदायित्व पिछले वर्षों में अपने ऊपर ओढ़ा था उसके चलते यह निश्चित था कि गीत का पुराना चलता हुआ 'पैटर्न' उसे अपर्याप्त

लगता। पुराने तर्कों और टेकों की एक-रसता की जगह लचीलेपन की आवश्यकता उसे महसूस होती और इसके लिए वह पद्धति से विद्रोह करता। यह सब इसलिए भी आवश्यक था कि उसे गीतों का पुराना स्वाद भी बदलना था और उसे हर प्रकार से अपने भीतर की चिन्तन-प्रक्रिया के साथ जोड़ना था। इस देश के नए लेखक तथा कवि दोनों का मन धीरे-धीरे आधुनिक हो गया था और उसे उस आधुनिकता के विकास के लिए नई ज़मीन खोजनी आवश्यक भी थी। सन् १९५० के आसपास प्रयोगवादी तथा बाद में नई कविता के कवियों ने मनो-मंथन की इस चुनौती को स्वीकार किया था और अपनी शक्ति-भर उन लोगों ने हिन्दी कविता की भाषा, लय और छन्द में क्रान्तियाँ की थीं। वे सफल रहे या असफल, यहाँ यह विचार नहीं करना है, लेकिन इतना तो हमें स्वीकार करना ही होगा कि सन् १९४७-४८ तक की सामान्य काव्य-भाषा आज जैसे सपने की भाषा हो गई है तथा उस समय के परम प्रसिद्ध कवि भी आज उसी अनुपात से पुराने पड़ गए हैं या भुला दिये गए हैं। बहुत-थोड़े से कवि भाषा तथा शिल्प के इस संक्रमण से बचकर इधर आ पाए हैं, अन्यथा नब्बे प्रतिशत से अधिक प्रगतिशील या छायावादोत्तर कवि आज चर्चा के विषय तक नहीं रह गए हैं। केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध तथा कुछ हद तक नागार्जुन को छोड़कर सम्भावना-शील कोई भी कवि इस गहरी बाढ़ से नहीं बच सका। यह इस बात का प्रमाण है कि पिछले वर्षों में हिन्दी कविता बड़े ही दुरूह रास्ते से गुज़री है। स्वतन्त्रता के इतने वर्षों बाद हम जिस परिवर्तन का बोध आज कर रहे हैं वह हिन्दी कवियों की कम-से-कम तीन पीढ़ियों पर से गुज़रा है। उसने बड़ी ही निर्ममता से अधिकांश को छोड़कर कुछ को ग्रहण किया है। भाषा, शिल्प और छन्द की दृष्टि से नई कविता में जहाँ इतना परि-वर्तन घटित हुआ है वहाँ यह कैसे सम्भव होता कि हिन्दी की गीत कविता परिवर्तन से अछूती रहती। जाने-अनजाने में उस पर भी समस्त परिवर्तनों का प्रभाव पड़ा है और गीतकारों की बहुत-बड़ी संख्या इस बीच धीरे-धीरे प्रभावहीन होती गई। बच्चन ऐसे शक्तिशाली गीत-कवि हों या सुमन ऐसे उदग्र गायक, इन सभी लोगों की भाषा के ऊपर का चमकता मुलम्मा इस बीच फीका पड़ गया है और इनके साथ और कितने ही गीत-कवियों द्वारा विरचित विशाल गीत-परम्परा अपने ही दुहराव से मिटकर प्रभावहीन हो गई है।

ऊपर कही गई सारी कमज़ोरियों से गीत-कविता ने वैसे ही संघर्ष किया है जैसे पिछले वर्षों में नई कविता ने किया था। अपने को नये सिरे से स्वतःस्फूर्त बनाने के लिए गीत-कविता ने प्रेरणा के आदिम स्रोत भी ढूँढ़े हैं और वह बार-बार नये सन्दर्भों से अलंकृत भी हुई है। ताज़गी के लिए वह सबसे पहले लोक-गीतों के पास गई और वहाँ से उसने पिटे-पिटाये ढाँचे के विरुद्ध खड़े होने के लिए बल प्राप्त किया। उसने इस बीच यह भी सीखा कि छन्द और लय गीत-कविता के वाह्य आडम्बर नहीं हैं; वे अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व हैं और सामान्य रूप से गीत न लगनेवाली रचनाओं में भी वे पूरी शक्ति से विराज सकते हैं। यह स्वीकार कर लेने से गीत की सम्भावनाएँ बढ़ गईं और गिरिजाकुमार माथुर के विचार से तो कितनी ही अतुकांत कविताएँ भी इन

गुणों के कारण गीतों की सीमा में आ गई। कवि निराला ने जो संकेत अपनी रचनाओं में दिये थे वे प्रत्यक्ष रूप से हिन्दी-कविता के स्वीकृत सत्य बन गए। गीत, कुल मिलाकर, गेयता का प्रभाव मन पर छोड़ता है लेकिन यह गेयता भी बाहरी न होकर भीतरी तत्त्व है। यह नितान्त आधुनिक चित्रों या गद्य में भी वर्तमान रह सकती है। यह स्वीकृति भी अपने में क्रान्तिकारी थी और इसने गीत-कविता पर लगाये जाने वाले आरोपों को जड़ से ही काट दिया। इन दो प्रधान स्वीकृतियों के अतिरिक्त गीत-कविता ने तीसरा सबसे बड़ा काम जो इस बीच किया वह है इस देश की गंध तथा अछूते बिम्ब-चित्रों को नये सन्दर्भ में उपस्थित करने का। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है यह कार्य उसने साहित्य पर पड़ने वाले अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों की प्रतिक्रिया में किया। इसके चलते हिन्दी की गीत-कविता के माध्यम से इस देश के नये विकसित होते हुए स्वरूप को अभिव्यक्ति मिली। इस देश की प्रकृति को इन नये गीतकारों ने एक बार फिर नये सिरे से देखा और छायावाद युग में देखे हुए इस देश को पहले की अपेक्षा कहीं यथार्थवादी रूप में देखा। आरण्यक कवियों से लेकर आज तक कितने ही लोगों ने इस देश की प्रकृति को देखा-परखा है लेकिन यह प्रकृति हर बार नई लगती है। आज भी ताज़गी के लिए हम प्रकृति के पास जाते हैं और सम्भवतः अनन्त काल तक जाएँगे। गीतकारों ने इस प्रकृति के आभार को स्वीकार किया और उसे अपने दुःख-दर्द का साथी बनाया। यह उसका भाग्य था कि चन्द्रमा उसे मुहासों से भरे मुँह जैसा नहीं लगा और न तो तारे आतशक के घाव-जैसे ही लगे। प्रकृति को इन नये गीत-कवियों ने प्रकृति के बीच रहकर ही देखा और उसे अपने हर सुख-दुःख का साक्षी बनाया। उसे उन्होंने अपनी संवेदना के चौखटे में रखा अवश्य लेकिन उसका सम्मान भी बचाए रखा। उसने उसे गंध और प्रतीकों के अजस्र स्रोत के रूप में ग्रहण किया और उसकी छाया अपने अचेतन मन पर सम्पूर्ण जीवन्त चित्रों के साथ उतारी। यही कारण है कि हिन्दी के नये गीतों में कई तरह के रंग, चित्र और कितने ही गंध-प्रतीक एकसाथ मिले-जुले दिखलाई पड़ते हैं। नई कविता की तरह यह इतनी सार्वदेशिक नहीं है कि अनूदित होने पर पश्चिम के कवियों को इसमें कोई निजत्व दिखलाई ही न पड़े। मेरी बात समझने के लिए आपको नरेश मेहता, केदारनाथसिंह, मेरी या ओम प्रभाकर की रचनाएँ एकसाथ पढ़नी चाहिए। तब यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जायगी कि देश से सम्बन्धित होने के कारण नई गीत-कविता में कितने ही 'शेड' हैं और उसका निजत्व नाना रूपों और छन्दों में धीरे-धीरे विकसित हो रहा है।

यहाँ मैं कुछ कवियों का उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ। निराला सम्भवतः समस्त नई कविता के उद्गम-स्रोत रहे हैं, गीतों की दिशा में भी उनका योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा है। दूसरे महत्त्वपूर्ण कवि डॉ० बच्चन हैं जिन्होंने हिन्दी-गीतों के विकास में ऐतिहासिक योगदान दिया है। यों पिछले १०-१२ वर्षों में उन्होंने कोई महत्त्वपूर्ण कार्य इस दिशा में नहीं किया, लेकिन कितने ही नये गीतकारों के लिए प्रेरणा के स्रोत वे रहे हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। एक जागृत कवि के नाते उन्होंने पिछले वर्षों में लोक-गीतों का प्रभाव लेकर कुछ बड़े ही

सुन्दर प्रयोग किये हैं। देर से प्रयोग करने के कारण उन्हें इस दिशा में यश नहीं मिल सका क्योंकि जब उन्होंने ये प्रयोग करने शुरू किये तब तक हिन्दी की नई गीत-कविता लोक-गीतों के प्रभाव से एक कदम आगे बढ़ चुकी थी। फिर भी बच्चनजी ने अपना विश्वास नई गीत-कविता को दिया। इस बीच विशेषकर डॉ० शम्भूनाथसिंह ने अपनी काव्य-भाषा में अद्भुत परिष्कार ले आने में सफलता प्राप्त की। एकदम नये को ग्रहण करना कितना बड़ा काम है, साथ ही कितना कष्ट-साध्य, यह बात शम्भूनाथजी के पिछले वर्ष के काव्यविकास को देखकर समझी जा सकती है। उन्होंने हर सम्भव प्रयत्न किया और जिन लोगों ने उन्हें पिछले २० वर्षों में नजदीक से देखा है वे यह बात स्वीकार करेंगे कि सम्भवत: अपनी पीढ़ी के कवियों में परिवर्तनों के लिए उनसे अधिक प्रस्तुत शायद ही दूसरा कोई कवि रहा हो। अज्ञेय, शमशेर बहादुरसिंह तथा केदारनाथ अग्रवाल कुछ पूर्ववर्ती थे लेकिन उनमें गीत की वे सम्भावनाएँ ज्यादा उजागर थीं जिनसे बाद के गीतों का विकास हुआ।

बच्चन के बाद हिन्दी गीत-कविता में सबसे महत्त्वपूर्ण नाम गिरिजाकुमार माथुर का है। गीत के सम्बन्ध में जितने अधिक प्रयोग उन्होंने किये हैं उतने सम्भवत: उनके पहले किसी कवि ने नहीं किये। गीत, छन्द, रंग और गंध की जितनी अद्भुत पहचान श्री माथुर को है उतनी सम्भवत: पिछले दो दशकों के किसी कवि में नहीं है। अमरीका-प्रवास तथा उसके बाद की गीत कविताओं में गिरिजाकुमारजी ने गीत के नये आयाम विकसित किये हैं और उसे नई गति दी है। भारतभूषण अग्रवाल तथा भवानीप्रसाद मिश्र ने भी इस दिशा में सुन्दर गीत लिखे लेकिन गिरिजाकुमारजी के बाद गीतों का नया स्वरूप नरेश मेहता तथा धर्मवीर भारती में ही विशेष रूप से झलका। इन दोनों कवियों में प्रकृति के अछूते बिम्ब लोककथानकों की सुगंधि से सजीव हैं और इस नाते हिन्दी गीत कविता को पहली बार उन्होंने अत्यन्त आधुनिक सन्दर्भों से जोड़ा है। इन्हीं के आसपास रामदरश मिश्र, केदारनाथसिंह, नामवरसिंह तथा सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविताएँ लिखी गईं और पहली बार हिन्दी में हिन्दी के नये गीतों की सम्भावनाएँ अत्यन्त स्पष्ट रूप से व्यक्त हुईं। इन सभी कवियों का प्रभाव नये आनेवाले कवियों पर पड़ा और विशेषकर हिन्दी क्षेत्रों में पड़नेवाले अंचलों में कितने ही नये गीतकार उभरकर आगे आए। पहले सूर्यप्रतापसिंह, श्रीकांत वर्मा, रामबिलास शर्मा तथा बाद में परमानन्द श्रीवास्तव, रामसेवक श्रीवास्तव, भगवानसिंह, देवेन्द्रकुमार, महेन्द्रशंकर, रवीन्द्र भ्रमर, श्यामसुन्दर घोष आदि भिन्न-भिन्न अंचलों में धीरे-धीरे उठे और उनके चलते १९५५-६० के बीच हिन्दी गीत-कविता की नई सम्भावनाएँ अत्यन्त उजागर हो गईं। पत्रों में नये गीत की चर्चा धीरे-धीरे गुन-गुनाहट की तरह उभरी और फैल गई। वासन्ती ने इस बीच नये गीत के विकास में काफ़ी योगदान दिया फिर बाद में चलकर अलवर से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'कविता' ने यह चर्चा और आगे बढ़ाई। १९६० में गीतों की इस परिवर्तित भूमि का आभास काफ़ी स्पष्ट हो चुका था। अज्ञेय ने इस प्रवृत्ति की सम्भवत: सबसे पहले पहचान की। उन्होंने इस नये आन्दोलन को एक बड़े सन्दर्भ के साथ जोड़ दिया।

१९६० में श्री सुमित्रानंदन पंत की हीरक जयन्ती के ही अवसर पर उन्होंने हिन्दी प्रकृति काव्य का प्रतिनिधि संकलन 'रूपाम्बरा' पंतजी को समर्पित किया। यह संकलन स्वयं में हिन्दी के नये गीतों की स्वीकृति की दिशा में एक बड़ा प्रयत्न था और इसके माध्यम से बाद में हिन्दी के नये काव्य की जो चर्चा चली वह मुख्य रूप से हिन्दी के नये गीतों के आसपास ही केन्द्रित रही। हिन्दी की नई कविता के आलोचक सम्भवत: पहली बार कविता की विवेचना के अपने पुराने ढर्रे से अलग हुए और उनके सामने पुनर्मूल्यांकन की चुनौती नये सिरे से उपस्थित हुई। तब से लेकर आज तक और भी कितने ही नये कवि उभरकर आगे आ गए हैं और नई गीत-कविता के इस विकास ने इस बीच लगभग एक आन्दोलन का रूप ले लिया है। यह कार्य भी अपने में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अत्यन्त नये कवियों में श्री ओम प्रभाकर, नरेश सक्सेना, भगीरथ भार्गव, सोम ठाकुर, शरद, विमल, पाण्डेय आदि बड़े ही विश्वास से लिख रहे हैं।

मेरी तो समझ में नहीं आता कि मैं उन गीतकारों को अपनी आलोचना में कहाँ स्थान दूँ जो हिन्दी के काव्य-मंच पर छाये हुए हैं। बच्चन के बाद पहले उनके अनुकरण पर और बाद में निरन्तर उर्दू कविता की ओर झुकते हुए जिन गीत-कवियों ने इस बीच प्रसिद्धि प्राप्त की है उनके चलते हिन्दी कविता जनता में प्रचलित भले ही हुई हो लेकिन शैली, शिल्प और भाषा की दृष्टि से गीत-काव्य को इनसे अधिक सहायता नहीं मिली है। मंच के कवियों में विशेष रूप से वीरेन्द्र मिश्र का नाम यहाँ उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी शक्ति-भर गीतों में नये प्रयोग किए हैं और कहीं-कहीं अपनी प्रसिद्धि को खतरे में डालकर उन्होंने नये गीत लिखे हैं जब कि नीरज पर पिछले १०-१२ वर्षों में पड़ने वाले इतने सारे दबावों का कोई असर नहीं हुआ। वे हिन्दी के मंच से उतरकर धीरे-धीरे बम्बई चले गए हैं जैसा कि ऐसा हर गीतकार करता है। यह तय है कि उनको इस क्षेत्र में पीछे छोड़ने वाले कितने ही गीतकार आगे आ जायँगे क्योंकि बम्बई के फिल्मी-गीतों के लिए जिस तरह के कवि चाहिए नीरज वस्तुत: वैसे नहीं हैं। उनमें संभावनाएँ थीं और अब भी हैं। आवश्यकता है कि वे खतरा उठाएँ और श्री वीरेन्द्र मिश्र या कैलाश वाजपेई की तरह समय रहते अपने को संभाल लें। इन दो कवियों के अतिरिक्त उल्लेखनीय कवि सम्भवत: ऐसे नहीं हैं जिन पर यहाँ विशेष रूप से चर्चा की जाय, फिर भी देवराज दिनेश, रामानन्द दोषी, रामअवतार त्यागी, चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा', हंसकुमार तिवारी आदि कुछ ऐसे कवि अवश्य हैं जिन्होंने इस बीच धैर्य के साथ लिखा है। वे अब भी अपने पुराने विश्वासों पर दृढ़ हैं और गीत-कविता के एक कल्पित वातावरण में रह रहे हैं। लोकप्रियता यदि काव्य का प्रथम गुण होती तो यह निश्चित है कि ये सभी कवि महत्त्वपूर्ण थे। लेकिन यदि हम नई शैली तथा नये प्रयोगों पर बल देते हैं और उसे यदि काव्य की प्रमुख कसौटी मानते हैं तो निश्चित ही इन कवियों का योगदान कोई विशेष नहीं रहा है।

डॉ० रामदरस मिश्र

हिन्दी कविता : प्रबन्ध-काव्य

कहा जाता है कि आज का युग प्रबन्ध-काव्य का युग नहीं है। शायद इसका कारण यह है कि प्रबन्ध-काव्य के निर्माण के पीछे जो मान्यता रही हैं, वे चुक गई हैं। यानी प्रबन्ध-काव्य का पूर्वमान्य स्वरूप आज के युगको रूपायित करने में असमर्थ है। आज के मनोवैज्ञानिक युग में मानव-व्यक्तित्व की धारणा बदल गई है पूर्वमान्य प्रबन्धों में जो पात्र गृहीत हुए हैं वे कुछ स्वीकृत गुणों और दोषों या उनके मिश्रित रूपों के सम्पुत्र प्रतीत होते हैं और उन गुणों या दोषों या उनके मिश्रित रूपों का एक श्रृङ्खलित विकास दिखाया जाता है। दूसरी बात यह है कि वे पात्र समय के विस्तार में फैलते हैं, जहाँ कुछ हरियालियाँ हैं, कुछ शुष्क उपेक्षणीय ऊसर, कुछ मान्य महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं, प्रसंग हैं, मर्मस्पर्शी अवसर हैं और हैं महत्व हीन, घड़ियाँ और स्थल। पात्र एक महत्वपूर्ण से दूसरे महत्वपूर्ण तक दौड़ते हैं। शेष समय और स्थान तो केवल दूरी भरने के लिए होते हैं। अत: देश और काल के विस्तार में दौड़ते हुए भी पात्र पूर्व-स्वीकृत जीवन-तीर्थों की ही यात्रा करते हैं। वे अपने भीतर की तन्मयता से हर क्षण और हर स्थल को तीर्थ नहीं बना सकते। कहना न होगा कि विगत युगों की जीवन-दृष्टियाँ, आदर्शवादी मान्यताएँ, रसवादी रुचियाँ और व्यक्तित्व-सम्बन्धी प्रतीतियाँ प्रबन्ध-काव्य के उपर्युक्त स्वरूप की रचना में सहायक होती रही हैं।

आज व्यक्तित्व और समय दोनों के सम्बन्ध में नई दृष्टियों का विकास हुआ है। मनोविश्लेषणवादी की धारणाओं ने मानव-व्यक्तित्व की समस्त पूर्वमान्य धारणाओं को बदल दिया है। वह जितना अवचेतन से प्रभावित होता है उतना चेतन से नहीं और अवचेतन का लोक चेतन के लोक के समान कुछ स्पष्ट रेखाओं से निर्मित नहीं होता। वह एक गहन लोक है, जहाँ पता नहीं प्रकाश और अन्धकार की कितनी रेखाएँ एक-दूसरे को काटती, उलझाती सोई पड़ी हैं। अत: आज के मनुष्य को 'अच्छा' 'बुरा' या उसके मिश्रित रूप के खाने में डालकर देखना कोई देखना नहीं है। वह गुणों या अव-गुणों का गट्ठर नहीं है, बल्कि वह उस नदी के समान है जो कभी टेढ़ी, कभी सीधी, कभी स्वच्छ, कभी पंकिल, कभी गहरी, कभी उथली दीखती है। जो व्यक्ति अभी उदात्त कार्य कर रहा है वही दूसरे क्षण अविश्वसनीय नीचता पर उतर आता है।[1]

1. Now real people are not just good and bad : They are not even simple mixtures in which the balance of virtuous and vicious elements can be readily struck. They are not, if modern psychology is right, composed of elements, known as qualities, at all. A human being, psychology teaches, is more like a river than a bundle of qualities ; running now fast, now slow, now clear, now turbid, he presents a different surface at every moment. Capable at one moment of supreme heroism, he is guilty at another of incredible meannesses.

Guide to Modern Thought :
By C.E.M. Joad

किसी पात्र को अच्छा वा बुरा मानकर एक विशेष दिशा में उसका विकास दिखाना सहज नहीं है। आज का मनुष्य तो अनेक प्रकार के अन्तर्विरोधों और असंगतियों से ग्रस्त है। आज का जीवन (जिसमें सारी पुरानी नैतिक धारणाएँ हिल गई हैं, सारे जीवन-मूल्य रीत गये हैं और सर्वत्र अराजकता, टूटन, विघटन-सा लक्षित होता है) इन असंगतियों को और भी गहन और व्यापक होने की अनुकूलता प्रदान करता है। कहने का अर्थ यह है कि व्यक्तित्व आज विघटित हो गया है। अतः प्रबन्ध-काव्यों के मूल में अखण्ड व्यक्तियों को लेकर जो एकसूत्रता दिखाई पड़ती थी वह विच्छिन्न हो गई है। समय के सम्बन्ध में भी नये विचार उगे हैं। क्षणवादी दर्शन ने समय की मान्यता को एक नया आयाम दिया है। समय का कोई भी अंश अपने-आप में बड़ा, छोटा, प्रभावशाली या प्रभावहीन नहीं होता। वह हमारी गहरी संवेदनाओं से छोटा-बड़ा बनता है। यदि कोई एक छोटा क्षण हमारी गहरी अनुभूति से सम्पृक्त हो उठा तो वह क्षण है पूरे-के-पूरे समय को एक अर्थ दे देने में समर्थ। यदि तथाकथित विराट समय हमारी संवेदना की तन्मयता से सम्पृक्त हुए बिना ही गुजर गया तो व्यर्थ समय विस्तार है जिसकी गणना इतिहास में हो सकती है काव्य में नहीं। दिक्काल के प्रसार में, शृंखलित विकास के प्रवाह में जी पाना आज के असंगतिपूर्ण विघटित व्यक्तित्व के लिए सम्भव नहीं है। वह अपनी विभिन्न मनःस्थितियों में गहरे क्षणों को जीता है। 'कनुप्रिया' (डॉ० धर्मवीर भारती) में और कहीं-कहीं 'उर्वशी' (दिनकर) में भी क्षण की अनुभूतियों की बात कही गई है। क्षण के गहरे तन्मयतामय संवेदन जीवन के प्रसार को नये अर्थ से रँगते हुए दीखते हैं। जब कनुप्रिया की राधा युद्ध-संचालक कृष्ण से पूछती है—

> **अच्छा मेरे महान कनु**
> **मान लो कि क्षण भर को**
> **मैं यह स्वीकार कर लूँ**
> **कि मेरे ये सारे तन्मयता के गहरे क्षण**
> **सिर्फ भावावेश थे**
> **सुकोमल कल्पनाएँ थीं**
> **रँगे हुए अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे**
> **... ... ...**
> **मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण**
> **रँगे हुए अर्थहीन आकर्षक शब्द थे**
> **तो सार्थक फिर क्या है कनु ?**

तब बहाने से विराट् इतिहास के अनुभूतिहीन विस्तार की व्यर्थता की ही ओर संकेत करती है। इसी प्रकार 'दिनकर' की उर्वशी में जब पुरूरवा कहता है—

> **रुको समय-सरिते ! पल ! अनुपल ! काल-शकल ! घटिकाओ !**
> **इस प्रकार आतुर उड़ान भर कहाँ तुम्हें जाना है ?**
> **कहीं समापन नहीं ऊर्ध्वगामी जीवन की गति का**

काल पयोनिधि का त्रिकाल में कोई कूल नहीं है
कहीं कुण्डली मार बैठ जाओ नअत्र-निलय में,
मत ले जाओ खींच निशा को आज सूर्य-वेदी पर।
रुको पान करने दो शीतलता शतपत्र कमल की,
एक सघन क्षण में समेटने दो विस्तार समय का,
एक पुष्प में भर त्रिकाल की सुरभि सूँघ लेने दो।

तो क्षण-सम्बन्धी आधुनिक संवेदना को ही व्यक्त करता है किन्तु जहाँ यह संवेदना कनुप्रिया की मूल संवेदना है वहाँ उर्वशी में बीच-बीच में आई हुई।

क्षणवादी दर्शन और विघटित व्यक्तित्वों वाली धारणा के कारण कथा या घटना-शृंखलित प्रबन्ध-काव्य लिखने का उत्साह कम दीखता है। छोटी-छोटी कविताओं में ही क्षणानुभूतियों और विघटित व्यक्तित्वों के सूक्ष्म अन्तर्विरोधों को व्यंजित किया जा रहा है। व्यक्तित्व या विराट् समय की जो मान्य रीढ़ थी (जो प्रबन्ध-काव्यों के समस्त अवयवों को आद्योपान्त एकसूत्रता में पकड़े रखती थी) वह टूट गई है। वर्तमान युग के बिखरे और टूटे सत्यों को लेकर शृङ्खला-बद्ध काव्य लिखना या तो सम्भव नहीं है या बहुत कठिन है। आज की कोई भी रचना हो, हमारे सामान्य दैनिक जीवन और भीतरी व्यक्तित्व (जो अब तक उपेक्षित रहा है) के अनेक सत्यों को स्वीकार करके ही चलेगी। दैनिक जीवन की सामान्य पर गहन अनुभूतियों और व्यक्तित्व के भीतरी स्तरों को उजागर करके ही आज की रचना सार्थक हो सकती है। आज के युग की सापेक्षता में जीवन के अन्य मूल्य भी बदले हैं। आभिजात्य से हटकर लघुता या सामान्यता की ओर दृष्टिपात करना आज की प्रवृत्ति है। लोकतन्त्र की स्थापना से इस प्रवृत्ति को और भी विकसित होने का बल मिला है। व्यक्ति को एक समादर प्राप्त हुआ है, रूढ़ सामूहिकता टूटी है और गतिशील सामाजिकता का विकास हुआ, जिसमें व्यक्ति सामाजिक दायित्व, नैतिकता या आदर्श का निर्जीव अंश न होकर सजीव इयत्तापूर्ण इकाई बन गया है। अतः आज व्यक्ति के स्व और सामाजिकता का अपूर्व मिश्रण दीखता है। इसका अर्थ यह है कि प्रजा और सामान्य मानवता को शक्ति और सत्ता मिली है। कल के उपेक्षित, अपमानित और महत्वहीन जन-व्यक्तित्वों को दृप्त होकर जगने का मौका मिला है।

ऊपर की समस्त चर्चाओं का निष्कर्ष यह है कि प्रबन्ध-काव्य-रचना आज की सर्जक-रुचि के अनुकूल नहीं पड़ती। यदि प्रबन्ध काव्य लिखा ही जाय तो उसे शिल्प और भाव-बोध में आज के अनुकूल होना पड़ेगा। यानी वह स्थूल मांसल कथा, सम्पूर्ण व्यक्तित्व और विराट् समय-प्रवाह की शृंखला से एकसूत्रित न होकर मनःसत्यों की सूक्ष्म रेखाओं, चिन्तन के द्वन्द्वों, विघटित व्यक्तित्वों और क्षणानुभूतियों की प्रतीति लेकर मुक्त साहचार्य के सूत्रों से अनुस्यूत होगी। स्वभावतः ऐसा प्रबन्ध-काव्य आकार में छोटा ही होगा। दूसरे, उसमें आज के मूल्यों, बोधों, संवेदनाओं, प्रश्नों और आकांक्षाओं की आँच होगी। इस प्रकार कथानक चाहे पुराण या इतिहास से लिया गया होगा या वर्तमान से, उसकी सांस समकालीन होगी। प्राचीन को नवीन के अनुसार

पुनर्प्रस्तुत करना ही सर्जन-कर्म है। हम देखते हैं कि आधुनिक काल में जितने अच्छे प्रबन्ध-काव्य लिखे गये हैं उनमें अतीत में वर्तमान का प्रक्षेपण किया गया है। आधुनिक जीवन-मूल्यों की खोज अतीत में भी की गई है और सर्जन के स्तर पर अतीत को अर्थमत्ता प्रदान करने के लिए वर्तमान का प्रक्षेपण उसमें करना ही होगा।

स्वाधीनता के बाद लिखे गए प्रबन्ध-काव्यों में उपर्युक्त विशेषताएँ कमोबेश मात्रा में लक्षित होती हैं। वास्तव में परम्परावादी शिल्प और धारणाओं का अनुगमन कर प्रबन्ध लिख लेना बहुत आसान है और स्वाधीनता के बाद भी ऐसे प्राण-प्राण-रहित प्रबन्ध काव्यों की कमी नहीं है। बहुत से कवियों ने तो महाकाव्य-लेखन से ही काव्य-लेखन प्रारम्भ किया है। खैर छोड़ें उनकी बात। स्वाधीनता के बाद जो महत्व-पूर्ण प्रबन्ध-कृतियाँ सामने आई हैं, उनमें श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'जय भारत' और 'विष्णुप्रिया', श्री दिनकर की 'उर्वशी' और 'रश्मिरथी', श्री सुमित्रानन्दन पन्त का 'लोकायतन' और डॉ० धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' विशिष्ट हैं। श्री ठाकुरप्रसादसिंह के 'महामानव' और श्री नरेन्द्र शर्मा की 'द्रौपदी' को भी इसी क्रम में देखना होगा। इन समस्त कृतियों में भारती की 'कनुप्रिया' ही एक ऐसी कृति है जो शिल्प और बोध दोनों दृष्टियों से आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करती है।

गुप्तजी और दिनकरजी दोनों ही पहले के मंजे हुए प्रबन्धकार हैं। दोनों ही आधुनिक चिन्तन की उष्मा को शुरू से ही अनुभव करते आये हैं। ये दोनों आधुनिकता को आधुनिक मानवतावाद के रूप में स्वीकारते हैं। उस मानवतावाद के रूप में, जिसमें समस्त उपेक्षित लघु या सामान्य को एक नई दृष्टि से देखा गया है, उसकी अदृष्ट तिरस्कृत पीड़ा, यातना, कामना, त्याग और संघर्ष का मूल्य आंका गया है और पूर्वमान्य समादृत आभिजात्य के खोखलेपन को उद्घाटित किया गया है (यह कार्य गुप्तजी की अपेक्षा दिनकरजी ने अधिक किया हैं) या उस आभिजात्य को नवीन जीवन-सन्दर्भों में जोड़कर एक नई छवि दी गई है। मानवतावादी दृष्टि ने उपेक्षित और आदर्शवादी पात्रों की ऊपरी लघुता और महानता को जगह-जगह से फाड़कर भीतर उफनते मानवीय दर्दों को, संवेदनशील क्षणों को व्यंजित किया है, किन्तु अन्ततोगत्वा ये मनोविज्ञान की विघटित व्यक्तित्व वाली धारणा को न मानकर अखण्ड व्यक्तित्व वाली मानवता को ही लेकर चले हैं। अतः वे अपने चिन्तन-मनन में, मानवीय सामाजिक प्रश्नों की पकड़ में नये होकर भी दूर तक परम्परावादी ही रहे हैं।

गुप्तजी के 'जय भारत' की कथा महाभारत की कथा का हिन्दी रूपान्तर है और 'विष्णुप्रिया' में चैतन्य महाप्रभु की धर्मपत्नी विष्णुप्रिया का चरित्र गाया गया है। गुप्तजी मूलतः वैष्णव संस्कार के कवि हैं। वास्तव में उन्होंने इस संस्कार के ही माध्यम से आधुनिक युग को देखा है या यों कहिए कि वैष्णव संस्कारों को युगीन मानवतावादी आलोक में नया संस्कार दिया है। आज की मानवतावादी दृष्टि से ही आपने उर्मिला, यशोधरा और विष्णुप्रिया के उपेक्षित गौरव को, उनके भीतर निहित त्याग और व्यथा को वाणी दी है। गुप्तजी आधुनिक युग के द्वन्द्व, विद्रोह, अनास्था, बौद्धिकता को दूर तक न स्वीकार कर सारी चीज़ों का पर्यवसान शान्ति और आस्था

में कर देते हैं यानी युग की समस्त तलखी और द्वन्द्व के ऊपर उनका आस्थावादी, मधुर वैष्णव व्यक्तित्व छा जाता है। 'विष्णुप्रिया' में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। 'जय भारत' में 'साकेत', पंचवटी और यशोधरा के समान प्रबंधत्व का नवीन उन्मेष लक्षित नहीं होता। कथा का नया आयोजन भाव-भूमियों की नवीन सृष्टि और मूल्यों की नवीन कथा संयोजना दिखाई नहीं पड़ती। गुप्तजी ने इसमें इतना ही किया है कि महाभारत की व्यापक कथा को एक क्रम से सजा दिया है, कथा को आवश्यक स्फीति या संक्षिप्ति देकर अभिप्रेत प्रभाव व्यक्त किया है और जहाँ मार्मिक प्रसंग आये हैं (महाभारत में मार्मिक प्रसंगों की क्या कमी ?) उन्हें अपनी ओर से और भी उभार कर भावमय कर दिया है। कहीं-कहीं किसी कार्य को नवीन कारण से जोड़कर अधिक विश्वासमय बना दिया है। वास्तव में महाभारत के पाठकों के लिए ये सारी बातें परिचित हैं। महाभारत की सम्पूर्ण कथा को उसी क्रम में रखना अपने-आप में कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं है। इतनी बड़ी कथा को सम्पूर्ण रूप में थोड़े में कहने से कवि को कथा के ही सुलझाने-समेटने में काफी श्रम करना पड़ सकता है। मुक्त भाव से किसी पक्ष को आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में विकसित करना कठिन हो सकता है। 'जय भारत' में यही हुआ है। कहीं-कहीं स्वीकृत कथा के ही प्रसंग में कवि ने छोटी-छोटी भावोद्भावनाएँ कर काव्य को चमका देने का प्रयत्न किया है जैसे स्वर्ग से च्युत होता हुआ नहुष कहता है :—

> **गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी**
> **मैं ही तो उठा था, आप गिरता हूँ जो अभी**
> **फिर भी उठूंगा, और बढ़के रहूँगा मैं**
> **नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूँगा मैं**

सर्जन की वह सार्थकता इसमें नहीं दिखाई पड़ती जो 'साकेत' 'पंचवटी', और 'यशोधरा' में दिखाई पड़ी थी। हाँ, हिन्दी प्रबन्ध के रूप में महाभारत पढ़ने का सुख ज़रूर प्राप्त होता है।

'विष्णुप्रिया' में कवि ने चैतन्य महाप्रभु और विष्णुप्रिया से सम्बन्धित कुछ प्रसंगों को परस्पर गूँथकर एक कथा-शृंखला तैयार की है। वास्तव में ऐसे विषय गीत के होते हैं जहाँ घटनाएँ कम हों और मनस्थितियाँ अधिक। यदि ऐसे विषयों को प्रबन्ध-काव्य का रूप देना ही हो तो किसी एक या दो-एक प्रसंगों को चुनकर उनके द्वारा कुछ आन्तरिक भाव-कथा तथा मूल्यों का अंकन होना चाहिए, जैसा कि 'कनुप्रिया' में हुआ है। गुप्तजी इस विवशता से परिचित थे, इसीलिए उन्होंने विष्णुप्रिया को चैतन्य महाप्रभु के क्रियाकलापों की प्रतिक्रिया में उपस्थित कर उसकी मानसिक स्थितियों को गीतों को ज़रिए व्यक्त किया है। 'विष्णुप्रिया' भी 'जय भारत' की तरह गुप्तजी का गौरव-ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता—न तो प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से और न तो भाव-सौन्दर्य की गरिमा की ही दृष्टि से। प्रस्तुत काव्य में सर्वत्र निश्छल भावधारा है जो कुछ प्रसंगों के तटों को छूती हुई सरल गति से बहती रहती है। हाँ 'विष्णुप्रिया' में एक बात ऐसी अवश्य है जो इसे आधुनिक संवेदना की गहनता प्रदान

करती है और वह है शची (चैतन्य की माँ) और विष्णुप्रिया का आधुनिक नारी-सुलभ असन्तोष या ईषत् विद्रोही दृष्टि। माँ और पत्नी दोनों अन्ततोगत्वा भारतीय माँ और पत्नी ही हैं। अतः दोनों अपने पुत्र और पति की मंगल-कामना में ही अपना सुख मानती हैं। उनकी व्यथा से व्यथित होती हैं किन्तु दोनों (विशेषतया शची) मन से चैतन्य के गृह-त्याग के कार्य को न्याय-संगत नहीं मान पातीं। विष्णुप्रिया की यह उक्ति कितनी बड़ी चोट है हमारी व्यवस्था पर :—

नारी निकले तो असती है
नर यती कहा कर चल निकले

इसी प्रकार जब नित्यानन्द चैतन्य महाप्रभु का आदेश पाकर गृहस्थी बसाने के लिए लौट आता है और शची से कहता है :—

'अब मैं गृहस्थ होऊँ आज्ञा है निमाई की—
जाओ तुम, मैं ही एक संन्यासी बहुत हूँ
लोग देखें गेह में भी बसते विदेह हैं,
'मैंने जो किया किया, करो तुम कहूँ मैं जो'

तो शची मानो अपनी धारणाओं और जीवन-मान्यताओं की विजय देखकर बहू से कहती है :—

'जीत हुई तेरी बहू हारा वह अन्त में।'

गुप्तजी की भाषा में एक ऋजुता है। नयी भाषा की बिम्बात्मकता, सांकेतिकता और प्रयोगशीलता गुप्तजी की भाषा में नहीं है फिर भी उसकी ऋजुता उसे लोकभाषा के समीप खींच लाती है। गार्हस्थ्य जीवन का रस गुप्तजी के काव्य में सर्वत्र उपलब्ध है। छायावाद की भाषा एक दिन अपनी नवीन शक्ति के कारण गुप्तजी की भाषा के आगे दिखी थी किन्तु आज छायावाद के अवशिष्ट कवि अपनी उसी भाषा को दुहराकर उसकी निर्जीवता का ही प्रदर्शन कर रहे हैं और गुप्तजी की भाषा आज के सन्दर्भ में छायावादी भाषा की अपेक्षा अधिक जीवन्त और लोकजीवन के करीब लगती है।

'रश्मिरथी' का कथानक भी महाभारत से लिया गया है किन्तु इसमें 'जय भारत' की तरह सम्पूर्ण महाभारत को गाने का मोह न होकर केवल कर्ण के चरित्र को आधुनिक मानवतावाद के प्रकाश में उद्घाटित करने का सफल प्रयत्न है। 'रश्मि-रथी' का काव्य है कर्ण के माध्यम से कलंकित, उपेक्षित मानवता की मूकता को वाणी देना। कर्ण स्वयं कहता है :—

मैं उनका आदर्श, कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे
पूछेगा जग, किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा
मन में लिए उमंग जिन्हें चिर काल कलपना होगा

कर्ण सूर्य-पुत्र है—प्रकाश-पुत्र, जैसे तमाम उपेक्षित, कलंकित किन्तु सामर्थ्यवान पुरुष सामान्य प्रजा में दीखते हैं, इतिहास और भाग्य जिनकी उपेक्षा करते चले जाते हैं किन्तु जो अपने पुरुषार्थ से उनसे निरन्तर लड़ना ही जीवन समझते हैं। आज कुल-जन्य,

जाति-जन्य, आभिजात्य-जन्य अहंकार मिथ्या सिद्ध हो रहा है। जिसमें पौरुष है, भाग्य को चुनौती दे सकने की शक्ति है, शील है वही बड़ा है। जिसकी दान-वृत्ति अन्याय और विवेक-शक्ति आभिजात्य और भाग्य की अनवरत ठोकरों से भी कुंठित नहीं होती, वही बड़ा है। कर्ण पर इधर तमाम कविताएँ लिखी गई हैं, यह आकस्मिक नहीं है। वह आज की मानवता की स्थापना करने में सहज ही समर्थ हो सकने वाला पात्र है।

कर्ण के चरित्र के माध्यम से उसके जीवन में घटित प्रसंगों के संदर्भ में कवि ने आज के जीवन में अनेक प्रश्नों और संवेदनाओं को, दृष्टियों और चिन्तन-पद्धतियों को, मूल्यों और आकांक्षाओं को उद्घाटित किया है। कवि ने कुछ अन्य पात्रों (जैसे परशुराम और कुंती) को भी नवीन मनः संघर्षों के बीच उपस्थित कर या यों कहिए कि सामाजिक व्यवस्था और व्यक्तिगत संवेदना, कर्तव्य और राग, आस्था और अनास्था के द्वन्द्व के भीतर से उभार कर युगानुकूल नयी छवि दी है। कर्ण अपनी पूर्व-मान्य विशेषताओं का जड़ रूप कर्ण नहीं है। वह अपने अखण्ड पौरुष, जीवन-विश्वास और उदात्त शील के बीच कहीं टूटा हुआ है, हारा हुआ है, प्यासा है। हर उपलब्धि उसकी झोली में से सरक जाती है। कृष्ण और कुन्ती के साथ हुए उसके सम्वाद उसकी आन्तरिक पिपासा और टूटन के द्योतक हैं। अन्त में यही अनुभूति उसके चारों ओर शेष रह जाती है :—

अब चला चली की बेला है
मन लगता बड़ा अकेला है

'रश्मिरथी', जैसा कि कवि ने स्वयं भूमिका में स्वीकार किया है, शिल्प में परम्परावादी प्रबन्ध काव्य है यानी वर्णनात्मक। और यह इसलिए है कि कवि ने पात्रों की सृष्टि में नवीन मानवतावादी दृष्टि का समावेश करते हुए भी अन्ततोगत्वा उन्हें व्यक्तित्व के प्राचीन अखण्डतावादी धरातल पर ही प्रतिष्ठित किया है। इसलिए इस काव्य में मानसिक द्वन्द्वों की मर्म-छवियों के बावजूद घटना का, वर्णन का, रेटारिक का रस अधिक है। बिम्बों की सघनता के स्थान पर सीधे-सादे वर्णनों और सरल प्रवाह-मयी भाषा का रूप ही अधिक दिखाई पड़ता है। सघनता और गहनता के स्थान पर स्फीति और निर्व्याजता है। और अन्त में कहा जा सकता है कि कर्ण दुर्भाग्यशाली हो-कर भी रक्त से पांडव था, सूर्य-पुत्र था—भीतर से टूटता हुआ भी बाहर से अटूट, भीतर से द्वन्द्व-उद्वेलित होकर भी अपने लक्ष्य के प्रति विकल्पहीन, समाज के अत्या-चारों के प्रति रोषयुक्त होकर भी समाज-निर्धारित मूल्यों के प्रति समर्पित और फिर संदेह होता है कि क्या वह सचमुच आज के मानव का प्रतीक बन सका है? कुल मिलाकर यह एक सशक्त प्रबन्ध-काव्य है—प्रबन्ध कुशलता से युक्त नवीन भावोन्मेष, नवीन दृष्टि और नवीन प्रश्नों से संवलित तथा मार्मिक प्रसंगों तथा गहरी संवेदनाओं से स्पंदित काव्य। वर्णनात्मक स्फीति की कमी इसे और भी प्रभावशाली बना सकती थी।

'उर्वशी' दिनकरजी की नवीनतम प्रबन्ध कृति है। इस बहुचर्चित प्रबन्ध काव्य में कवि उर्वशी और पुरूरवा के प्राचीन आख्यान को एक नए अर्थ से जोड़ना चाहते

हैं । पुरूरवा और उर्वशी अलग-अलग तरह की प्यास लेकर एक-दूसरे के करीब आए हैं । पुरूरवा धरती पुत्र है और उर्वशी देव लोक से उतरी हुई नारी है । कवि के शब्दों में 'पुरूरवा के भीतर देवत्व की तृषा है । इसलिए मर्त्यलोक के नाना सुखों में वह व्याकुल और विषण्ण है । उर्वशी देवलोक से उतरी हुई नारी है । वह सहज निश्चिन्त भाव से पृथ्वी का सुख भोगना चाहती है । पुरूरवा की वेदना समग्र मानव-जाति की चिरन्तन वेदना से ध्वनित है । किन्तु मानवता की यह वेदना उत्पन्न कहाँ से होती है । मानव-मन का यह दु:साध्य संघर्ष आता है कहाँ से ? आत्मा का धरातल मनुष्य को ऊपर खींचता है और जैव धरातल का आकर्षण नीचे की ओर है । मनुष्य जब पशुओं से अलग होने लगा, यह वेदना तभी से उसके साथ हो गई । मानवता ही मनुष्य की वेदना का उत्तम नाम है ।' 'आदमी हवा और पत्थर के बीच झटके खाता है और झटका खाकर कभी इस ओर और कभी उस ओर को मुड़ जाता है । कभी प्रेम कभी संन्यास ।' प्रेम और संन्यास एक-दूसरे को सहन नहीं कर पाते । उर्वशी पुरूरवा को समझाती है कि दोनों में कोई फरक नहीं है । ईश्वर और प्रवृत्ति आपस में अविरोधी हैं । 'देवता वही है जो सब कुछ को पीठ दिखाकर भाग रहा है । देवता वह है जो सारी आसक्तियों के बीच अनासक्त है, सारी स्पृहाओं को भोगते हुए भी निस्पृह और निर्लिप्त है ।'

उर्वशी का दर्शन-पक्ष है प्रेम और ईश्वर, जैव और आत्म धरातल को परस्पर मिलाना । वैसे तो यह एक शाश्वत प्रश्न है जो इस युग के मूलभूत प्रश्नों से जुड़ता नहीं दीखता किन्तु प्रकारांतर से कहा जा सकता है कि धरती और स्वर्ग, स्वर्ग और धरती के मिलन का स्वर ऊँचा करना और उपेक्षित धरती की महत्ता स्थापित करना मुख्यत: आज की मानवता की प्रवृत्ति है। इसलिए उर्वशी में भी 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मि-रथी' की तरह युग-बोध उभरा है, यह कहा जा सकता है। मगर यह कहना अतिरिक्त खींचतान होगी । उर्वशी का स्वर युग-बोध से उतना नहीं जुड़ता जितना कि एक शाश्वत प्रश्न से । हाँ जहाँ कवि क्षणवादी दृष्टि से जीवन-सत्यों की महत्ता स्वीकारता है और आधुनिक मनोविज्ञान की उपलब्धियों का उपयोग करता है वहाँ वह निश्चय ही अपने युग से जुड़ जाता है । वास्तव में यदि उर्वशी को उस रूपक के आधार पर देखें जिसकी स्थापना कवि ने भूमिका में की है तो बात कुछ उलझ जाती है यानी रूपक का निर्वाह नहीं हो पाता और असंगतियाँ दीखने लगती हैं । मसलन यदि पुरूरवा को उर्वशी को पाकर भी आत्मा की ही भूख शान्त करनी थी तो वह औशीनरी के साथ भी तो हो सकती थी । वह भी नारी थी और अधिक धर्मनिष्ठ नारी, जो जैव से अधिक आत्मा के धरातल को छूती थी । पुरूरवा जिस उर्वशी के साथ रहकर आत्मा की भूख शान्त करना चाहता है वह तो स्वयं तन के सुख की भूखी है और यह भी सत्य है कि पुरूरवा उर्वशी के रूप पर ही आकृष्ट हुआ था पहले । फिर उसे पाकर आध्यात्मिक भूख की तृप्ति में खोया-खोया रहना दार्शनिक स्तर पर संगत नहीं जान पड़ता । औशीनरी से पुरूरवा की विमुखता और उर्वशी के प्रति उसकी उन्मुखता को कवि ने यह कहकर औचित्य प्रदान करना चाहा है कि औशीनरी नारी

होकर भी पुरूरवा के पुरुष मन की भूख नहीं समझती, उसे अपने यौवन की उष्मा न अर्पित कर सेवा अर्पित करती रही। इससे भी ज़ाहिर होता है कि पुरूरवा का उर्वशी के प्रति आकर्षण मूलतः जैविक धरातल पर ही है। हाँ च्यवन ऋषि और सुकन्या के सम्बन्धों में अवश्य ही बहुत संगत ढंग से आध्यात्मिकता और भौतिकता की शक्तियों का समन्वय हुआ है।

'उर्वशी' की चर्चा को दार्शनिक ऊहापोह से निकालकर काव्य के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जाय तो निश्चय ही कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ लक्षित होंगी। उर्वशी प्रेम और सौन्दर्य का काव्य है। प्रेम और सौन्दर्य की मूल धारा में जीवन-दर्शन सम्बन्धी अन्य छोटी-छोटी धाराएँ आकर मिल जाती हैं। प्रेम और सौन्दर्य का विधान कवि ने बहुत व्यापक धरातल पर किया है। समस्त परिवेश इससे अनुप्राणित हो उठा है। कवि ने प्रेम की छवियों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर पहचाना है। प्रेम भी निर्विकल्प की अवस्था नहीं है, उसमें भी अनेक स्फुलिंग उड़ा करते हैं और मन को शान्त करने के स्थान पर बेचैनी से भर देते हैं। पुरूरवा की उस मानसिक अवस्था को—जिसमें वह अपनी निरन्तर की अतृप्ति को व्यक्त करता हुआ कहता है—

किन्तु जग कर देखता हूँ
कामनाएँ वर्तिका-सी बल रही हैं
जिस तरह पहले पिपासा से विकल थीं
प्यास से व्याकुल अभी भी जल रही हैं
रात भर मानो, उन्हें दीपक सदृश जलना पड़ा हो,
नींद में मानो किसी मरुदेश में चलना पड़ा हो,

दार्शनिक धरातल पर परखने के स्थान पर मनोवैज्ञानिक धरातल पर परखा जाय तो सौन्दर्य की उपलब्धि अधिक होगी। प्रस्तुत प्रबन्ध में 'रश्मिरथी' की घटना-बहुलता और वर्णनात्मकता तथा 'कुरुक्षेत्र' की वैचारिकता से अलग हटकर भाव-संकुलता व्यंजित है। भाव-संकुलता के ही सहारे प्रबन्धात्मकता व्यंजित है। इसे दर्शन के क्षेत्र में न घसीटकर भाव के ही क्षेत्र में सीमित रखकर देखना इसके काव्य-सौन्दर्य के साथ न्याय करना होगा। दो भाव-संकुलताओं के बीच इतिवृत्त की विरल कड़ी बड़े नाटकीय और क्षिप्र रूप से जोड़ दी गयी है अतः वर्णन को अवकाश कम मिला है चित्रण ही छाया रहा है। चित्रण में बिम्ब की प्रधानता होती है अतः उर्वशी में बिम्बों की बहुलता है। बिम्बों की बहुलता 'उर्वशी' को नयी कविता के समीप खींच लाती है। 'उर्वशी' का बोध नया नहीं है वह प्रेम का बोध है, यौन-सौन्दर्य का बोध है। यह बोध अपने-आपमें शाश्वत बोध है किन्तु उसे अन्य बोधों से जोड़कर या उसके भीतर निहित अनेक गहरे ताजे स्तरों को उभारकर नवता के सन्दर्भ से जोड़ा जा सकता है। उर्वशी में प्रेम के ही मान्य स्वरूप के भीतर प्रविष्ट होकर उसकी आन्तरिकता और सूक्ष्म संवेदनाओं को उभारा गया है और कहीं-कहीं उसे एक आध्यात्मिक भंगिमा भी देने का प्रयत्न किया गया है। इन अनुभूतियों और संवेदनाओं की व्यंजना के लिए जिन बिम्बों का सहारा लिया गया है वे कहीं तो बड़े ही पारम्परिक हैं जिन्हें सायास नयी

खराद पर चढ़ाया गया है और कहीं बहुत नये और ताज़े हैं—नयी कविता के अच्छे बिम्बों की श्रेणी के। यही बात रूप-सौन्दर्य व्यंजित करने वाले बिम्बों के बारे में कही जा सकती है। दिनकर की भाषा में हमेशा एक प्रत्यक्षता और सादगी दिखी है परन्तु उर्वशी में भाषा की सादगी अलंकृति और आभिजात्य की चमक पहनकर आयी है—शायद इस पुस्तक की वस्तु की माँग रही हो।

'उर्वशी' सम्वाद शैली में लिखी गयी है इसलिए इस शैली का निर्वाह होना आवश्यक था। किन्तु देखने में यह आता है कि उर्वशी और पुरूरवा प्रेम के गहन क्षणों में भी लम्बे-लम्बे उद्‌गार व्यक्त करते हैं जैसे भाषण दे रहे हों। मितभाषिता का समय लम्बे-लम्बे उद्‌गारों से लद गया है। इन कमियों के बावजूद यह कहा जा सकता है कि उर्वशी इस युग की महत्त्वपूर्ण प्रबन्धकृतियों में से एक है।

'लोकायतन' श्री सुमित्रानन्दन पन्त की नवीनतम कृति है, जिसमें कवि ने भारतीय जीवन की, स्वाधीनता के पहले और बाद की कथा गायी है। यह दो खण्डों में विभाजित है—बाह्य परिवेश और अन्तश्चैतन्य में। बाह्य परिवेश वाले खण्ड में 'पूर्व स्मृतिः 'आस्था' 'जीवन द्वार' 'संस्कृति द्वार' मध्यबिन्दुः ज्ञान तथा द्वितीय खण्ड में 'कला द्वार', 'ज्योति द्वार' और 'उत्तर स्वप्नः प्रीति' उपखण्ड हैं। प्रथम खण्ड में कवि ने देश-काल की विषम-अवस्था तथा जन-जीवन के ह्रास और अभाव की कथा कही है। पराधीन भारत का जो ह्रास हो गया था वह ह्रास केवल बाहरी नहीं था, भीतरी भी था। यानी राजनीतिक पीड़न में वह अभावग्रस्त, अशिक्षित, दरिद्र, अपमानित और असुविधा भोगी तो था ही, धर्म-कर्म की अनेक जर्जर रूढ़ियों में अपने को बुरी तरह जकड़ लेने के कारण भीतर से भी गिरा बैठा था। भारत की इस दुहरी ह्रासावस्था को कवि ने 'सुन्दरपुर' गाँव की दशा के माध्यम से व्यक्त किया है। देश के मुक्त होने पर भी संस्कृति के द्वार नहीं खुले। संस्कृति के वास्तविक प्रकाश के अभाव में लोग धर्म और कर्म की संकुचित गलियों में भटक गए। इस संक्रमण-काल में अर्थ, धर्म, काम सभी के विकृत रूप खुलकर सामने आए। जीवन-साधन दुर्लभ हो हो गए। पन्तजी ने इन विषमताओं के समाधान के लिए सुन्दरपुर गाँव के पास काल्पनिक कला केन्द्र खोला है और उसी के माध्यम से कवि ने अपने जीवनादर्शों और समाधानों को प्रस्तुत किया है। बंशी और हरि (जो स्वयं स्वाधीनता आन्दोलन के सिलसिले में जेल जा चुके हैं) स्वाधीनता के बाद विकसित होने वाली स्वाधीनता-संग्राम के सेनानियों की संकुचित स्वार्थी वृत्ति से बहुत दुखी होते हैं और वे एक कला-केन्द्र की स्थापना करते हैं जिसमें भौतिक योग-क्षेम के साथ-ही-साथ आध्यात्मिक चेतना का विकास किया जाता है। माधो गुरु मध्यकालीन जड़ संस्कारों के प्रतीक हैं जो कला-केन्द्र की मान्यताओं का विरोध करने के लिए एक आश्रम की स्थापना करते हैं जिसका उद्देश्य होता है कला-केन्द्र को तरह-तरह से बदनाम करना। कला-केन्द्र निरन्तर राष्ट्रीयता से मानवता और मानवता से देवत्व की ओर अग्रसर होता है। वास्तव में कला-केन्द्र भौतिक आवश्यकताओं के निषेध का नहीं उनकी सुन्दर पूर्ति का समर्थक है और प्रेम उसकी केन्द्रीय शक्ति है जो भौतिकता और आध्यात्मिकता दोनों

को जोड़ता है। अन्त में वंशी की ज्योति से उद्दीप्त हो उठने वाली एक विदेशी नारी मेरी हिमालय की गोद में एक ऐसे समाज की स्थापना करती है जहाँ कवि का स्वप्न पूरा होता है।

इस प्रबन्ध की पट-भूमि बहुत ही व्यापक है जिसमें स्वाधीनता के पहले से लेकर उत्तर-स्वप्न तक का विशाल भारतीय जीवन अन्तर्भुक्त हो उठा है। पन्तजी युग-जीवन के यथार्थ के प्रति जागरूक हैं, वे यथार्थ के हर पहलू को समझते हैं। देश-विदेश के समस्त परिवर्तनों को, बदले मूल्यों को, पुरातन और नवीन के संघर्षों को, भौतिकता और आध्यात्मिकता के द्वन्द्वों को कवि ने परखा है। कहा जा सकता है कि आज का यह पहला प्रबन्ध काव्य है जिसने अपने समस्त युग को उसकी समग्रता में पकड़ने की कोशिश की है। लेकिन ऐसा लगता है यथार्थ-दर्शन और आदर्श-कल्पना ये दोनों अध्ययन और जानकारी के परिणाम के रूप में आये हैं, जीवन के संवेदनों के बीच नहीं उभर सके हैं। कवि उन्हें राग के स्तर पर नहीं ला सका है। अतः इस समस्त समग्रता और विराटता में जितना ऊपर का विस्तार दीखता है उतना जीवन का गाम्भीर्य नहीं। सतह पर फैली हुई वास्तविकताओं के जब आँकड़े पेश किए जाते हैं तब काव्य का प्रभाव और भी मरने लगता है। ऐसा लगता है कि ऊपर-ऊपर बिखरी तमाम घटनाओं और स्थितियों को सुन्दर पद्य का रूप दे दिया गया है। स्वाधीनता-संग्राम जैसे देश-व्यापी और प्रभावशाली संघर्ष के चित्रण में एक भी बिम्ब ऐसा नहीं उभरता जो मन को गहरे छुए। कथानक-रचना की शिथिलता, अनुपातहीनता और रिपोर्टिंग की प्रवृत्ति से इस प्रबन्ध काव्य का प्रभाव बहुत आहत हुआ है।

कथानक-रचना इस कारण और भी शिथिल हो उठी है कि कवि ने अपनी अभीप्सित बात बार-बार फेंट-फेंटकर कही है और अनेक अनावश्यक-प्रसंगों और दृश्यों को सिया गया है। लोकायतन के प्रारम्भिक अंशों में जो गठन लक्षित होती है वह बाद में दुर्लभ हो गयी है। इसी प्रकार इसमें आए हुए पात्र भी अपने समस्त संवेदनों के साथ जीवन्त रूप में नहीं उभरते। उनके कार्यों की मानो सूची पेश की गयी है। ये पात्र विचारों के निस्पन्द प्रतीक मालूम पड़ते हैं। लोकायतन की भाषा छायावाद काल की भाषा है जिसमें आज के जीवन की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। यह भाषा सारे भावों के बीच आलंकारिक साज-सज्जा, अभिजात शब्द-संयोजन के साथ एकरस बहती रहती है। यथार्थ की इतनी विशाल पट-भूमि लेकर भी, आज के मूल मानव-प्रश्नों के बीच समाधान पाने की तड़प लेकर घूमती हुई भी यह प्रबन्ध वृत्ति काव्य के स्तर पर प्रभावहीन सिद्ध हुई है। हाँ, प्रकृति चित्रणों में पन्तजी आज भी बहुत ताजे और आकर्षक हैं। लोकायतन में जहाँ कहीं प्रकृति-चित्र आए हैं कविता बिम्बात्मक और मानवीय रस-सिक्त हो उठी है।

'कनुप्रिया' राधा के प्रेम-संवेदन के माध्यम से जीवन को समझने का एक सफल प्रयत्न है। कहा जा चुका है कि वर्तमान जीवन-दृष्टि अनासक्त समय के विस्तार को महत्व नहीं देती, तन्मयता के साथ भोगे हुए क्षणों को महत्व देती है। कवि ने भूमिका में अपनी बात साफ करते हुए लिखा है:—'लेकिन ऐसे भी क्षण होते हैं जब हमें

लगता है कि यह सब जो बाहर का उद्वेग हैं—महत्व उसका नहीं है—महत्व उसका है जो हमारे अन्दर साक्षात्कृत होता है—चरम तन्मयता का क्षण जो एक स्तर पर सारे बाह्य इतिहास की प्रक्रिया से ज्यादा मूल्यवान सिद्ध हुआ है जो क्षण हमें सीपी की तरह खोल गया है—इस तरह कि समस्त बाह्य-अतीत, वर्तमान और भविष्य सिमटकर उस क्षण में पुंजीभूत हो गया है और हम नहीं रहे।' कवि के शब्दों में 'कनुप्रिया की सारी प्रतिक्रियाएँ उसी तन्मयता की विभिन्न स्थितियाँ हैं।"

'कनुप्रिया' पूर्वमान्य स्वरूप में नहीं एक नये अर्थ में प्रबन्ध-काव्य है। इसमें कृष्ण के साथ बीते राधा के तन्मय क्षणों की विभिन्न स्थितियों को रूप देना ही कवि को अभिप्रेत है, कोई कथा कहना नहीं। जो कुछ स्थूल प्रसंग और कथांश आते भी हैं तो वे राधा के प्रेम-संवेदन की आँच में गलकर विलीन हो जाते हैं। वे कथा या प्रसंग न रहकर संवेदना बन जाते हैं। राधा ने कृष्ण के साहचर्य को उसके अनेक क्षणों में पूरी तन्मयता के साथ जिया था और जीकर एक सत्य पाया था। इसलिए वह सत्य उसका अपना है, कहीं से उधार लिया हुआ नहीं। इस सत्य के प्रति राधा को आशंका नहीं होती। यहाँ तक कि जब कृष्ण सेनानायक, महाराज और दुनिया की नज़रों में महान् बन गये हैं तो भी राधा अपने सत्य को झुठलाती नहीं। उसे जिये हुए सत्य के अतिरिक्त ऐसा कोई सत्य नहीं दीखता जो उसके अपने लिए सार्थक हो। और पूरे विश्वास से साक्षात्कृत सत्य से इतर सत्यों को अस्वीकारती हुई कहती है:—

पर इस सार्थकता को तुम मुझे
कैसे समझाओगे कनु!
शब्द शब्द शब्द.......
मेरे लिए सब अर्थहीन हैं
यदि वे मेरे पास बैठकर
मेरे रूखे कुन्तलों में उँगलियाँ उलझाये हुए
तुम्हारे काँपते अधरों से नहीं निकलते
....

शब्द शब्द शब्द
तुम्हारे शब्द अगणित हैं कनु संख्यातीत
पर उनका अर्थ मात्र एक है
मैं
मैं
केवल मैं
फिर उन शब्दों से
मुझी को
इतिहास कैसे समझाओगे कनु!

'कनुप्रिया' ही एक ऐसा प्रबंध-काव्य है जो आधुनिक शिल्प और भाव-बोध दोनों को आत्मसात कर सका है। 'कनुप्रिया' की भी मूल संवेदना प्रेम है किन्तु इस संवेदना को

उसकी गहराइयों में उभारते हुए भी कवि मूल्यों से उसे असंपृक्त नहीं कर सका है। कृष्ण का युद्ध सत्य है या राधा के साथ उनका तन्मयता में बीता प्रेम-क्षण। शायद प्रेम के क्षण ही सत्य हैं, क्योंकि वे द्विधाहीन मन की संकल्पात्मक अनुभूति हैं और युद्ध द्विधा की उपज, अनजिए सत्य का आभास। राधा को छोड़कर अकेले कृष्ण का निर्णय जूए के पासे की तरह फेंका हुआ निर्णय होता है:—

और जूए के पासे की तरह तुम निर्णय फेंक देते हो
जो मेरे पैताने है वह स्वधर्म
जो मेरे सिरहाने है वह अधर्म
....

यदि कहीं उस दिन मेरे पैताने
दुर्योधन होता तो
इस विराट समुद्र के किनारे ओर अर्जुन मैं भी
अबोध बालक हूँ।

'कनुप्रिया' की मूल संवेदना रोमानी है और कहा जाता है कि भारती की भी मूल संवेदना रोमानी ही है। अत: जहाँ अनुकूल प्रसंग मिल जाते हैं कवि की तन्मयता दर्शनीय होती है। भारती की रोमानियत इस बात में नहीं है कि वे सरल भावुकता से जीवन को देखते हैं यानी पहले जीवन को सरल रेखा-सा मानकर फिर ठोकर खाकर रोते हैं बल्कि रोमानियत इस में है कि वे बहुत से नये कवियों की कोरी बौद्धिकता न ओढ़कर हृदय के रस में, संवेदना की आँच में, स्वानुभव के ताप में कथ्य को गलाकर कहते हैं। इसलिए उनकी कविताओं में अपूर्व संवेद्यता और तरलता होती है। जीवन की नई अनुभूतियाँ आधुनिक प्रश्नाकुलताएँ, नवीन चेतना-बोध, नये बिम्ब संयोजन और नई अर्थमत्ता से पूर्ण सरल भाषा ये सब भारती को उनकी रोमानी तरलता के बावजूद नई कविता के क्षेत्र में ही प्रतिष्ठित करते हैं। 'कनुप्रिया' में राधा का जो प्रेम-संवेदन है, स्थूल रूप से बहुत पुराना है। रीतिकाल और भक्तिकाल के कवियों ने खूब गाया है। मगर 'कनुप्रिया' में एक तो इस प्रेम-संवेदन को नये जीवन-सन्दर्भ में नवीन दार्शनिक अन्विति दी गई है, दूसरे नये बिम्बों, इन्द्रियबोधों और प्रतीकों के ज़रिए राधा के प्रेमानुभवों के सूक्ष्म स्तरों को उद्‌घाटित किया गया है। कहीं-कहीं पुराने प्रसंगों और उपमानों को नये ढंग से आयोजित कर नई छवि प्रदान की गई है किन्तु कहीं-कहीं किसी रीति-कालीन कवि की उक्ति को ज्यों-का-त्यों रख दिया है।

'तो भरे हुए घड़े में
अपनी आंखों की चंचल छाया देखकर
उन्हें कुलेल करती चटुल मछलियाँ समझकर
बार बार सारा पानी ढलका देती है'

इन पंक्तियों को 'नित नीर-भरी गगरी ढरकावे' से मिला लीजिए।

'कनु प्रिया' अपनी संवेदनात्मक गहराई और शिल्प की ताज़गी के कारण एक विशिष्ट उपलब्धि है। शिल्प की नवीनता में इस बात का भी विचार होना चाहिए कि

इसमें पात्र के रूप में केवल राधा है जो स्वयं अनुपस्थित कृष्ण को संबोधित कर भाव-कथा कहती है और कहीं एकरसता नहीं आती।

श्री ठाकुरप्रसाद का 'महामानव' गांधीजी के जीवन पर आधारित प्रबंध काव्य है जिसमें गांधी-जीवन के माध्यम से भारतीय जन जीवन के जागरण की गाथा गाई गई है। यह काव्य प्रबंधत्व की दृष्टि से भले ही उपलब्धि न प्राप्त कर सका हो किन्तु स्थान-स्थान पर भारतीय जन-मानस की विभिन्न स्थितियों का तथा संघर्षों का जो चित्रण हुआ है वह बड़ा ही प्रभावशाली बन पड़ा है।

श्री नरेन्द्र शर्मा की 'द्रौपदी' वैसे तो द्रौपदी को केन्द्रित कर, उसे जीवनी शक्ति का प्रतीक मानकर लिखी गई है किन्तु लगता है कि इस संक्षिप्त कलेवर में पूरे महा-भारत की मूल कथा को भर देने का मोह कवि में जाग गया है। कवि किसी विशिष्ट कथा-प्रसंग और संवेदना पर जोर न देकर आँधी के पत्ते के समान समय और स्थान के विस्तार में उड़ता फिरा है अत: किसी प्रकार की प्रभावान्विति काव्य को प्राप्त नहीं हो सकी है। द्रौपदी का प्रतीकात्मक या भावात्मक पहलू इस भाग-दौड़ में उग नहीं पाया है और भाषा तो आज की भाषा लगती ही नहीं। स्वयं कवि के पहले के गीतों में जो जीवंतता और ताज़गी लक्षित होती है, वह यहाँ कृत्रिमता और बासीपन में बदल गई है।

'उत्तर जय' नरेन्द्र शर्मा का दूसरा प्रबंध काव्य है जिसे कवि ने गाथा काव्य कहा है। इसमें महाभारत के अन्तिम समय को (जब दुर्योधन के आहत होते ही महा-भारत का युद्ध समाप्त हो जाता है) लिया है। भूमिका में प्रस्तुत गाथा काव्य को आधुनिक खण्ड काव्य की नई विधा के अन्तर्गत माना गया है (जिसके लिए पता नहीं क्यों पाठक पाठिकाओं से क्षमा याचना की गई है जैसे नई विधा में लिखना कोई अपराध हो)। नई विधा में यह काव्य इसलिए माना गया है क्योंकि इसमें युधिष्ठिर और अश्वत्थामा को खण्डित और पीड़ाभोगी बताया गया है और पीड़ाभोग की नियति है पीड़ा से बच भागने का प्रयत्न। पीड़ा तो जीवन की नियति है उसे भोगना ही उससे मुक्ति है उससे भागना ही यातना। अश्वत्थामा सर्वाधिक सामर्थ्यवान अति रथी होकर भी पीड़ाभीरु थे। पीड़ा से बच-बचकर निकलने के कारण ही परपीड़क बने और चिरंजीव होकर शापताप भोगने के लिए शापित हुए। इसी प्रकार युधिष्ठिर जो आकाशपुरुष थे, 'प्रथा या पृथ्वी माता के आंचल में पलकर ही अपने पाँवों पर खड़े हुए थे। पर उन्हें धरती के आँचल के मटमैलेपन से आच्छादित रहना न आता था।' युधिष्ठिर अपने स्वभाव (आकाश पुरुषता) और नियति (पृथ्वी के प्रति-बद्धता) के द्वन्द्व में वँटे हुए थे। यही द्वन्द्व उनकी पीड़ा का कारण था। 'आज के आकाश पुरुषों में भी यह संघर्ष सहज ही लक्षित होता है। यों तो इस काव्य में आये हुए सभी पात्र प्रतीकात्मक अर्थ रखते हैं किन्तु इसे आधुनिकता की सार्थकता देने वाले मुख्य दो ही पात्र हैं युधिष्ठिर और अश्वत्थामा। ये ही दो काव्य के केन्द्र भी हैं। शेष तो इनसे सम्बद्ध होकर इनकी सार्थकता को उभारने के लिए आये हैं।

वैसे तो 'द्रौपदी' काव्य भी प्रतीकात्मक अर्थ रखता है किन्तु वह अर्थ-केन्द्रित न

होकर त्वरा से भागती कथा-व्याप्ति में बिखर गया है। 'उत्तर जय' में केन्द्रीभूत अर्थ का इतना बिखराव नहीं है। विखराव है किन्तु इसमें वह अपनी सत्ता बनाये हुए है। काव्य के प्रभाव की दृष्टि से यह विखराव भले ही बाधक साबित हुआ हो, कवि के कथ्य को निगल नहीं सका है। इसलिए पुस्तक समाप्त करने पर लगता है कि एक आधुनिक बोध (जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है) इन सारे पात्रों और प्रसंगों को बाँधता हुआ ऊपर उठा है किन्तु यह सही है कि इतने छोटे काव्य में अन्य पात्रों की अवतारणा प्रासांगिक रूप से की गई होती यानी सभी रंगमंच पर न आये होते तो काव्य को अधिक गठन और प्रभाव प्राप्त हुआ होता। शायद नाटकीय शैली में इसे प्रस्तुत करने का ही यह परिणाम है कि सभी पात्रों को रंगमंच पर आना पड़ा है। यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि प्रतीकात्मक अर्थ के उद्घाटन में समर्थ होकर भी कवि काव्य नहीं दे सका है। कथा ही इतनी हावी रही है कि काव्य को उभरने का अवकाश ही नहीं मिला है। पात्र प्रतीकात्मक हैं किन्तु यह छोटी-सी प्रबंध-कृति अनेक पात्रों के बिन्दुओं को एक रेखा में अनुस्यूत करने के प्रयत्न में किसी पात्र की मनोकथा या अन्तर्द्वन्द्व को उतनी गहनता से उभारने का अवकाश नहीं पा सकी है जितनी अपेक्षित थी। इसकी भाषा 'द्रौपदी' की भाषा की अपेक्षा अधिक जीवंत है और यह पूरा काव्य भी 'द्रौपदी' की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली।

डॉ० चन्द्र भूषण तिवारी

प्रगतिवादी समीक्षा : सीमा और संभावना

हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा कला तथा साहित्य-सम्बन्धी उस वस्तुवादी दृष्टिकोण का परिणाम है, जो कलाकृति को एक सामाजिक पदार्थ मानते हुए उसके विभिन्न सौंदर्य-पक्षों का विश्लेषण करती है—उसके आविर्भाव-मूलक कारणों से लेकर उसकी मूल्य-विषयक क्षमता तक। मनुष्य का सामाजिक अस्तित्व ही, उसके अनुसार, उसकी संपूर्ण निर्माण-प्रक्रिया को—उसके सौंदर्य-मूलक व्यापारों को भी निर्धारित करता है। उसका सौंदर्य-मूलक व्यापार इसी अर्थ में सार्थक और विशिष्ट है, चूंकि 'सामाजिक जीवन और सामाजिक विकास से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है' (आस्था और सौंदर्य, डॉ० राम विलास शर्मा) प्रारंभ में, प्रगतिवादी साहित्य-चिंतन में इस आदर्श का सौंदर्य-शास्त्रीय (Aesthetic) अध्याहार नहीं हो सका है; इसके विपरीत, एक समाजशास्त्रीय तथ्य के रूप में ही इसे लिया गया है (बल्कि समाजशास्त्र को ही कला-विवेचन का आधार मान लिया गया है)। व्यावहारिक विवेचन में परिस्थिति और प्रभाव का आकलन अथवा कार्य-कारण सम्बन्ध का (अंतःसम्बन्धों का नहीं) स्थूल निदर्शन ही जिसकी सीमा रही है। यह बहुत कुछ पश्चिमी देशों में भी सदृश समीक्षा-पद्धतियों के सौंदर्य-शास्त्रीय रूप के स्पष्ट न होने के कारण है।

आजादी के पूर्व, हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा कई स्तरों पर विभक्त हो गयी थी—एक ओर तो संस्कार रूप में यह स्वच्छंदतावादी प्रभावों से ग्रस्त दिखायी पड़ती है; दूसरी ओर, सही सौंदर्य-दर्शन के अभाव में प्लेखानोव तथा कॉडवेल के स्थूल सरलीकृत निष्कर्षों तथा मान्यताओं से प्रभावित है। इसका प्रारंभिक रूप, इसलिये, जैसा कि श्री चौहान का निष्कर्ष है, कुत्सित समाजशास्त्रीय सीमा में आबद्ध होकर रह गया है। 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' मूलतः प्लेखानोव की देन है—प्लेखानोव की यह विशेषता है कि उसने सामाजिक सम्बन्धों के साथ विभिन्न कला-रूपों का सबसे पहले सामंजस्य दर्शाया है, लेकिन इस प्रक्रिया में वह बहुत दूर तक टेन और ब्रैंड्स से प्रभावित है और उसकी पद्धति द्वन्द्वात्मक विश्लेषण की न होकर यांत्रिक हो गयी है, माइखेल लीफशिज ने जिसे कुत्सित समाजशास्त्रीय पद्धति कहा है। कॉडवेल की समीक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में भी सदृश मत व्यक्त किये गये हैं। कला-समीक्षा को कलाकृति की आंतरिक आवश्यकताओं से—उसके सृजन तथा आस्वादन की भूमि से अलग करते हुए उसने उसके बाह्यार्थवादी पक्ष पर अतरिक्त बल दिया है, जिसकी प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए स्टेनले एडगर हाइमैन ने कहा है—"Using Marx or political criteria as

clubs with which to beat literature, rather than as tools with which to understand it."[1]

इसके बावजूद, जैसा कि उसका निष्कर्ष है, काव्य के प्रति तथा उसके सौंदर्य-मूल्यों के प्रति कॉडवेल में अपनी समीक्षा-पद्धति से अधिक अनुराग है और यही उसकी एक खास सीमा तक रक्षा करता है। मार्क्सवादी दर्शन से सम्वद्ध समीक्षा-पद्धतियाँ प्लेखेनोव तथा कॉडवेल से बहुत दूर तक प्रभावित रही है। हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा भी अपने आविर्भाव-काल में इस प्रभाव से वंचित रहने का दावा नहीं कर सकती, इसकी एकांगिता का बहुत कुछ कारण यह भी है। आजादी के कुछ ही पहले, अपनी समीक्षात्मक कृति 'प्रगतिवाद' में इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए श्री चौहान ने कहा था—"प्रगतिवादी समीक्षा के सामने केवल यही प्रश्न नहीं रहता कि अमुक् रचना किस युग की उपज है, सामंती या पूंजीवादी—वल्कि उसके सामने यह प्रश्न भी रहता है कि अमुक् रचना की सौंदर्य-शक्ति का क्या कारण है, अर्थात् वह रचना आज भी सौंदर्य-बोध कराने में क्यों सफल है ?"

यह प्रश्न सबके लिये समान रूप से विचारणीय था—उस पूरे प्रगतिशील आन्दोलन के लिये जिसने अपने समय की संपूर्ण सांस्कृतिक चेतना को प्रभावित किया था, अपनी सीमाओं के बावजूद जिसने कला तथा साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों को—विशेषतया, समसामयिक साहित्य-चिंतन को नये मूल्यों से युक्त किया था और इस प्रयत्न में जैसा कि उस समय के 'हंस', 'जागरण' आदि पत्र-पत्रिकाओं को देखने से ज्ञात होता है, सिर्फ मार्क्सवादी समीक्षकों का ही नहीं कला तथा साहित्य के सम्बन्ध में उनसे भिन्न दृष्टि रखने वाले उन अमार्क्सीय समीक्षकों का भी योग था, जिन्होंने अपने समय के भावात्मक निष्कर्षों से हिन्दी-समीक्षा को मुक्त करते हुए सामाजिक जीवन के प्रति रचयिता की संवेदना तथा आस्था पर वल दिया था। इस युग के कतिपय प्रतिनिधि स्वच्छंदतावादी समीक्षक अपने विवेचन में 'रचना के मानसिक तथा कलात्मक उत्कर्ष' को प्रमुखता देते हुए भी उसके सामाजिक संदर्भ तथा उसे अनुप्राणित करने वाले नूतन समाज-दर्शन के प्रति पूरी सजगता के साथ उन्मुख हुए थे। १९४० में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के पूना अधिवेशन में साहित्य परिषद् के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए आचार्य वाजपेयी ने स्पष्ट शब्दों में कहा था—"आज की हिन्दी में श्रेष्ठ-साहित्य के सृजन के कौन से क्षेत्र हैं ? निश्चय ही समाजवादी विचारों के क्षेत्र।" लेकिन प्रगतिवादी समीक्षा के अंतर्गत साहित्यिक अध्याहार की आवश्यकता अभी बनी हुई थी, जिसकी ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा—"साहित्य और कला के वास्तविक मानों का आलेख वर्तमान समीक्षा में बहुत कम है।" (अध्यक्षीय भाषण, प्रगतिशील लेखक संघ, काशी का द्वितीय अधिवेशन) आजादी के शीघ्र वाद, प्रगतिवादी समीक्षकों का ध्यान इन पक्षों की ओर बड़ी-ही तीव्रता के साथ आकृष्ट हुआ। सितम्बर, सन् १९४७ में 'हंस' के तत्कालीन संपादक श्री अमृत राय के प्रयत्नों द्वारा प्रगतिवादी साहित्य तथा समीक्षा-सम्बन्धी कतिपय महत्वपूर्ण प्रश्नों को लेकर व्यापक विचार-विनिमय की योजना सामने

1. पृ० १७६, The Armed Vision.

आयी। प्रगतिशील साहित्य, साहित्य और समाज का अन्तर्सम्बन्ध, साहित्य में उसके कलात्मक नियोजन की प्रक्रिया, रूप और विषय-वस्तु का सही सामंजस्य, प्रगतिवादी समीक्षा में रूप-पक्ष का महत्व, प्रगतिशील साहित्य का जातीय जीवन से सम्बन्ध, संस्कृति और परंपरा आदि विषय नये सिरे से विचारणीय समझे गये और उनके माध्यम से प्रगतिशील साहित्य तथा समीक्षा का साहित्यिक रूप किसी हद तक संकेतित भी हुआ।—डॉ० रामबिलास शर्मा ने इन प्रश्नों पर विचार करते हुए कहा, "प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है, जब साहित्य भी है। यदि वह मर्मस्पर्शी नहीं है—तो सिर्फ नारा लगाने से या प्रचार की बात कहने से वह श्रेष्ठ साहित्य क्या साधारण साहित्य भी नहीं हो सकता।" एक लंबी बहस के दौरान जो काफी अरसे तक चलती रही, बीच के कुछ वर्षों में जो तत्कालीन राजनीतिक कारणों से यत्किंचत् विच्छिन्न भी पड़ गयी थी—परवर्ती साहित्य-चिंतन की भूमिका निर्मित करने के लिये हर संभव प्रयत्न किये गये—वैचारिक स्तर की असंगतियों से लेकर समीक्षा-पद्धति की सीमाओं के निर्मम प्रकाशन तक—इस युग की अधिकांश चर्चायें इसीलिए प्रगतिवादी समीक्षा का अंग नहीं बन सकतीं (अमृतराय की 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' एक ऐसी ही कृति है), लेकिन प्रगतिवादी समीक्षा के विकास में उनका अनिवार्य योग है।

उत्तर शती के प्रथम दशक में, प्रगतिवादी समीक्षा की मुख्य धारा सैद्धांतिक विवेचन की रही है।—कला तथा साहित्य के विभिन्न पक्षों से सम्बद्ध अनेक तथ्य इस बीच प्रकाशित हुए हैं, जिनके माध्यम से प्रगतिवादी समीक्षा का तात्विक आधार अधिक स्पष्ट होकर सामने आया है। यद्यपि इस प्रयत्न में हिन्दी के प्रगतिवादी समीक्षक मार्क्सवादी चिंतन की मूलभूत उद्भावनाओं पर ही विशेष रूप से केन्द्रित रहे हैं, लेकिन उनके बीच से प्रकाशित उनकी स्वतंत्र मान्यतायें भी—जो कला तथा साहित्य के सौंदर्यमूलक पक्षों से विशेष सम्बद्ध है, कम महत्वपूर्ण नहीं है। किसी भी कलाकृति में रचयिता के सामाजिक संदर्भों के अतिरिक्त उसके व्यक्तित्व का तथा उसकी सौंदर्य-विषयक क्षमता का कहाँ तक योग है, अथवा उसकी रचना में सामाजिक संदर्भों की सौंदर्य मूलक परिणति किस प्रकार संभव है, आदि तथ्यों का विस्तृत विवेचन परवर्ती उत्थान में ही लक्षित होता है।—रचयिता की सृजन-चेष्टा में सामाजिक जीवन के साथ उसकी सौंदर्यमूलक प्रवृत्ति भी अपेक्षित है—बल्कि इनका सही सामंजस्य ही उसकी प्रगतिशीलता का निकष है, इस तथ्य की ओर आजादी के शीघ्र बाद ही श्री चौहान ने संकेत किया है (साहित्य की परख, १९४८)—इस क्रम में समीक्षा के वैज्ञानिक आधार के रूप में उन्होंने सौंदर्य मूलक सामाजिक (Socio-Aesthetic) दृष्टिकोण की भी परिकल्पना की है। रचयिता की सौंदर्यमूलक प्रवृत्ति, सामाजिक जीवन के संयोग द्वारा उससे उद्भावित कलाकृति का सौंदर्य तथा उसकी सार्थकता का विस्तृत विवेचन '५० के बाद की प्रकाशित अन्य कृतियों में—डॉ० रामविलास शर्मा के 'लोक जीवन और साहित्य', प्रकाशचन्द्र गुप्त की 'साहित्य-धारा', श्री चौहान के 'आलोचना के मान' तथा डॉ० नामवर सिंह के 'इतिहास और आलोचना' में अतिशय तात्विकता के साथ हुआ है। इनके माध्यम से प्रगतिवादी समीक्षा का समग्र तथा संश्लिष्ट आधार अभी भले ही

निर्मित न हो सका हो—सैद्धांतिक स्तर पर, एक परिवर्धित दृष्टिकोण अवश्य जुड़ा है और वह परिवर्धित दृष्टिकोण प्रगतिवादी समीक्षकों की वस्तुवादी चेतना का ही परिणाम है।' ६० के बाद प्रकाशित डॉ० रामविलास शर्मा की कृति 'आस्था और सौंदर्य' में इसका असाधारण समाहार व्यक्त हुआ है—कि जिसमें सौंदर्य, दर्शन के कतिपय महत्वपूर्ण विषयों का—कलात्मक सौंदर्य तथा उसकी वस्तुगत सत्ता, काव्य-कला तथा उसके माध्यम का वस्तुवादी दृष्टिकोण से हिन्दी में पहली बार विवेचन हुआ है। रस की वस्तुमत्ता तथा उसकी द्वन्द्वमूलक निष्पत्ति का श्री चौहान द्वारा 'आलोचना के सिद्धान्त' का विश्लेषण भी इस क्रम में विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि '५० के बाद अथवा स्वातंत्र्योत्तर प्रगतिवादी समीक्षा कला-विवेचन सम्बन्धी अपनी मूलभूत मान्यता से—कलाकृति का वास्तविक आधार तथा सामाजिक जीवन के विकास में उसके अनिवार्य योग-सम्बन्धी मूल्य-धारणा से यत्किंचित अलग हो गई है। अथवा अपने सैद्धान्तिक निष्कर्षों में उसने रचना के सामाजिक सन्दर्भ से अधिक उसके सौन्दर्य-पक्ष पर बल दिया है। बड़ी ही सतर्कता के साथ प्रगतिवादी समीक्षक इस बीच, इस तथ्य पर सर्वत्र केन्द्रित रहे हैं कि कलाकार जिस सौन्दर्य का निर्माण करता है, वह समाज-निरपेक्ष किसी व्यक्ति की कल्पना की उपज नहीं है, वरन् सामाजिक जीवन और सामाजिक विकास से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। "लेकिन इस सौन्दर्य के विवेचन के लिये वे समाज के भौतिक आधार अथवा आर्थिक सन्दर्भों तक ही केन्द्रित नहीं रहते, इसके साथ रचयिता की सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति अथवा सौन्दर्यमूलक संवेदना के विकास को भी दृष्टिगत रखना वे आवश्यक समझते हैं और यह आवश्यकता अतात्विक अथवा अमावर्सीय हो, ऐसी भी बात नहीं है।"—मार्क्स ने स्वयं संवेदना के स्तर की इस भिन्नता का उल्लेख करते हुए ऐसे व्यक्ति की परिकल्पना की है, जो किसी धातु का बाजार-भाव देता है, उसके सौन्दर्य अथवा उसकी विशिष्ट प्रकृति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह ठीक है और इस तथ्य पर सर्वत्र बल देने की आवश्यकता है कि संवेदना के स्तर की इस भिन्नता का विकास भी सामाजिक कारणों से ही होता है अथवा जैसा कि डॉ० शर्मा ने श्री चौहान की सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति-विषयक स्थापना का विरोध करते हुए कहा है, "सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति भी सामाजिक विकास और सामाजिक सम्बन्धों के परे नहीं है।" लेकिन उसके साथ यह भी स्वीकारना आवश्यक है कि कालान्तर में यह उसी प्रकार रचनाकार की आत्मगत क्षमता का अंग बन जाती है, जिस प्रकार श्रम-मूलक अनुभव विकसित होकर उत्पादन-शक्ति के अंग बन जाते हैं और इस विकास में रचनाकार की सौन्दर्यमूलक क्रियायें भी निरन्तर योग देती हैं। सौन्दर्यमूलक संवेदना या सामाजिक जीवन के अनुभवों से विकसित कोई भी संवेदना सामाजिक होकर सामान्य नहीं रह जाती, इसके बदले वह विशिष्ट बन जाती है—इसीलिये उसकी स्वायत्त स्थिति पर भी, जिसे मार्क्स ने a subject capacity in itself मानते हुए 'अंशतः विकसित' तथा 'अंशतः निर्मित' कहा है, बल देने की आवश्यकता है। तभी कलाकृति के सौन्दर्य-विवेचन में हम उस अतिसरलीकरण की प्रवृत्ति से बच सकेंगे, जो प्रगतिवादी समीक्षा

के प्रारम्भिक दौर में लक्षित होती है—तथा स्वातंत्र्योत्तर प्रगतिवादी समीक्षा में जिसका अतिशय सतर्कता से निषेध किया गया है। स्वयं डॉ० रामविलास शर्मा के 'आस्था और सौन्दर्य' के निबन्धों में यह विशेषता व्यक्त हुई है, जहाँ उन्होंने एक ही वातावरण में रहने वाले लोगों की सौन्दर्य-सम्बन्धी रुचि की व्याख्या करने के लिये समाजशास्त्रीय आधार को ही पर्याप्त नहीं माना है, बल्कि उसके लिये अन्य शास्त्रों की सहायता भी अपेक्षित मानी है। '५० के बाद की प्रगतिवादी समीक्षा की यह विशेषता है कि उसमें कलाकृति के सौन्दर्य की व्याख्या में रचनाकार के सामाजिक व्यक्तित्व को अपेक्षित महत्त्व दिया गया है। कलाकृति के आविर्भाव-मूलक कारणों की खोज करते हुए, वह सीधे सामाजिक जीवन की भौतिक शक्तियों तथा आर्थिक सम्बन्धों की ओर नहीं मुड़ जाती, बल्कि समाज और साहित्य के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में 'लेखक के व्यक्तित्व' को भी मान्यता देती है। बड़ी ही स्पष्टता के साथ उसने यह स्वीकार किया है कि "साहित्य के निर्माण में इस बीच की कड़ी—'लेखक के व्यक्तित्व' का बहुत महत्त्व है और इस महत्त्व की महत्ता इस बात में है कि एक ओर इसका सम्बन्ध समाज से है, तो दूसरी ओर साहित्य से।" (इतिहास और आलोचना—डॉ० नामवर सिंह। इसका अर्थ यह नहीं है कि रचना की सारी शक्ति लेखक के ही पास है अथवा वह उसके आत्मिक स्रोत से ही विकसित है। इस प्रकार की धारणा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा की ही हो सकती है, स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-दृष्टि इसी बिन्दु पर मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन से भिन्न पड़ जाती है जिसे स्पष्ट करते हुए एम० एच० अब्राम्स ने कहा है—"Severed from the external world, the objects signified by a poem tend to be regarded as no more than a projected equivalent—an extended and articulated symbol for poet's inner state of mind"[1] रचनाकार किसी भी बाह्य प्रभाव से बाधित नहीं है, उसके आन्तरिक स्रोत ही कलाकृति में अपेक्षित सौन्दर्य का विधान करते हैं। कला तथा साहित्य के सम्बन्ध में यह एक आदर्शवादी धारणा है। हिन्दी में प्रगतिवादी समीक्षा के आविर्भाव के पूर्व, इसकी ध्वनि अक्सर सुनाई पड़ती है, खास तौर से छायावादी कवियों के इन भावात्मक उद्‌गारों में—"कविता हमारे प्राणों का संगीत है, और छन्द हृत्कम्पन" अथवा "हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है।" मार्क्सवादी समीक्षा-दृष्टि इससे सर्वथा भिन्न भूमि पर आधारित है। वह मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना का स्रोत 'मानवीय व्यापारों की समग्रता' में अथवा 'वस्तु-जगत् के प्रति मानवीय प्रतिक्रिया' में मानती है।[2] 'वस्तु-जगत् की मानवीय प्रतिक्रिया' मूलतः भिन्न न होने के बावजूद रचयिता की सौन्दर्यमूलक चेतना से युक्त होने के कारण विशिष्ट हो जाती है। यह विशिष्टता मूलतः भिन्न हो अथवा नहीं परिमाण-मूलक आधार पर उसमें एक भिन्नता अवश्य आ जाती है। आधुनिक मार्क्सवादी विचारक अर्न्स्टफिशर ने इसका उल्लेख करते हुए कहा है—"An artist's subjectivity does not

1. पृ० २४, The mirror and the lamp.
2. Introduction to a Monograph on Aesthetics—Georg Lukacs.

consist in his experience being fundamentally different from that of his time or class but in its being stronger, more conscious and more concentrated."[1] उसमें एक खास प्रकार की प्रभाव-क्षमता, चेतना, तथा विशिष्ट केन्द्र की स्थिति आ जाती है कलाकृति के निर्माण में सामाजिक प्रभावों की चर्चा से आगे बढ़कर माध्यम के रूप में रचयिता के व्यक्तित्व तथा उसकी सौन्दर्य-प्रक्रिया को जो कालान्तर में उसका निजी वैशिष्ट्य बन जाती है, परवर्ती चिन्तन में पुर्नविश्लेषित करना आवश्यक समझा गया है। इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए डॉ० नामवर सिंह ने कहा है—"लेखक के वैयक्तिक वैशिष्ट्य के वस्तुवादी आधार पर जोर देकर हम अधिक रचनात्मक कार्य कर सकते हैं। चूँकि साहित्य के रूप में समाज की जो छाया प्रकट होती है, वह लेखक के माध्यम से ही आती है।" रचनाकार का व्यक्तित्व, इस प्रकार समाज और साहित्य के बीच एक विशिष्ट माध्यम है, जो एक ओर सामाजिक जीवन के अनुभवों से निर्धारित होता है, दूसरी ओर अपनी रचना प्रक्रिया से (बल्कि इस प्रक्रिया में भी जैसा कि कॉडवेल का निष्कर्ष है—वह स्वयं को उपलब्ध करता है। इस सन्दर्भ में उसका यह कथन द्रष्टव्य है—मूक गौरव-रहित मिल्टन स्वयं में एक छलना है, मिल्टन निर्मित होते हैं, जन्म नहीं लेते—"The mute inglorious Milton is a fallacy. Miltons are made, not born !" सामाजिक जीवन के प्रभाव भी रचयिता की ग्रहणशीलता पर निर्भर करते हैं—इस प्रक्रिया में मानवीय चेतना के प्रायः सभी स्तरों का योग रहता है। डॉ० शर्मा ने अपने कई निवन्धों में इसका विस्तृत विवेचन किया है।

मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना के प्रथमतः इन्द्रिय-बोध के स्तर पर सक्रिय होने के वावजूद, उन्होंने उसे वहीं तक परिसीमित नहीं माना है—बल्कि उसके साथ भाव-जगत् तथा विचार-क्षेत्र की सक्रियता भी स्वीकार की है। 'रूप भावना और विचार की एकता' से ही उसके अनुसार कला की सृष्टि सम्भव है—भले ही, विभिन्न कलाओं के माध्यम की विशेषता के कारण उनके अनुपात में भिन्नता हो। इस क्रम में साहित्य-रचना के वैचारिक आधार की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा है—"कवियों के भाव-चित्र विचारों की ज्योति से ही दीप्त हो उठते हैं। इसलिये यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि साहित्यकार का दृष्टिकोण क्या हो···?" और यह प्रश्न इस समय के प्रायः सभी प्रगतिशील विचारकों के सामने रहा है। कला-कृति अथवा साहित्य-रचना के निर्माण में इसके महत्त्व का उल्लेख करते हुए श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने कहा है—"जब तक लेखक अपने विचारों के प्रति दृढ़ और निष्ठावान नहीं हो, जीवन के सम्वेदनशील चित्रण वह नहीं कर सकता।" इसके वावजूद श्री गुप्त ने रूप-रचना के विभिन्न पक्ष—भाषा, लय, संगीत आदि के सौन्दर्यपूर्ण नियोजन पर भी प्रायः सर्वत्र वल दिया है। 'रचनाकार की प्रतिभा का' उनके अनुसार, "यह एक आवश्यक अंग है कि जीवन की वास्तविकता को समझने में उसकी दृष्टि अन्तर्वेधी है। उसकी गहरी सम्वेदन-शीलता उसे यह गुण प्रदान करती है। उसकी प्रतिभा का दूसरा पक्ष यह है कि अपने

1. पृ० ४६, The Neccssity of Art.

जीवन अनुभव के व्यक्त करने की वह असाधारण क्षमता रखता है—।" रचयिता का यह वैशिष्ट्य ही कलाकृति में सौन्दर्य-मूल्यों का सन्निवेश करता है, बल्कि यही उसे स्थायित्व भी देता है। इसलिये किसी भी कलाकृति का मूल्यांकन सामाजिक जीवन के अनुभवों के आधार पर ही नहीं किया जा सकता, बल्कि उसके साथ यह भी देखना आवश्यक है कि उनका नियोजन कहाँ तक उन 'सौन्दर्य-नियमों' के आधार पर हो सकता है, जिन्हें मार्क्स ने मानवीय कलाकृति की विशेषता माना है। तभी सामाजिक मूल्य की भी सार्थकता है—तभी वे सामाजिक जीवन के विकास में भी योग दे सकते हैं। यह ठीक है कि इसमें भी परिवर्तित जीवन-स्थितियों का योग हो, लेकिन इसके साथ रचयिता की सौन्दर्य-मूलक प्रवृत्ति का कहाँ तक सामंजस्य हो सकता है, यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सैद्धान्तिक स्तर पर प्रगतिवादी समीक्षा में जो भी व्यापकता इधर लक्षित हुई है उसका यह एक प्रमुख आधार है कि उसने समाज और साहित्य के बीच रचयिता के व्यक्तित्व को सामाजिक जीवन के बीच ही नहीं, उसकी रचना-प्रक्रिया के बीच भी ग्रहण किया है। रचना के धरातल पर प्रगतिशील जीवन-मूल्यों का साक्षात्कार—यह उसका नूतन परिच्छेद है, जिसका संगठन 'इतिहास और आलोचना', 'आलोचना के मान', 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य', 'साहित्य की समस्यायें', 'आलोचना के सिद्धान्त', 'आस्था और सौन्दर्य' तथा सद्यः प्रकाशित 'एक साहित्यिक की डायरी' जैसी समीक्षात्मक कृतियों के विच्छिन्न स्फुट सूत्रों द्वारा हुआ है। उसकी मूल्यांकन-सम्बन्धी धारणायें भी इसी क्रम में यत्किंचित भिन्न और व्यापक हो गई हैं, कला और समाज के घेरे उसमें अलग-अलग नहीं हैं, न कला-विवेचन के लिये उसे कला के बाहर जाकर समाज के बीच स्थित होने की आवश्यकता है (कॉडवेल की यह मान्यता ही, जो भ्रान्तिपूर्ण ही नहीं, शायद अमार्क्सीय भी है, समाजशास्त्रीय एकांगिता के केन्द्र में रही है) बल्कि दोनों को एक ही व्यापक वृत्त में अन्तर्सम्बन्धों के धरातल पर ग्रहण किया गया है। श्री चौहान की अन्तिम समीक्षात्मक कृतियों में—'आलोचना के मान' तथा 'आलोचना के सिद्धान्त' में इसके यथेष्ट संकेत हैं, रचना में व्यक्त मूल्यों की सीमा उनके सामाजिक होने के अतिसरलीकृत निष्कर्षों तक ही नहीं मानी गई है, बल्कि मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना तथा उसकी रुचि की परिष्कृत-विषयक क्षमता में भी देखी गई है—कला के बाह्य तथा आन्तरिक तत्त्वों में जिनका सन्निवेश अपेक्षित है।

'५० के बाद, व्यावहारिक विवेचन-सम्बन्धी भी कई महत्वपूर्ण कृतियाँ प्रकाश में आई हैं। डॉ० रामविलास शर्मा का 'भारतेन्दु युग', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और निराला-विषयक कृतियाँ; प्रकाशचन्द्र गुप्त की 'हिन्दी साहित्य में जनवादी परम्परा', 'आधुनिक साहित्य : एक दृष्टि' और 'नया साहित्य : एक दृष्टि'; डॉ० नामवर सिंह का 'छायावाद' और 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ'; डॉ० रांगेय राघव का 'तुलसीदास का कथाशिल्प', 'आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार' और 'हिन्दी कविता में विषय और शैली' तथा श्री चौहान की परवर्ती कृतियों में यशपाल, जैनेन्द्र और पन्त-सम्बन्धी विवेचन '५० के बाद ही प्रकाशित हुए हैं। इन कृतियों में प्रारम्भिक एकांगिता तथा समाजशास्त्रीय सजगता का बहुत कुछ परिहार हो चुका है, इनमें विवेचन-

पद्धति भी अधिक समग्र, संश्लिष्ट और साहित्यिक हो गई है। उदाहरण के लिए, हम डॉ० नामवर सिंह की समीक्षात्मक कृतियों को ले सकते हैं। उनके विवेचन में ऐसा नहीं होता कि समाज ही लक्षित हो, साहित्य नहीं! छायावाद की भूमिका में उनका यह कथन विचारणीय है कि सामाजिक सत्य कविता से खोज निकालने की चीज़ है, ऊपर से आरोपित करने का नहीं। लेकिन उनके विवेचन-क्रम में किसी भी ऐसी योजना का विकास नहीं हो सका है जिसके द्वारा खोज की यह प्रक्रिया पूरी हो सके और अन्त में इसी कारण वह 'सामाजिक सत्य' भी सामने नहीं आ सका है जिसकी ओर उन्होंने प्रारम्भ में संकेत किया है। एक बाह्यार्थवादी पद्धति अपनाते हुए खोज की ही प्रक्रिया डॉ० रांगेय राघव ने भी विकसित की है।—ठीक दूसरे छोर से, काफी विस्तार से उन्होंने ऐतिहासिक व्याख्यायें दी हैं, जिससे उनका सम्पूर्ण विवेचन-तथ्य संकुल होकर रह गया है। कभी उनके मित्रों ने उनसे पूछा भी था—'आप आलोचना लिखते हैं या इतिहास', लेकिन सच पूछें तो उनका वह इतिहास भी साहित्य का नहीं है। उनका 'तुलसीदास का कथाशिल्प' वस्तुतः व्यावहारिक समीक्षा की कृति न होकर एक शोध-परक आकलन-ग्रन्थ बनकर रह गया है। प्रकाशचन्द्र गुप्त की समीक्षात्मक कृतियाँ अपेक्षाकृत सन्तुलित हैं, लेकिन वे अधिक गहराई में नहीं प्रवेश कर सकी हैं, उनके माध्यम से कलाकृति अथवा साहित्य-रचना के किसी ऐसे पक्ष का उद्‌घाटन नहीं हो सका है जो अप्रकाशित हो, एक दृष्टिकोण-मूलक भावुकता के साथ उन्होंने सामान्य प्रगति-विधायक तत्वों का स्पर्श किया है। इन समीक्षकों की सबसे बड़ी सीमा यह है कि कला तथा साहित्य-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण के साथ रचना तथा उसके वैशिष्ट्य का सही सामंजस्य वे नहीं कर सके हैं। समीक्षा के क्रम में, कृति, कृतिकार तथा युगीन कला-प्रवृत्ति के बदल जाने पर भी उनकी पद्धति की एकरूपता बनी रहती है। कृति, कृतिकार तथा युगीन कला-प्रवृत्ति के बदल जानेसे समीक्षा में एक सर्वथा भिन्न सम्बन्ध की अवतारणा हो सकती है और यह भिन्नता समग्रतः ग्राह्य होकर ही व्यावहारिक विवेचन की सार्थकता प्रमाणित करती है, इस तथ्य की उन्होंने उपेक्षा की है। इसीलिए एक प्रकार का असामंजस्य उनके विवेचन में प्रारम्भ से ही जुड़ गया है, जिसके परिणाम-स्वरूप रचना अथवा प्रवृत्ति के सही सूत्र—उनकी मूलवर्ती चेतना के साथ अग्राह्य ही रह गये हैं। ऐसी स्थिति में, जबकि विश्लेषण का कार्य अधूरा रह गया हो, उसकी क्षतिपूर्ति की जाती है मात्र मूल्यांकन द्वारा—जिसका आधार सिर्फ समीक्षक का दृष्टिकोण होता है, रचना की सम्पूर्ण सत्ता नहीं, जिसका साक्षात्कार सही विश्लेषण द्वारा ही सम्भव है। प्रगतिवादी समीक्षकों के लिए इस तथ्य को इसलिए दृष्टिगत रखना और आवश्यक हो गया है चूंकि उनके समक्ष विश्लेषण की समाजशास्त्रीय सीमा स्पष्ट हो चुकी है और उसकी यान्त्रिकता से बचने के लिए वे सजग भी हैं। लेकिन उसका सही द्वन्द्वात्मक रूप क्या हो सकता है, इस तथ्य को ग्रहण करने के लिए साहित्य-रचना की स्वायत्त स्थिति को तथा उसके मूल में सन्निहित रचनाकार की चेतना को ग्रहण करना आवश्यक है, दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि रचना-विषयक पूर्व-धारणा के अभाव में व्याव-हारिक विवेचन का सही रूप सामने नहीं आ सकता। रचना-विषयक पूर्व-धारणा के

होते हुए भी डॉ० रामविलास शर्मा के विवेचन में यह अभाव और खटकता है। जिस सफलता के साथ उन्होंने सैद्धान्तिक स्तर पर कृति के विभिन्न पक्षों का उसके इन्द्रिय सम्वेदन से लेकर उसके भाव तथा विचार-पक्षों का विवेचन किया है—प्रभाव की दृष्टि से उनके स्वतन्त्र वैशिष्ट्य का उल्लेख किया है, व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उसका सफल प्रयोग वे नहीं कर सके हैं। प्रारम्भिक कृतियों की तुलना में उनका परवर्ती विवेचन पर्याप्त भिन्न है—रचना के स्तर तक पहुँचने का असाधारण प्रयत्न उनके निराला-विषयक विवेचन में तथा उन स्फुटों निबन्धों में लक्षित होता है जो अन्य समीक्षात्मक कृतियों में संकलित हैं। फिर भी उनके विवेचन में वह वस्तुपरक संश्लेष आने को है, उनके सैद्धान्तिक निष्कर्ष के सन्दर्भ में जिसकी उनसे अपेक्षा है। व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में, इसलिए '५० के बाद की प्रगतिवादी समीक्षा की एकमात्र विशिष्ट देन है—'कामायनी : एक पुनर्विचार।'

मुक्तिबोध ने कामायनी का विवेचन एक सर्वथा नये पेटर्न पर किया है—यह पेटर्न मुक्तिबोध का निजी है। इसमें रचना के बाह्य आधार अथवा मानव-सम्बन्धों के विशिष्ट क्षेत्र की रचयिता के निजी वैशिष्टय अथवा अन्तरंग जीवन के साथ उसकी चेतना के माध्यम से सामंजस्य दर्शाते हुए उसकी रचना-प्रक्रिया की स्वतन्त्र विशेषताओं को बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ ग्रहण किया गया है। मुक्तिबोध के ही शब्दों में कहें तो यह पेटर्न 'त्रिकोणात्मक' है—यह 'रचना-विषयक पूर्व-धारणा' का परिणाम है। यह 'पूर्व-धारणा' कहाँ तक सही और वैज्ञानिक है—यह एक अलग प्रश्न है, मुक्तिबोध ने अपनी कृति के प्रारम्भ में इसका विस्तृत विश्लेषण किया है, लेकिन व्यावहारिक विवेचन की दृष्टि से यह आवश्यक है। मुक्तिबोध के पूर्व, हिन्दी के प्रगतिवादी समीक्षकों के विवेचन इस निजी आधार से वंचित हैं, इसलिए उनका स्वतन्त्र चरित्र प्रकाशित नहीं हो सका है। मुक्तिबोध ने पहली बार रचना-विषयक स्वतन्त्र मान्यताएँ विकसित करते हुए व्यावहारिक विवेचन के लिए अपना निजी आधार संगठित किया है—इसके साथ ही बड़ी सतर्कता के साथ उन्होंने उस यान्त्रिकता से अपने विवेचन की रक्षा की है, जिसका खतरा स्वनिर्मित ढाँचे के स्थूल प्रयोग द्वारा सम्भावित है। व्यावहारिक विवेचन की दृष्टि से इसकी सफलता एक साथ दो तथ्यों पर आधारित है, पहला यह कि स्वनिर्मित ढाँचा कितना वस्तु-परक और समग्र है; दूसरा यह कि उसके प्रयोग में समीक्षक रचनाकार की निर्माण-प्रक्रिया तथा कृति की निजी विशेषताओं की ओर किस सीमा तक अभिमुख है। मुक्तिबोध अपने कामायनी-विषयक विवेचन में रचना-बाह्य पक्षों तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि कामायनी के रूप में उस भाववादी फैंटेसी पर केन्द्रित हैं—जो एक सर्वथा नये तथ्य के रूप में सामने आई है, इस तथ्य के साथ कि उसके नियोजन में रचनाकार के सम्पूर्ण मानसिक धरातल की निगूढ़ शक्तियों का तथा उसके बाह्य परिवेश का उसके इच्छित विश्वासों और इच्छित जीवन—स्थितियों का—जीवन की विस्तृत वास्तविकता के साथ प्रक्षेप हुआ है, उसका आकार निजी है। इस क्रम में प्रसाद के रूप में एक भाववादी साहित्यकार की प्रक्रिया को उन्होंने उसकी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ, जिसके मूल में एक भावात्मक दृष्टि अनिवार्यतः

सक्रिय रही है, पृथक किया है, जिसके कारण यह भाववादी फैन्टेसी एक यथार्थवादी फैन्टेसी से भिन्न पड़ गई है—और यहाँ वे अन्य प्रगतिवादी समीक्षकों से भिन्न पड़ गए हैं। उनकी यह प्रक्रिया सामान्य न होकर विशिष्ट है, यह केवल प्रसाद तथा उनकी कामायनी के विवेचन के लिए हो सकती है, इसके द्वारा तुलसीदास की फैन्टेसी का (अगर हम उसे फैन्टेसी कहें !) विश्लेषण नहीं किया जा सकता, जबकि अन्य प्रगतिवादी समीक्षकों ने—विशेषतया, डॉ० रामविलास शर्मा तथा प्रकाशचन्द्र गुप्त ने एक ही विधि से मध्य युग से आधुनिक काल तक के कवियों और प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर दिया है (ठेठ ढंग से कहें, तो एक ही लाठी से हाँक दिया हैं।) उनके व्यावहारिक विवेचन की सबसे बड़ी सीमा यह है कि वह कहीं से 'विशिष्ट' नहीं है—न रचनाकार की प्रक्रिया से उसका सही संयोग हुआ है न उसके जीवन तथा जगत्-सम्बन्धी दृष्टिकोण को ही लेकर उसे सामान्य बनने से बचाया गया है। दृष्टिकोण की यह भिन्नता किसी कृति को कितना भिन्न कर देती है अथवा किस तरह वह रचनाकार की सम्पूर्ण योजना का अंग बन जाती है इसे केन्द्रीय मानते हुए डॉ० नामवरसिंह ने हिन्द-कहानी की आधुनिक संवेदना को पृथक किया है। इस क्रम में हम मार्कण्डेय की कहानी-विषयक चर्चा को भी देख सकते हैं। रचयिता के अनुभव तथा उसकी आन्तरिकता को बदलते सामाजिक सन्दर्भों से जोड़ते हुए मार्कण्डेय ने नई कहानी की उपलब्धियों पर नये सिरे से विचार किया है। व्याख्या की एक नई प्रक्रिया, जो रचना-विधि से ही सम्बद्ध है, डॉ० कुन्तल मेघ के बाणभट्ट की आत्मकथा के गठनात्मक विश्लेषण में लक्षित हुई है—वस्तुपरक विवेचन की दृष्टि से इसे हम हिन्दी-समीक्षा में एक सार्थक प्रयोग कह सकते हैं, जिसके माध्यम से लेखक की सम्पूर्ण रचना-दिशा प्रकाशित हो सकी है।

प्रगतिशील चेतना, इस प्रकार, हिन्दी नव-लेखन में नये स्तर पर व्यक्त हुई है—सिर्फ समीक्षा के क्षेत्र में ही नहीं, साहित्य-रचना के अन्तर्गत भी, विशेषतया, समकालीन हिन्दी-कहानी में। समीक्षा के क्षेत्र में यद्यपि आज भी एक अनिर्दिष्टता बनी हुई है, लेकिन यह अनिर्दिष्टता पिछली सीमाओं से भिन्न है—बल्कि उनसे मुक्त होने के प्रयत्न में ही इसका भी महत्व आँका जा सकता है। सैद्धान्तिक स्तर पर सर्वत्र एक बहस जारी है। मार्क्स की मान्यताओं को लेकर पश्चिमी साहित्य-चिन्तन में इधर काफी विचारोत्तेजक निष्कर्ष प्रस्तुत किये गए हैं। सामाजिक जीवन के साथ कला तथा साहित्य का सम्बन्ध दर्शाते हुए आधुनिक मार्क्सवादी विचारक आर्न्स्टफिशर ने यह स्थापना दी है कि ये आंशिक रूप से ही वैचारिक उत्सदन के अंग हैं (Literature and art are thus only in part ideological superstructure)[1], जिसका डेविड क्रैग तथा पिटर पिंक-जैसे मार्क्सीय समीक्षकों ने बड़ी तीव्रता के साथ प्रतिवाद किया है। इन चर्चाओं के अतिरिक्त मार्क्सीय कला-दर्शन सम्बन्धी जार्ज लुकाच की सद्यः प्रकाश्य कृति[2] के कई नूतन तथ्य जो काफी हद तक विवादास्पद कहे जा सकते हैं,

1. Art and Superstructure—Marxism Today, Feb. '64
2. Esztetika (Aesthetics)

हिन्दी के प्रगतिवादी समीक्षकों के लिए भी नये सिरे से विचारणीय हो गए हैं (उदाहरण के लिए जार्ज लुकाच की यह मान्यता पर्याप्त विचारोत्तेजक है कि मार्क्सीय कला-दर्शन का सही आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है, न कि ऐतिहासिक ।[1]

स्वतन्त्र रूप से भी हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा ने इधर के कुछ वर्षों में कला तथा साहित्य के सम्बन्ध में नई मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं इसकी सम्भावनाओं के साथ नये प्रगतिशील लेखकों के कई महत्वपूर्ण कार्य—नई कहानी-सम्बन्धी डॉ० नामवरसिंह तथा मार्कण्डेय के स्थापक वक्तव्य, डॉ० शिवकुमार मिश्र द्वारा हिन्दी कविता की नव्यतम प्रवृत्तियों का अध्ययन और पाठ्य-प्रक्रिया की दृष्टि से सुरेन्द्र चौधरी तथा विमल वर्मा के कहानी-सम्बन्धी विचार जुड़े हैं । इनके अतिरिक्त आधुनिक साहित्य के विभिन्न पक्षों से सम्बद्ध कई प्रतिनिधि कृतियों तथा स्फुट निबन्धों के द्वारा एक व्यापक प्रगतिशील चेतना को ही हम आधुनिक हिन्दी-समीक्षा के केन्द्र में पाते हैं ।

विश्वम्भर 'मानव'

नयी समीक्षा : सीमा और सम्भावना

पिछले सवा सौ वर्ष में सर्जनात्मक साहित्य का जैसा विकास हुआ है, समीक्षा-साहित्य का वैसा नहीं । एक तो वैसे भी समीक्षा साहित्य का अनुसरण करती है । साहित्य है आधार, समीक्षा है आधेय । जब तक प्रचुर परिमाण में श्रेष्ठ साहित्य का सृजन नहीं होगा, तब तक उच्च-कोटि की समीक्षा की आशा करना दुराशा-मात्र है । फिर भी समीक्षा के सिद्धान्त जब एक बार स्थिर हो जाते हैं, तब प्रतिभाशाली लेखकों को छोड़कर शताब्दियों तक सामान्य कोटि के लेखकों के लिए वे आलोक-स्तम्भ का काम करते हैं । फिर भी जिसे हम आधुनिक युग कहते हैं, उसके प्रारम्भ से ही कुछ इस प्रकार की परिस्थितियाँ खड़ी हुई, जिनसे आलोचना के विकास के लिए नया पथ खुल गया । आधुनिक युग की प्रमुख विशेषता है साहित्य में खड़ी बोली का ग्रहण । खड़ी बोली के प्रादुर्भाव और प्रसार के साथ काव्य के अतिरिक्त उपन्यास, कहानी, निबन्ध, एकांकी, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी और यात्रा-वर्णन की नयी विधाएँ विकसित हुई । इनके लिए स्वभावत: नए समीक्षा-सिद्धान्तों की आवश्यकता पड़ी । ग्रन्थों के प्रकाशन के साथ पुस्तक-परिचय की परम्परा चल पड़ी । आगे चलकर साहित्य की प्रवृत्तियों, साहित्यकारों और उनके ग्रन्थों पर लेख और स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे जाने लगे । यहीं तक नहीं, अनेक दृष्टियों से साहित्य के छोटे-बड़े कई इतिहास भी प्रस्तुत किए गये और अब तो शोध-प्रबन्धों की अजस्र परम्परा ने आलोचनात्मक कृतियों का ढेर-सा लगा दिया है ।

---

1. Introduction to a Monograph on Aesthetics—The New Hungarian Quarterly-14.

ऊपर हमने एक ओर आलोचनात्मक ग्रन्थों की बहुलता और दूसरी ओर समीक्षात्मक साहित्य के अभाव की बात कही है। ये दोनों बातें परस्पर-विरोधी होती हुई भी सत्य हैं। परिमाण की दृष्टि से जहाँ ऐसे ग्रन्थ सैकड़ों की संख्या में उपलब्ध हैं, वहाँ श्रेष्ठता और प्रामाणिकता की दृष्टि से उनकी संख्या बड़ी सीमित-सी है। अधिकांश ग्रन्थ तिथियों और तथ्यों की भूलों के भांडार हैं, साथ ही उनमें जो दृष्टिकोण प्रतिपादित किया गया है, वह विश्वसनीय नहीं है। किसी भी स्वतन्त्र देश की राष्ट्र-भाषा के लिए यह अत्यन्त खेदजनक स्थिति कही जा सकती है।

आधुनिक युग के आलोचना-साहित्य की और भी बहुत-सी समस्याएँ हैं, जिनकी ओर यहाँ ध्यान आकर्षित करने की आवश्यकता है। पहली बात यह कि बीसवीं शताब्दी के जितने भी प्रसिद्ध आलोचक हुए हैं या हैं, वे सभी प्राचीन संस्कारों से युक्त हैं, प्राचीन काव्य-शास्त्र के प्रेमी हैं। इनमें से किसी की सहानुभूति आदि-काल तक, किसी की भक्ति-काल तक, किसी की रीति-काल तक, किसी की द्विवेदी-युग तक और किसी की छायावाद-काल तक सीमित है। इसके आगे इनकी गति नहीं, यद्यपि आधुनिक काव्य और साहित्य की चर्चा सभी ने थोड़ी-बहुत की है। दूसरे, जिन लोगों की ओर हमारा संकेत है, वे सभी 'रसवादी' हैं। दूसरी ओर, बीसवीं शताब्दी का साहित्य ऐसा है, जिस पर किसी प्रकार के रस-सिद्धान्त को लागू करके नहीं दिखाया जा सकता। मुक्त छन्द के ग्रहण और प्रयोगवादी काव्य के प्रचलन के साथ तो इसकी चर्चा करना ही जैसे हास्यास्पद प्रतीत होता है। लेकिन लोग हैं कि रस पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। नयी समीक्षा का तो जन्म ही रस के अत्यधिक विवेचन की प्रतिक्रिया में जैसे हुआ है। नए समीक्षक का तात्पर्य ऐसे समीक्षक से भी है, जो रस-सिद्धान्त की सार्वभौमिकता और शाश्वतता को चैलेंज की दृष्टि से देखता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे अतीत के आलोचक बड़े क्षमतावान व्यक्ति थे और समीक्षा के क्षेत्र में उनकी देन का अपना महत्त्व है; पर विश्व की चेतना इतनी तीव्र गति से विकसित हो रही है, विचार-जगत् में इतने मौलिक तत्त्व आ समाए हैं, साहित्य का विकास इतनी विभिन्न दिशाओं में हो रहा है कि ये लोग समय से पीछे रह गए हैं। फिर भी वे हमारे आदर के पात्र हैं, क्योंकि अपनी चेतना का श्रेष्ठतम दान उन्होंने हमारे साहित्य को दिया है। उनकी सबमें बड़ी विशेषता उनका निर्दलीय होना है। उनकी समीक्षा की सीमाएँ हो सकती हैं; पर वे लोग अपने संस्कारों के प्रति आस्थावान् और विचारों के प्रति ईमानदार थे। इसी से उनके विवेचन में एक प्रकार की गहराई और शक्ति का आभास मिलता है।

समीक्षा के विकास में दूसरा अवरोध इस युग के कवियों द्वारा उत्पन्न किया गया। समीक्षकों से सभी युग के लेखक थोड़े-बहुत असन्तुष्ट रहते हैं; पर हिन्दी में प्रथम महायुद्ध के उपरान्त एक दूसरी प्रवृत्ति पनपनी प्रारम्भ हुई और वह यह कि स्वयं कवि आलोचक के आसन पर आ बैठा। प्रगतिवादी लेखकों में तो यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती, क्योंकि उनके आलोचक उनके पूर्ण समर्थक रहे हैं; पर छायावाद और

प्रयोगवाद दोनों युगों को हम लम्बी भूमिकाओं और वक्तव्यों का युग कह सकते हैं। यह सत्य है कि कवि अपने जीवन के रहस्यों, सम्पर्कों, अन्तर की प्रेरणाओं और मूक प्रभावों के सम्बन्ध में जितना जानता है, उतना दूसरा व्यक्ति नहीं; पर बात यहीं तक सीमित नहीं रही। अपने कर्म के समर्थन में तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर, तर्कों को अपने पक्ष में कर, पूरी बात को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिससे एक प्रकार की आत्मश्लाघा झलकती है। इस विवेचन में आलोचकों द्वारा उठाई गई सभी प्रकार की आपत्तियों को अमान्य ठहराया गया है और काव्य के दोषों को जान-बूझकर छिपाया गया है। यदि कवि को अपने दोष दिखाई देने लगें, तो वैसा वह लिखेगा ही क्यों, और यदि दिखाई देंगे भी, तो वह उनकी चर्चा क्यों करने बैठेगा ? आखिर, दोषों के उल्लेख के लिए तो 'प्रवेश', 'विज्ञप्ति', 'पर्यालोचन', 'दृष्टिपात' और 'परिदर्शन' नहीं लिखे जाते। अतः इस प्रकार की भूमिकाओं और वक्तव्यों को आलोचकों के विरुद्ध एक प्रकार की मोर्चाबन्दी समझना चाहिए।

हिन्दी में 'नयी समीक्षा' प्रयोगवाद के साथ प्रारम्भ होती है। 'नयी कविता' प्रयोगवाद का ही दूसरा नाम है; अतः इस निकाय के उन समर्थकों को जिन्होंने उत्तर-छायावाद काल में लिखना प्रारम्भ किया, नयी समीक्षा के लेखक समझना चाहिए। प्रयोगवाद पर लिखने मात्र से समीक्षा नयी नहीं हो जाती। उसके लिए एक विशेष प्रकार की चेतना, एक विशेष प्रकार की विचारधारा, एक विशेष प्रकार के दृष्टिकोण की आवश्यकता पड़ती है। इस वर्गीकरण के अनुसार छायावादी आलोचकों और प्रगतिवादी विवेचकों को प्रयोगवादी समीक्षकों से भिन्न समझना चाहिए। आलोचना में एक प्रकार का गतिरोध इन प्रयोगवादी समीक्षकों ने भी उत्पन्न किया है। प्रयोगवादी समीक्षा दलबद्ध लोगों की समीक्षा है और वह प्रगतिवादी समीक्षा की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुई है। सामान्य रूप से प्रयोगवाद के लेखक ही प्रयोगवाद के समीक्षक भी हैं। जो लोग रचनात्मक कार्य नहीं भी करते, वे स्थानीय महत्व की किसी संस्था के सदस्य हैं या इन सदस्यों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। बातचीत करने पर पता चलता है कि ये लोग दलबद्धता को बुरा नहीं समझते। उसे आधुनिक जीवन का अनिवार्य अंग मानते हैं और सैद्धान्तिक रूप से उसका समर्थन करते हुए इस बात की घोषणा करते पाए जाते हैं कि आज के युग में ऐसा कौन व्यक्ति है, जो दलबद्ध नहीं है ?

इस तथ्य को और स्पष्ट कहना चाहें, तो हम कहेंगे, नए समीक्षक केवल समकालीन साहित्य के आलोचक हैं। ये न तो पूरे हिन्दी-साहित्य को अपनी आलोचना का विषय बनाते हैं और न आलोचना की पूर्णता की ओर ही इनका ध्यान है। साहित्य के एक अंश की ये आलोचना करते हैं, उसके भी एक पक्ष की और वह भी एक विशेष दृष्टिकोण से। आलोचना करते समय सभी एक विशेष प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करते हैं। अपने से भिन्न कोटि की आलोचना को या तो ये पसन्द नहीं करते या उससे उदासीन रहते हैं। इनकी समीक्षा का एक प्रचारात्मक पहलू भी है। दलबद्धता के समान प्रचार को भी ये बुरा नहीं समझते।

नयी समीक्षा का प्रारम्भ 'तार सप्तक' और उसकी भूमिका के प्रकाशन के

साथ सन् १९४३ से समझना चाहिए। 'त्रिशंकु' के प्रकाशन का काल भी यही है। पत्रिकाओं और ग्रन्थों का प्रकाशन कुछ देर से हुआ। पत्रिकाओं में हम प्रतीक (१९४६) और नयी कविता (१९५४) का नाम ले सकते हैं। ग्रन्थों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

नयी कविता के प्रतिमान	लक्ष्मीकांत वर्मा	१९५७
आत्मनेपद	सच्चिदानंद अज्ञेय	१९६०
मानव मूल्य और साहित्य	धर्मवीर भारती	१९६०
हिन्दी नवलेखन	रामस्वरूप चतुर्वेदी	१९६०
साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य	रघुवंश	१९६३

नयी कविता के प्रचार के साथ नयी समीक्षा का प्रचार भी हुआ है, यहाँ तक कि इस काव्यधारा पर अब दो-एक शोध-प्रबन्ध भी प्रकाशित हो गए हैं। हिन्दी के शोध-प्रबन्धों का जो स्तर है, उससे हम सभी परिचित हैं। एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय से एक प्रतिष्ठित आलोचक और अध्यापक की देखरेख में, नयी कविता पर जो नवीनतम शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हुआ है, उसके प्रथम पृष्ठ पर ही यह लिखा मिलता है : प्रबन्ध के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में **मैंने** नयी कविता से **मेरा** आशय स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अतः यहाँ इन अधकचरे लेखकों और उनके गुरुओं की चर्चा न करना ही श्रेयस्कर होगा।

श्री सच्चिदानन्द 'अज्ञेय' जैसे एक नई काव्यधारा के प्रवर्तक हैं, वैसे ही एक नूतन समीक्षा-प्रणाली के भी। इस काव्यधारा को 'प्रयोगवाद' और इस आलोचना-पद्धति को 'नई समीक्षा' कहते हैं। इनके प्रारम्भिक काव्य पर छायावाद का प्रभाव पाया जाता है, जिससे इन्होंने अपने को बहुत शीघ्र मुक्त किया। प्रारम्भ में ये 'प्रगतिवाद' के भी प्रशंसक थे। कम-से-कम कोई विरोध-भावना उस समय इनके मन में न थी। इसका प्रमाण यह है कि 'तार-सप्तक' के सात कवियों में से चार—डॉ० रामविलास शर्मा, गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन और भारतभूषण अग्रवाल—प्रगतिवादी थे। लेकिन प्रारम्भ से ही प्रगतिवाद के समर्थकों और आलोचकों ने इनका घोर विरोध किया। परिणाम यह हुआ कि इन्होंने काव्य और आलोचना की दिशा ही मोड़ दी। श्री अज्ञेय में नेतृत्त्व के समस्त गुण विद्यमान हैं। यदि प्रगतिवादी केम्प ने यह नेतृत्त्व इन्हें सौंप दिया होता, तो मेरा अनुमान है, हिन्दी में प्रगतिवाद की जड़ें बहुत मजबूत हो गई होतीं। जो व्यक्ति अपने जीवन में क्रान्तिवादी रहा हो, स्वाभाविक यह लगता है कि उसका विकास प्रगतिवाद की दिशा में हो, जैसे कि यशपाल का। इस दृष्टि से मार्क्स की तुलना में फ्रायड की ओर अज्ञेय का झुकाव एक आश्चर्यजनक और न समझ में आनेवाली घटना है। लेकिन बहुत-सी घटनाएँ ऐसी होती हैं जो जीवन और साहित्य की दिशाएँ ही मोड़ देती हैं। प्रयोगवाद-फ्रायडवाद पर आधारित अन्तश्चेतनावादी प्रवृत्तियों का समर्थक है और नई समीक्षा इस वाद की प्रचारक। इस प्रकार प्रयोगवाद और प्रगतिवाद दो विरोधी वाद हैं, प्रगतिवादी समीक्षा और नई समीक्षा दो विरोधी समीक्षा-पद्धतियाँ। यह बात सुनने में थोड़ी चौंकनेवाली

और कटु लग सकती है; लेकिन उत्तर-छायावाद काल में प्रगतिवादी काव्यधारा के सहसा सूखने और एक नई काव्य-प्रवृत्ति के उदय होने का मूल कारण श्री अज्ञेय का सशक्त व्यक्तित्त्व है। और अब श्री अज्ञेय इतनी दूर चले आए हैं कि भविष्य में छायावाद से तो किसी प्रकार हाथ भी मिला सकते हैं; पर प्रगतिवाद को मुड़कर नहीं देख सकते।

'नई समीक्षा' का जन्म इसी प्रयोगवादी काव्य के विश्लेषण-विवेचन और मूल्यांकन के लिए हुआ है। वैसे होना तो चाहिए था इसका नाम प्रयोगवादी समीक्षा; पर क्योंकि प्रयोगवादी काव्य ने बहुत-से आक्षेपों से बचने के लिए अपना नाम अब 'नई कविता' रख लिया है, अतः आगे हम कहीं 'नई समीक्षा' और कहीं 'प्रयोगवादी समीक्षा' शब्दों का व्यवहार करेंगे।

नये समीक्षकों में अज्ञेय का व्यक्तित्व ही सबसे सशक्त है। रचनाकार और विचारक दोनों दृष्टियों से उन्हें एक विशिष्ट व्यक्ति कहा जा सकता है। भाषा के आन्दोलन में स्वामी दयानन्द सरस्वती, पं० मदनमोहन मालवीय एवं बाबू पुरुषोत्तम-दास टण्डन का योगदान जैसे अपना महत्त्व रखता है, साहित्य प्रचार-प्रसार के लिए जैसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं बाबू श्यामसुन्दरदास को विस्मरण नहीं किया जा सकता, वैसे ही उत्तर-छायावाद काल में साहित्य की धारा को नया मोड़ देने, उसे गति प्रदान करने और उसमें नया जल लाने वाले नई पीढ़ी के लेखकों के नेता के रूप में भविष्य के इतिहासकार श्री अज्ञेय के कर्म को उचित महत्त्व प्रदान कर सकेंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। यद्यपि अपने जीवन में अनेक दिशाओं से उनका अकारण विरोध हुआ है; पर जैसा उनके लेखन और व्यवहार से पता चलता है, वे अपने देश, अपनी संस्कृति, अपनी भाषा और अपने साहित्य को प्रेम करने वाले लेखक हैं। मानवता के उच्चतम आदर्शों से प्रेरित वे एक ऐसे स्वतन्त्र-चेता व्यक्ति हैं जिनकी मेधा पर किसी भी देश के नागरिक गर्व कर सकते हैं। उनके चारों ओर सन्देह का जो वातावरण खड़ा किया गया है, वह किसी दिन हटेगा; जिस कुहासे ने उन्हें घेर रखा है, वह विदीर्ण होगा।

दो महायुद्धों के बीच विकसित होनेवाला छायावादी काव्य बीस वर्षों में ही रूढ़िवादी हो गया। इसके विरुद्ध पहला विद्रोह किया भगवतीचरण वर्मा, दिनकर और बच्चन ने; दूसरा गहरा आघात दिया उस प्रगतिवादी आन्दोलन ने जिसके कवियों में नागार्जुन, कथाकारों में यशपाल तथा आलोचकों में डॉ० रामविलास शर्मा प्रमुख हैं। इनमें डॉ० रामविलास शर्मा ही एक ऐसे व्यक्ति थे, जो किसी नए आन्दोलन का नेतृत्व कर सकते थे; पर उनकी प्रतिभा विध्वंसात्मक सिद्ध हुई; अतः उनसे घर और बाहर के सब लोग अप्रसन्न हो गए और जिस महत् उद्देश्य को लेकर वे चले थे, वह भी विफल हो गया। निराला और पन्त से जो बल प्रगतिवाद को मिला था, वह स्थायी कोटि का न था। मात्र एक आवेश था—जैसा आगे चलकर निराला के प्रार्थना-गीतों और पन्त के अरविन्दवाद की ओर झुकाव से सिद्ध हुआ। प्रसाद और महादेवी के समान ये दोनों भी अध्यात्म के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं कर सकते थे—क्योंकि

यही तो छायावादी क मुख्य सम्बल है। क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बन्ध रखने के कारण अज्ञेय ने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में ही ईश्वर के अस्तित्व को चेलेंज की दृष्टि से देखा था और कवि, कथाकार, विचारक एवं सम्पादक होने के नाते उनका अपना व्यक्तित्व भी अधिक व्यापक था; अतः भविष्य का युग स्वाभाविक रूप से अज्ञेय का युग सिद्ध हुआ। बिहार के 'नकेनवादियों' ने उनका कुछ सामना भी किया; पर वे अपनी ही संकुचित दृष्टि के कारण परास्त होकर मिट गए।

इस आन्दोलन की भूमिका कुछ लम्बी होती जा रही है; लेकिन इतना कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ी जिससे हम यह समझा सकें कि 'नई कविता' और 'नई समीक्षा' अन्योन्याश्रित हैं। नई कविता ने नई समीक्षा को जन्म दिया और नई समीक्षा ने नई कविता को। प्रारम्भ में न तो यह बात बहुत स्पष्ट थी और न यह प्रतीत ही होता था कि यह वाद ऐसा व्यापक रूप धारण कर लेगा। अज्ञेयजी ने पहला महत्व-पूर्ण काम यह किया कि वे अपने को सामने न लाकर दूसरों को सामने लाए। तीन 'सप्तकों' में उन्होंने न केवल इक्कीस कवियों की रचनाओं को प्रकाशित किया, वरन् उन्हें 'वक्तव्यों' की छूट दी। सप्तकों द्वारा प्रयोगवादी कविता की प्रतिष्ठा हो जाने के उपरान्त उन्होंने साहित्य के अन्य प्रकारों की ओर ध्यान दिया और 'नए साहित्य-स्रष्टा ग्रन्थमाला' द्वारा ऐसे ग्रन्थों के सम्पादन का भार लिया, जिनमें किसी नए लेखक के कृतित्व को प्रतिनिधि रूप में प्रस्तुत करते समय काव्य के अतिरिक्त उसके द्वारा लिखे गए छोटे उपन्यास, कहानियाँ, लेख और हास्य-व्यंग आदि को भी सम्मिलित किया जा सके। प्रयोगवादी आन्दोलन अब कविता के अतिरिक्त गद्य के अन्य माध्यमों में भी प्रवेश कर रहा है। इस प्रकार साहित्य के सभी माध्यम आज उसके प्रभाव के अन्तर्गत हैं।

प्रश्न यह है कि वह क्या है जिसके लिए श्री सच्चिदानन्द अज्ञेय और उनके सहयोगी व्यवस्थित रूप से एक आन्दोलन चला रहे हैं? निर्विवाद रूप से वह इस देश में साम्यवाद का विरोध करनेवाली विचारधारा है और इसीसे उसका सीधा संघर्ष साम्यवादी विचारकों, लेखकों और आलोचकों से है। मैं यह तो मानने को तैयार हूँ कि प्रयोगवाद प्रगतिवाद का विरोधी है; पर तटस्थ दृष्टि से मेरी आत्मा यह स्वीकार नहीं करती कि यह आन्दोलन किसी भी रूप में प्रगतिशील नहीं है अथवा अप्रगतिशील है, वैसे ही जैसे मैं प्रयोगवादियों की यह बात नहीं मानता कि प्रगतिवाद अपने मूल रूप में कोई साहित्यिक आन्दोलन नहीं था। और श्री सुमित्रानन्दन पन्त के इस मतवाद से तो मैं एकदम सहमत नहीं हूँ कि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों छादावाद की शाखाएँ हैं।

अज्ञेय की मुख्य मान्यता साम्यवादी विचारधारा को नकारने में निहित है। वे मार्क्सवाद को पूर्ण जीवन-दर्शन नहीं मानते, केवल अर्थ-दर्शन मानते हैं। इस दिशा में फ्रॉयड, डार्विन और आइनस्टाइन की देन को वे मार्क्स की देन से कहीं बड़ी स्वीकार करते हैं। यहीं से प्रगतिवादियों और प्रयोगवादियों के बीच एक खाई खुद जाती है। प्रगतिवाद, यदि मार्क्सवाद पर आधारित है, तो प्रयोगवाद फ्रायडवाद पर; प्रगति

वाद यदि बाहर की ओर देखता है, तो प्रयोगवाद भीतर की ओर; प्रगतिवाद यदि समाजपरक है, तो प्रयोगवाद व्यक्तिपरक। अज्ञेय पर मनोविज्ञान का प्रभाव इसी बिन्दु से पड़ना प्रारम्भ होता है और प्रयोगवाद यहीं से अवचेतन की गहरी घाटियों में उतरता है। वस्तु और भाव का द्वन्द्व यहीं से प्रारम्भ होता है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद द्वारा समर्थित भौतिकता आज दो सूक्ष्मताओं के बीच घिर गई है—छायावादी सूक्ष्मता और प्रयोगवादी सूक्ष्मता के बीच। पहला संघर्ष भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के बीच था, इस बार का, भौतिकता और जटिल संवेदनाओं के बीच। अध्यात्म को हम एक बार नकार सकते हैं; पर मानवीय संवेदनाओं को कैसे झुठलाएँ ? अतः यह संघर्ष अधिक तीखा है। तीखा इसलिए कि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों की स्थिति अपने मूल रूप में अत्यन्त दृढ़ है। जैसा कि अभी कह चुके हैं, अज्ञेय का दूसरा गहरा मतभेद पुनरुत्थानवादियों के 'रस-सिद्धान्त' से है। साधारणीकरण के सिद्धान्त को वे ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं करते। काव्य के स्तर और लोकप्रियता में से वे सदैव स्तर के पक्ष में रहे हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि काव्य की प्रेषणीयता में उनका विश्वास नहीं है। अभिव्यक्ति की गरिमा बनी रहे, चाहे उसके सौंदर्य को ग्रहण करने वाले थोड़े ही लोग हों। प्रश्न संख्या का नहीं, समझदार लोगों का है। अतः विषय की दृष्टि से प्रगतिवादियों और अभिव्यक्ति की दृष्टि से पुराने रसवादियों, दोनों के चैलेंज को उन्होंने स्वीकार किया है। ये निश्चित रूप से दो बड़े चैलेंज हैं। अतः जब वे 'साहित्यकार की निष्ठा', 'कला मूल्यों की प्रतिष्ठा' तथा 'समकालीन संघर्ष' की बात करते हैं, तब उनका आशय ऐसी ही मान्यताओं से होता है। शेष जो है, वह इन्हीं की व्याख्या, विस्तार और प्रतिष्ठापन है।

अज्ञेयजी ने अपने सम्बन्ध में भी काफ़ी कहा है और अपने समानधर्माओं के सम्बन्ध में भी। 'शेखर : एक जीवनी' तथा 'नदी के द्वीप' को लेकर उन्होंने केवल ऐसे तथ्यों पर प्रकाश डाला है, जिनसे पाठकों को उनकी कृतियों को समझने में अधिक सहायता मिल सके। इतना भी विवशता की स्थिति में किया है। इस स्पष्टीकरण में विशेष रूप से उन जटिल विवादास्पद प्रसंगों को उठाया गया है, जिनके विषय में उनके आलोचकों में बराबर मतभेद बना रहता है। ये लेख कहीं भी आत्मप्रशंसा की वृत्ति से प्रेरित नहीं हैं। इन लेखों से तो वे बहुत संकोची स्वभाव के प्रतीत होते हैं। नए लेखकों के सम्बन्ध में लिखते समय वे कुछ अधिक खुले हैं। 'नए साहित्य स्रष्टा' के रूप में सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीरसहाय, अजितकुमार और शान्ति मेहरोत्रा के साहित्य की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते समय उनका थोड़ा पक्ष अवश्य लिया है, उन्हें अपनी सहानुभूति भी दी है; पर साथ ही उनके दोषों और सीमाओं की चर्चा भी है। अपने सम्बन्ध में हो तो, दूसरों के सम्बन्ध में हो तो, उनके लेखन में आभिजात्य के संस्कारों से युक्त व्यक्ति की तटस्थता और सभ्य एवं शिक्षित व्यक्ति की समझदारी पाई जाती है। कुल मिलाकर वे एक विवेकशील विवेचक ही सिद्ध होते हैं। सैद्धान्तिक समीक्षा की दृष्टि से उन्होंने काव्य के अनेक विषयों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। इनमें विषय और वस्तु, तथ्य और सत्य,

अनुभव और अनुभूति, श्लील-अश्लील, प्रयोग और प्रेषणीयता, प्रतीक, प्रतिभा, अस्तित्ववाद एवं आधुनिकता आदि मुख्य हैं। इस विस्तृत मीमांसा में उन्होंने बहुत-सी मौलिक बातें कही हैं। समस्त विवेचन का मुख्य प्रयोजन, जैसा उन्होंने स्वयं कहा है, अपने विचार और दृष्टिकोण के प्रति लोगों में एक प्रकार का खुलापन लाना है।

'नयी कविता' की सैद्धान्तिक व्याख्या करने वालों में अज्ञेय के उपरान्त लक्ष्मीकान्त वर्मा मुख्य हैं। नयी कविता की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने एक ग्रन्थ ही लिख डाला—नाम है 'नयी कविता के प्रतिमान'। अज्ञेय के सूत्रों पर यह पहला विस्तृत भाष्य है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि श्री अज्ञेय और उनके बाद आने वाले नयी कविता के अन्य समर्थकों के व्यक्तित्व में पृथ्वी-आकाश का अन्तर है। छायावादी एवं प्रगतिवादी लेखकों से अपना मतभेद अज्ञेय ने अत्यन्त संयत भाषा में संकेत से व्यक्त किया था। लक्ष्मीकान्त उसी मतभेद को हल्की एवं आवेशमयी भाषा में प्रकट करते हैं। छायावादी कवियों के दृष्टिकोण में इन्हें एक प्रकार की 'स्नॉबरी' दिखाई देती है, उनका काव्य पुंसत्वहीन लगता है, उनके चिन्तन में 'विचारहीनता' और शब्दों में 'आडम्बर' की झलक मिलती है। यहीं तक नहीं प्रेमचन्द, भगवतीचरण वर्मा एवं 'प्रसाद' के कथा-साहित्य में इन्हें 'शिशु-सुलभ भावुकता' की गन्ध आती है। लक्ष्मीकान्त वर्मा में हृदय में किसी भी बड़े लेखक के प्रति सम्मान की भावना नहीं पाई जाती। इनके अनुसार प्रगतिवादियों ने अपनी प्रतिभा किसी अन्य देश में गिरवीं रख दी है। इनकी बात पर विश्वास करें तो गीतकारों ने केवल 'स्ट्रीट सौंग' लिखे हैं। वर्माजी के अपने साहित्यिक आदर्श क्या हैं, यह वे ही जानें। वे एक ओर मुक्त छन्द का समर्थन करते हैं, दूसरी ओर सस्ते प्रेम-गीत लिखते हैं; एक ओर नए कहानीकारों को मान्यता प्रदान करने में हिचकिचाते हैं, दूसरी ओर स्वयं भूत-प्रेतों की कहानियाँ लिखकर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराते हैं।

'नयी समीक्षा' के क्षेत्र में लक्ष्मीकान्त वर्मा की मुख्य देन है—'लघु मानव' की भावना। यह कल्पना उन्होंने क्लासिकल साहित्य के 'महामानव' के विरोध में की है। महाकाव्यों में वर्णित व्यापक धरातल और देशकालातीत चेतना के स्थान पर इन्होंने 'लघु परिवेश' और 'क्षण' की अनुभूति के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। अपना विश्वास इन्होंने आज के उस मानव के प्रति व्यक्त किया है जो चाहे बड़ा न हो, किन्तु लघु होने के साथ अपने प्रति जागरूक है। लघु परिवेश से घिरे इस लघु मानव के छोटे-से-छोटे क्षण की अनुभूति और उपलब्धि का अपना महत्त्व है। उदात्त की तुलना में क्षुद्र की इस कल्पना को ये 'नया भाव-बोध' कहते हैं। इनका कहना है कि जब मैंने लघु मानव की लघुता स्वीकार कर ली, तब मुझे कमल के साथ कीचड़ भी स्वीकार करना होगा। लघु मानव के साथ ये कुरूपता-कटुता, वर्जना-कुण्ठा, अहं-भटकाव, प्रतारणा-मृत्यु, सभी को स्वीकार करते हैं। इसी से एक और बात निकलती है और वह यह कि लक्ष्मीकान्त कविता में अनुभूति से अधिक अनुभव की अभिव्यक्ति पर बल देते हैं—अनुभव जिसमें सब-कुछ समाहित है, सत् भी, असत् भी; अमृत भी, विष भी; प्रेम भी, घृणा भी। निश्चित रूप से ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ हैं। पर

व्यावहारिक दृष्टि से यह सब सम्भव नहीं है। वर्डस्वर्थ के समान लक्ष्मीकांत वर्मा एक ऐसे अदूरदर्शी कवि हैं जिनका सारा जीवन पहले काल्पनिक सिद्धान्त गढ़ने और फिर उन्हें झुठलाने में व्यतीत हो जाता है।

लक्ष्मीकान्त वर्मा के साहित्यिक कर्म के तीन रूप हैं—(१) प्राचीन साहित्य और साहित्यकारों के प्रति घृणा की भावना, (२) सिद्धान्त-कथन और (३) प्रचार। ये एक स्थानीय महत्त्व की साहित्यिक संस्था के सक्रिय सदस्य हैं और इस नाते उसके छोटे-बड़े कवियों को अपनी व्यावहारिक आलोचना द्वारा जनता की आँखों के सामने लाते रहते हैं। इस दिशा में इनकी उद्घोषणाएँ कुछ ऐसा रूप पकड़ने लगी हैं जो सुनने वालों को आपत्तिजनक प्रतीत होती हैं। मार्च १९६४ में प्रयाग में 'परिमल' की ओर से एक कहानी-गोष्ठी का आयोजन हुआ था, जिसमें बहुत-से नए कहानीकारों ने उत्साह के साथ भाग लिया था। इसमें लक्ष्मीकान्तवर्मा ने यह दावा किया कि 'हिन्दी का पिछले बीस वर्ष का इतिहास 'परिमल' का इतिहास है।' इससे झूठी दूसरी बात नहीं हो सकती; लेकिन हिन्दी के लेखक यह सब सुनते हैं, सहन करते हैं और चुप रहते हैं।

डॉ० रघुवंश नयी कविता को प्रयोगशील कविता के आगे की स्थिति मानते हैं। इनकी दृष्टि से प्रयोगवादी और नयी कविता में यह अन्तर है कि इनमें से पहली वाद-युक्त है और दूसरी वाद-मुक्त। डॉ० रघुवंश का मानसिक गठन इस क्षेत्र के अन्य आलोचकों से कुछ भिन्न प्रकार का है। वे प्राचीन भारतीय साहित्य को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखते। साहित्य की ऐतिहासिक परम्परा से अपना परिचय उन्होंने बराबर व्यक्त किया है। अतीत के साहित्य के वे प्रशंसक हैं। यह दूसरी बात है कि उनका विशेष लगाव 'युवक लेखकों के एक वृत्त' से है। रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के दृष्टिकोण की मीमांसा उन्होंने आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में की है। संस्कृत और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र से अपनी अभिज्ञता प्रकट करते हुए उन्होंने भरत और दण्डी तथा अरिस्टॉटल और तालसताय के कुछ काव्य-मन्तव्यों को आदरपूर्वक स्वीकार किया है। आधुनिक युग के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए काव्य के अतिरिक्त उन्होंने गद्य-साहित्य का विवेचन भी उसी मनोयोग से किया है और यथावसर मैथिलीशरण गुप्त, निराला, पंत और प्रेमचन्द की देन के महत्त्व को मुक्त हृदय से स्वीकार किया है। भारतेन्दु-युग से लेकर प्रयोगवाद-युग तक साहित्य में जो भी प्रवृत्तियाँ पनपी हैं, उनको उन्होंने कहीं भी तोड़ा-मरोड़ा नहीं है। इसका प्रमाण उनका नया समीक्षा-ग्रन्थ—'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य' है। उसके आधार पर यह कहने को मन करता है कि डॉ० रघुवंश की सांस्कृतिक दृष्टि काफ़ी व्यापक है और वे एक ऐसे व्यक्ति हैं जो एक आन्दोलन से सम्बद्ध होते हुए भी आलोचक के गम्भीर उत्तरदायित्व को समझने की क्षमता रखते हैं।

छायावाद और प्रगतिवाद की आलोचना में इन्होंने ऐसे ही दोषों की ओर संकेत किया है जो प्रायः सर्व-स्वीकृत हैं। छायावाद के सम्बन्ध में इनका कहना है कि इसके सौन्दर्य-काव्य में शक्ति का अभाव है। प्रगतिशील मानदण्डों के सम्बन्ध में

इनका यह आरोप कि यदि जनवादी सिद्धान्त अतीत के महान् साहित्य की व्याख्या नहीं कर सकते, तो उन्हें अपने में पूर्ण या पर्याप्त नहीं माना जा सकता, विवेकपूर्ण ही कहा जायगा। डॉ० रघुवंश के विवेचन में हमें कहीं भी द्वेष की झलक दिखाई नहीं देती। वे जान-बूझकर दुष्टता करने वाले व्यक्तियों में नहीं हैं। अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि उनके सोचने का ढंग ही ऐसा है।

ग्रन्थ की भूमिका में ही उन्होंने स्वीकार कर लिया है कि पिछले साहित्यिक चिन्तन के आन्दोलनों से उनकी गहरी संसक्ति रही है, अतः नई कविता के पक्ष में वे बोलते भी दिखाई दें, तो आश्चर्य की बात न होगी। इस नये आन्दोलन में श्री अज्ञेय के महत्त्व को उन्होंने इन शब्दों में स्वीकार किया है : अज्ञेय इस युग के सशक्त कलाकार हैं, इस कारण वे वाद-विवाद के केन्द्र बन गए हैं। 'नयी कविता' का आदि कवि भी वे 'अज्ञेय' को ही मानते हैं। हिन्दी में जैसे अभी तक सूर-तुलसी, देव-बिहारी और निराला-पंत के जोड़े प्रसिद्ध हैं, वैसे ही मेरा अनुमान है, भविष्य में अज्ञेय और शमशेर का जोड़ा भी प्रसिद्ध होगा। अज्ञेय और शमशेर की प्रतिद्वन्द्विता में डॉ० रघुवंश ने पक्ष तो अज्ञेय का ही लिया है; पर लेख शमशेरबहादुरसिंह पर लिखा है। कए कवियों पर जो उन्होंने लेख लिखे हैं, उनमें सबसे सुन्दर लेख शमशेर पर ही है। शमशेर की सौन्दर्य-चेतना और सामाजिक दायित्व के बोध का विश्लेषण ऐसी कोमल एवं सूक्ष्म संवेदनशीलता के साथ किया है कि पूरा निबन्ध अत्यन्त आकर्षक और कलात्मक बन गया है। प्रयोगवाद को जहाँ इन्होंने काव्य की एक सशक्त धारा घोषित किया है, वहाँ नकेनवादियों के महत्त्व को भी स्वीकार कर लिया है। डॉ० रघुवंश ऐसे द्विधाग्रस्त समीक्षक हैं, जिनका हृदय दल की ओर है, आत्मा दल के बाहर; हृदय नए आन्दोलन को समर्पित है, आत्मा व्यापक सत्य को। इनके व्यक्तित्व का विश्लेषण करने पर यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि बहुत दिनों तक किसी मतवाद से अपने को सम्बद्ध करके ये सुखी नहीं रह सकते। इनके संस्कार क्लासिकल साहित्य के अधिक अनुकूल पड़ते हैं। अतः लक्ष्मीकान्त वर्मा, सर्वेश्वर और जगदीश गुप्त की कविता के स्थान पर यदि इन्होंने तुलसी, प्रसाद और निराला के उदात्त काव्य का विवेचन किया होता, तो साहित्य और समीक्षा दोनों का कुछ अधिक हित हुआ होता।

नयी समीक्षा के क्षेत्र में डॉ० धर्मवीर भारती एक ऐसे विचारक हैं, जो अपने पक्ष का समर्थन और विरोधियों की बातों का खण्डन पूरे आवेश के साथ करते हैं। इनके तर्कों में किसी नए वकील जैसी तैयारी, मुस्तैदी और चालाकी की गन्ध मिलती है। अपने समीक्षा-ग्रन्थ 'मानव मूल्य और साहित्य' के प्रारम्भ में ही इन्होंने कहा है : लेखक ने छायावाद और प्रगतिवाद दोनों के प्रति असन्तोष व्यक्त किया है। इनकी दृष्टि से रहस्यवाद का सम्बन्ध विवेक से नहीं, अविवेक से है। प्रगतिवाद की कठिनाई यह है कि उसका सम्बन्ध मार्क्सवाद से है और मार्क्सवादी चिन्तन में बहुत-से अन्तर्विरोध हैं और जहाँ तक उसके आलोचकों का सम्बन्ध है, उन्होंने तो मार्क्सवाद की और भी ग़लत व्याख्या की है। ऐसी दशा में इन्हें लगता है कि साहित्य में सभी कहीं संकट उत्पन्न हो गया है। कवियों में गोआ आन्दोलन के समय महादेवीजी की अस्थिर वृत्ति

को लेकर इन्होंने बड़ा ही कटु व्यंग्य किया है। उपन्यासकारों में इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय के नायकों को 'क्लीव, पंगु और विकृतमना' ठहराया है। आलोचकों में रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि को संकुचित और हज़ारीप्रसाद की दृष्टि को धूमिल बतलाया है। और ये वे तथ्य हैं जिनके कारण हमारे यहाँ सांस्कृतिक संकट उत्पन्न हो गया है। कितनी बुरी बात है कि धर्मवीर भारती से पूर्व मध्यकाल से लेकर छायावादकाल तक न तो किसी ने मानव-मूल्यों की ओर ध्यान दिया और न मानव की गरिमा को ही पहचाना।

प्रश्न यह है कि तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद और निराला, पंत और दिनकर ने यदि अपने काव्य में मानववाद की प्रतिष्ठा नहीं की, तो फिर किया क्या है? लेखक ने तर्क देकर समझाया है कि आध्यात्मिक मूल्य जीवन के वास्तविक मूल्य नहीं हैं। वह चाहता है मानवोपरि सत्ता के स्थान पर सृष्टि के केन्द्र में मनुष्य को स्थापित किया जाय। इस पर यदि हम कहें कि प्रगतिवाद ने ईश्वर के स्थान पर मनुष्य को ही तो प्रतिष्ठित किया है, तब भारतीजी समझायेंगे कि प्रगति की धारणा बाहरी नहीं, आन्तरिक होनी चाहिए। दूसरा प्रश्न यह है कि इस आन्तरिक विकास की सीमा-रेखा क्या होगी? क्या चेतना की परिधि को सीमित करके रखा जा सकता है? क्या उसकी उड़ान को अध्यात्म की परिधि में प्रवेश करने से रोका जा सकता है? उलझन यह है कि डॉ० धर्मवीर भारती एक ओर मध्यकालीन धर्म-साधना और आधुनिक रहस्य-भावना के प्रसंग में अलौकिक चेतना का विरोध करते हैं, दूसरी ओर प्रगतिवाद के प्रसंग में बाह्य संघर्ष के स्थान पर उस चेतना का समर्थन करते हैं जो अपनी अन्तिम उड़ान में दिव्य-चेतना से एकाकार हो जाती है। इस प्रकार अपने ही तर्कजाल में फँसकर वे अपनी ही मान्यताओं के प्रति पाठकों के मन में सन्देह की स्थिति खड़ी कर देते हैं।

इस समीक्षा-ग्रन्थ में डॉ० धर्मवीर भारती ने मानववाद के प्रचार के लिए जिन मूल्यों की प्रतिण्ठा अन्तिम रूप से की है, वे हैं—(१) मनुष्य की महिमा, (२) आत्मान्वेषण और (३) दर्द का माध्यम। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन मूल्यों की चर्चा श्री अज्ञेय बहुत पहले कर चुके हैं। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये उनकी कोई मौलिक स्थापनाएँ हैं।

भारतीजी के चिन्तन का सबसे बड़ा दोष यह है कि वे अध्ययन करते हैं विदेशी लेखकों और यूरोपीय परिस्थितियों का और उन्हें आरोपित करते हैं, हिन्दी के लेखकों और परिस्थितियों पर। नीत्शे और मिकियावेली, सार्त्र और कामू आदि की जिन धारणाओं का विश्लेषण इस ग्रन्थ में विस्तार से किया गया है, उनका हमारे जीवन से क्या सम्बन्ध है? सच बात यह है कि हमारे साहित्य में न मानव-मूल्यों का कहीं विघटन हुआ है और न संक्रमण—भारतीजी के मनोजगत में हुआ हो, तो हुआ हो। इस युग के हमारे सभी श्रेष्ठ कवि जीवन और मानव-मूल्यों में गहरी आस्था रखते हैं। इनमें मैं श्री अज्ञेय की भी गणना करता हूँ। नए लेखकों में भारतीजी मुझे ऐसे विचारक लगे, जो साहित्य में झूठा आतंक फैलाकर झूठे मानदण्डों का प्रचार करते

रहते हैं। इससे उन्हें और उन जैसे लोगों को थोड़ी प्रसन्नता होती हो तो होती हो; पर साहित्य के व्यापक हित में यह प्रवृत्ति बड़ी ही घातक सिद्ध हो सकती है।

इस पूरे ग्रुप में अज्ञेय के उपरान्त एक व्यक्ति ऐसा है जिसने सबसे कम लिखकर भी सबसे अच्छा लिखा है। उसका नाम है—विजयदेवनारायण साही। श्री साही अंग्रेज़ी के विद्वान् होते हुए भी हिन्दी के प्रति गहरी सहानुभूति रखते हैं। इधर उनके कई लेख 'कल्पना', 'माध्यम' और 'नयी कविता' में प्रकाशित हुए हैं। श्री साही में एक श्रेष्ठ आलोचक के सभी गुण पाए जाते हैं। 'नयी समीक्षा' के क्षेत्र में उनकी मौलिक देन यह है कि उन्होंने साहित्य को अविभाज्य मानकर उसकी आलोचना की है, अर्थात् जब वे किसी युग, दशक अथवा लेखक की आलोचना करते हैं, तो साहित्य को कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी में बाँटकर बात नहीं करते। जहाँ तक मेरी जानकारी है, हिन्दी समालोचना में यह दृष्टिकोण पहली बार अपनाया गया है और यदि इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया जाय, तो हिन्दी-समीक्षा का रूप ही कुछ-से-कुछ हो जाय। हिन्दी-साहित्य के प्रति श्री साही की वह भावुक दृष्टि नहीं है जो सामान्य हिन्दी-प्रेमी अथवा राष्ट्रभाषा-प्रेमी की होती है। आधुनिक साहित्य की वर्तमान स्थिति से वे थोड़े असन्तुष्ट अवश्य प्रतीत होते हैं, यह सम्भवतः इसलिए कि वे समृद्ध अंग्रेज़ी साहित्य की गौरवमयी परम्परा के सम्पर्क में अधिक रहे हैं; पर उन्होंने छायावाद-युग की जिन कमियों की ओर संकेत किया है, वे वास्तविक हैं। इनकी आलोचना के मान बहुत ऊँचे हैं, इसी से इन्हें कोई भी रचना बहुत जल्दी आकर्षित नहीं करती और न ये किसी साहित्यकार को बहुत ललक-भरी दृष्टि से देखते हैं। इनकी समीक्षा में विस्तार और गहराई, अन्तर्दृष्टि और पकड़ का आभास सहज रूप से मिलता है। इसके ऊपर हास्य-व्यंग्य का पुट रहता है। साहित्य का विश्लेषण करते समय ये उसमें सम्पूर्ण भारत के मानस का प्रतिबिम्ब खोजना चाहते हैं। इनकी यह आकुलता इन्हें इतिहास, पुरातत्त्व, संस्कृति, राजनीति, जीव-विज्ञान एवं मानस-शास्त्र के अध्ययन की ओर इन्हें ले जाती है। श्री साही ने इस बात की शिकायत कहीं की है कि हिन्दी में अच्छे सन्दर्भ-ग्रन्थों की कमी है। इन्होंने अभी तक अज्ञेय और शमशेर के सम्बन्ध में ही विशेष रूप से लिखा है। दोनों लेखों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक विशेष दल और उसके द्वारा परिचालित नीति से बौद्धिक रूप से सम्बद्ध होने पर भी, इनकी दृष्टि अभी तक पक्षपात के दोष से दूषित नहीं हुई है।

'नयी समीक्षा' के विकास में डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का योग थोड़ा महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। इन्होंने 'नयी कविता' के आन्दोलन को 'नवलेखन' के आन्दोलन में परिवर्तित कर, उसे एक नयी दिशा की ओर मोड़ने का प्रयत्न किया है। इनके अनुसार जैसे 'नयी कविता' प्रयोगवाद के आगे की स्थिति है, वैसे ही 'नवलेखन' 'नयी कविता' के आगे की। नयी कविता केवल काव्य-जगत तक सीमित है, जब कि नवलेखन गद्य के विभिन्न माध्यमों से भी सम्बन्धित है। आधुनिक होना नवलेखन की पहली शर्त है। इनका विश्वास है कि आधुनिकता की प्रवृत्ति कविता से बढ़कर

अब उपन्यास, नाटक, यात्रा-वर्णन एवं हास्य-व्यंग्य के क्षेत्र में भी प्रविष्ट कर गई है।

डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी की मुख्य देन आधुनिक अंग्रेजी साहित्य और समीक्षा का विस्तृत अध्ययन कर उनकी प्रवृत्तियों, मानदण्डों और स्प्रिट को हिन्दी में लाना है। हमारी भाषा के लिए विदेशी प्रभाव को ये आवश्यक और उपयोगी मानते हैं। स्वयं इनकी समीक्षा बहुत कुछ अंग्रेज़ी ढंग की होती है। जिस 'नवलेखन' शब्द का प्रचार ये हिन्दी में करना चाहते हैं, वह इंग्लैण्ड में प्रचलित 'न्यू राइटिंग' का अनुवाद मात्र है। अपने ग्रन्थ' हिन्दी नवलेखन' में यूरोपियन नवलेखन का इतिहास प्रस्तुत करते हुए इन्होंने इस प्रवृत्ति को उस व्यापक आन्दोलन का अंग स्वीकार किया है। इस प्रकार नवलेखन का आन्दोलन इनकी दृष्टि में एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बद्ध है। इस दृष्टिकोण के साथ इनका एक आग्रह भी है जिसकी ओर नए समीक्षकों का ध्यान गया है और वह यह कि राजनीति से साहित्य को दूर नहीं रखा जा सकता।

इनके चिन्तन की सीमाएँ दूसरे प्रकार की हैं। एक तो जिस संस्था से ये सम्बद्ध हैं, उसके छोटे-से-छोटे कार्य की इन्होंने अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की है। उसका शायद ही कोई सदस्य हो, जिसके नाम का उल्लेख इन्होने किसी-न-किसी प्रसंग में न किया हो। इससे सम्भव है यह ग्रन्थ कुछ पाठकों को उस संस्था के कार्यक्रमों की रिपोर्ट मात्र प्रतीत हो। दूसरे, आत्म-प्रचार की मात्रा भी इनमें कुछ अधिक पाई जाती है। इनका कहना है : नई कविता की प्रथम अनुभूति पहले रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा तथा फिर लक्ष्मीकांत वर्मा के सहयोग से सम्पादित 'नये पत्ते' के माध्यम से हुई। यह समझना कठिन है कि कोई भी व्यक्ति अपने ग्रन्थ में अपनी लेखनी से अपना उल्लेख इस प्रकार कैसे कर सकता है!

डॉ० जगदीश गुप्त मुख्यत: एक अध्यापक, चित्रकार और सम्पादक हैं। जैसा कि उनके द्वारा सम्पादित 'हिन्दी-रीतिकाव्य-संग्रह' से स्पष्ट है। हिन्दी में डॉ० नगेन्द्र के समान वे भी रीति-काल के विशेषज्ञों में से हैं। प्रारम्भ में अनेक वर्षों तक वे ब्रज-भाषा में 'विश्वजू' नाम से चमत्कारपूर्ण शृंगारी सवैये लिखते रहे और कौन जानता है अब भी चुपचाप लिखते रहते हों। ये सवैये रीतिकालीन कवियों के टक्कर के ही हैं। इसके उपरान्त इन्होंने खड़ी बोली में प्रेम-प्रधान मधुर गीतों की रचना की। प्रयाग में 'परि-मल' का सदस्य होने के उपरांत ये प्रयोगवादी आन्दोलन से सम्बद्ध हुए और मुक्त छन्द का समर्थन करने लगे। इसके लिए इन्हें 'नयी कविता' नामक पत्रिका का सम्पादक बनाया गया। अत: जगदीशजी की स्थिति इस दल में विचित्र-सी है। इनकी मुक्त छन्द की रचनाओं ने इनके साहित्यिक यश की किंचित्मात्र वृद्धि नहीं की, यहाँ तक कि 'तीसरा सप्तक' तक में ये सम्मिलित होने से रह गए। इतना होने पर भी नई कविता के प्रति इनके मन में बड़ी सम्मान-भावना है और इसके विकास के लिए जो भी इनसे बन पड़ता है, वह समय-समय पर करते रहते हैं। नई कविता फल-फूल सके, इसके लिए जगदीशजी के मन में श्री अज्ञेय से भी अधिक उत्साह और उमंग है। इसके लिए वे कभी-कभी श्री अज्ञेय पर भी बरस पड़ते हैं। 'अज्ञेय' जी की 'नये कवि

से' शीर्षक कविता पर अपनी पत्रिका में टिप्पणी लिखते हुए इन्होंने इसे 'आत्म-सम्मान पर चोट' बतलाया था।

'नई कविता' से सम्बन्धित अभी इनका कोई समीक्षा-ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ है; अतः 'नयी कविता' नामक पत्रिका से ही इनके कर्म के महत्व का अनुमान लगाया जा सकता है। 'नयी कविता' के लेखों पर ध्यानपूर्वक विचार करें, तो यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि यह एक प्रचारात्मक पत्रिका है। इसमें नई समीक्षा के नाम पर श्री अज्ञेय ने सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, श्री विजयदेवनारायण साही ने लक्ष्मीकान्त वर्मा, श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने मलयज और डॉ० रघुवंश ने श्री विपिनकुमार अग्रवाल के काव्य का विवेचन समय-समय पर किया है। ये सभी कवि और समीक्षक 'परिमल' के सदस्य रहे हैं। श्री जगदीशजी या तो छायावादी आलोचकों, उदाहरण के लिए पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, की निंदा करते रहे हैं या उन विषयों पर लिखते रहे हैं जो अज्ञेयजी को प्रिय रहे हैं, जैसे व्यक्तित्व की खोज, आधुनिकता तथा कविता और अकविता। नयी कविता का समर्थन ये लक्ष्मीकांत वर्मा और डॉ० धर्मवीर भारती से कुछ भिन्न रूप में करते रहे हैं। कोई छन्द का प्रश्न उठाए तो ये कहेंगे शब्द की लय से भिन्न एक 'अर्थ की लय' भी होती है; कोई रस की बात करे तो कि ये समझाएँगे, देखिए, रसानुभूति के साथ एक 'सह-अनुभूति' भी होती है और कोई कहे कि आजकल की कविता कुछ गद्यवत् होती जा रही है तो ये अत्यन्त गम्भीर मुद्रा बनाकर यह बात उसके मस्तिष्क में बिठाने का प्रयत्न करेंगे कि कविता के साथ एक 'अकविता' भी होती है और यदि कोई इस बात पर हठ करे कि नयी कविता कम समझ में आती है तो ये निश्चिन्त भाव से उत्तर देंगे कि वह तो 'समानधर्माओं' के लिए जारही है। जहाँ तक डॉ० जगदीश गुप्त की समीक्षा-शैली का सम्बन्ध है, उसमें एक प्रकार का फीकापन पाया जाता है। कुल मिलाकर न इनकी मुक्त छन्द की कविता प्रभावशाली बन पाई है और न इनकी आलोचना।

इस विवेचन के उपरान्त 'नयी समीक्षा' की कुछ सामान्य विशेषताओं का उल्लेख हम कर सकते हैं—

(१) नए समीक्षकों ने श्री सच्चिदानन्द 'अज्ञेय' को एक स्वर से नए आन्दोलन का नेता स्वीकार कर लिया है और उनकी स्थिति को दृढ़ करने के लिए उनके सम्बन्ध में समय-समय पर प्रशंसात्मक ढंग से लिखते रहते हैं। 'नयी कविता' के सम्पादक डॉ० जगदीश गुप्त की प्रख्यात घोषणा है : मैं उन्हें निस्संकोच नयी कविता का 'शलाका पुरुष' कह सकता हूँ।

(२) इनमें से अधिकांश आलोचक प्राचीन और आधुनिक कविता को मान्यता प्रदान नहीं करते। अपने से पूर्व के काव्य को या तो ये उपेक्षा और तिरस्तकार की दृष्टि से देखते हैं या उसकी निन्दा करते हैं।

(३) इन्हें प्रगति-विरोधी तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये रूढ़िवादी नहीं हैं; पर साम्यवादी विचारधारा के ये कट्टर शत्रु हैं और इस बात को ये छिपाते भी

नहीं। प्रयोगवादियों को एक शब्द में हम 'साम्यवाद—विरोधी-दल' (Anti-communism group)कह सकते हैं।

(४) जैसे छायावाद गांधीवाद पर और प्रगतिवाद मार्क्सवाद पर आधारित है, वैसे ही प्रयोगवाद फ्रायड के सिद्धान्तों पर वाह्य संघर्ष के स्थान पर। चेतना की जटिलता को ये अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं; अतः आलोचना के सिद्धांत भी ऐसे बना लिए हैं जिनसे समाज के स्थान पर व्यक्ति को प्रमुखता मिले। इस प्रकार समष्टि के स्थान पर व्यष्टि की ओर ध्यान आकर्षित करने से काव्य के समान इनकी आलोचना में भी व्यक्तिवाद का प्राधान्य हो गया है।

(५) इस आलोचना-सम्प्रदाय में अभी तक जिन बातों पर विशेष बल दिया जाता रहा है वे हैं—आधुनिकता, बौद्धिकता, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और क्षणवाद। ये लोग प्रबुद्ध व्यक्तियों के लिए लिखते हैं और साधारणीकरण के सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखते। सभी मुक्त छन्द के समर्थक हैं। आलोचना के क्षेत्र में जिन शब्दों को ये बार-बार दुहराते हैं, उनमें से कुछ ये हैं—आयाम, परिप्रेक्ष्य, सन्दर्भ, भाव-बोध, असम्पृक्त और प्रतिमान।

(६) इनके पास अभी तक अपना कोई जीवन-दर्शन नहीं है।

'नयी समीक्षा' के क्षेत्र में श्री अज्ञेय को छोड़कर अन्य कोई प्रतिभाशाली विचारक नहीं है। शेष लोग इन्हीं के विचारों को या तो दुहराते रहते हैं अथवा उनकी विस्तार से व्याख्या करते रहते हैं। यों दो-एक छिटपुट अच्छी बात सभी कह लेते हैं; पर इनमें से किसीका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। पश्चिम के नए साहित्य और नए दर्शन से ये इतने अधिक अभिभूत हैं कि उसी की चर्चा में रात-दिन लगे रहते हैं। यदि इनकी पत्र-पत्रिकाओं को उठाकर देखें, तो लगता है जैसे एक विशेष दल के कुछ गिने-चुने व्यक्तियों की चर्चा करना ही इनके जीवन का लक्ष्य है। व्यक्ति-प्रतिभाओं के लिए न इनकी पत्रिकाओं में स्थान है और न ग्रन्थों में; अतः इनकी आलोचना सम्पूर्ण समकालीन काव्य पर भी आधारित नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि सृजनशीलता की वास्तविक समस्याओं से ये लोग आंख मिलाकर नहीं देख पाते और आलोचना पर आलोचना लिखते चले जाते हैं। ऐसी दशा में दो में से एक ही बात कही जा सकती है—या तो नयी कविता ही रद्दी है या फिर इनकी मान्यताओं में कहीं कुछ खोट है। काव्य के सिद्धान्त तो ऐसे होने चाहिए जो वाल्मीकि से लेकर मलयज तक की कविता पर लागू हो सकें। अति वैयक्तिकता नयी समीक्षा का ऐसा अवगुण है जिसके कारण नयी कविता के गुण सामूहिक रूप से पाठकों के सामने उभरकर आ ही नहीं पा रहे। ये लोग रात-दिन पाठकों का ध्यान महत्वहीन विषयों और सन्दर्भहीन प्रसंगों की ओर कुछ इस ग़लत ढंग से खींचते रहते हैं कि नयी कविता का वास्तविक महत्त्व आँखों से ओझल होता चला जा रहा है। सच बात यह है कि 'नयी समीक्षा' के क्षेत्र में वैचारिक धरातल पर आज कोई ऐसा आलोचक नहीं है जो नयी सृजनशीलता को दिशा देकर उसे ऊँचा उठा सके।

—डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया

सन् १९४७ के बाद का ब्रज-साहित्य

हिन्दी-साहित्य में 'ब्रजभाषा-साहित्य' की बहुत प्राचीन परम्परा रही है। आधुनिक काल में भी जहाँ इस परम्परा का निर्वाह 'ब्रज-क्षेत्र' से बाहर अनेक गण्यमान कवि तथा साहित्यकार (रामचन्द्र शुक्ल, रामप्रसाद त्रिपाठी, वियोगी हरि, नवीन, डॉ० रसाल, सरस, द्वारिका प्रसाद मिश्र, रीवाँ नरेश) करते रहे, वहाँ आज स्थिति इतनी बदल गई है कि ब्रजभाषा में निष्णात कवि भी खड़ी बोली को ही माध्यम के रूप में अपना रहे हैं। जहाँ ब्रज में बुन्देलखण्ड (अम्बिकेश, ब्रजेश, लाल, सेवकेन्दु), अवध (हितैषी, प्रणयेश, श्याम, त्रिशूल) और काशी (अवधेश, किंकर) तक के कवि लिखा करते थे वहाँ आज ब्रज-क्षेत्र के केन्द्र मथुरा-वृन्दावन में भी खड़ी बोली का ही बोलबाला है। यह काल के प्रवाह का प्रभाव है कि आज 'ब्रजभाषा' बोली मात्र रह गई है और 'खड़ी बोली' अपने विपुल वाङ्मय के कारण 'साहित्यिक भाषा' के रूप में आसीन है। आलोच्य काल में साहित्यिक दृष्टि से चाहे कम प्रगति हुई हो पर ब्रज का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन विशेष हुआ। जहाँ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के पुराने शोध-कार्य का हिन्दी अनुवाद सन् १९५४ ई० में प्रकाशित हुआ वहाँ चन्द्रभान रावत, (मथुरा की बोली), अम्बाप्रसाद 'सुमन' (अलीगढ़-बुलन्दशहर की बोली), रामस्वरूप चतुर्वेदी (आगरा की बोली) आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने (हिन्दी शब्दानुशासन के परिशिष्ट में) ब्रजबोली पर मौलिक कार्य प्रस्तुत किए हैं। लेखक ने स्वयं 'ब्रजभाषा और खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन' प्रस्तुत किया है।

इस काल में भी प्रायः भक्ति-काव्य की ही विशेष प्रधानता रही और उसमें भी रीतिकालीन प्रवृत्तियों के परिवेश में कृष्ण-काव्य का ही प्राधान्य रहा है। इस धारा में पुरानी पीढ़ी के वयोवृद्ध साहित्यकार तो बहते ही रहे, पर नयी पीढ़ी ने भी कम उत्साह प्रदर्शित नहीं किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आज की 'नयी कविता' के आचार्य जगदीश गुप्त द्वारा अपने प्रारम्भिक काल में लिखी 'नेत्र-वर्णन' सम्बन्धी कविताएँ रीतिकालीन उत्कृष्ट कविताओं से टक्कर ले सकती हैं। इस दिशा में मुकुन्द चतुर्वेदी का सहस्रों पद्यों में रचा गया 'कृष्ण कौस्तुभ' महाकाव्य, रसिया सागर, राधा कुण्डलिया, यमुना लहरी (प्र०); आकार-प्रकार, वेश-भूषा, बोलचाल से ब्रज-संस्कृति के मूर्तिमान स्वरूप रामलला की 'द्वारिकाधीश पच्चीसी', द्रौपदी-दुकूल (प्र०); राधेश्याम की तर्ज पर लिखा गया भगवान दत्त चतुर्वेदी का 'कृष्ण चरित'; गोविन्द कवि का १६ सर्गों में रचित 'महारास' महाकाव्य; गोकुलवासी वयोवृद्ध देवी द्विज का 'गोपा-

लाष्टक' (प्र०); कैलाशचन्द्र 'कृष्ण' की 'श्यामा-श्याम पच्चीसी' तथा जमुना-जामिनी; श्याम संगीत, श्याम शतक, वृन्दावन-शतक आदि के रचयिता बाबूराम शास्त्री की वंशी (प्र०); जीवनलाल पाण्डे का 'हलधर हिलोर; आनन्द गो० का रोला छन्द में रचित 'श्रीमद्भागवतसार'; किशोरी शरण अलि का 'वृन्दावन हित हरिवंश यश'; अनेक चित्र-काव्यों के रचयिता तथा मेघदूत के ब्रजभाषा के अनुवादक हृषीकेश चतुर्वेदी का यमक-श्लेषमय काव्य 'रामकृष्णायन'(प्र०) तथा सरस कवियों में अग्रगण्य एवं कमनीय कण्ठ से ब्रजभाषा काव्यधारा में स्नान करानेवाले अमृतलाल चतुर्वेदी का 'श्याम संदेशौ' उल्लेखनीय हैं। अन्य विषयों में विक्रमादित्य का चरित्र ब्रज के कवियों का आकर्षण रहा है जिसमें गोविन्द कवि का 'विक्रम-विलास' और रामलला का 'विक्रमादित्य' उल्लेखनीय हैं। सुमनेश का 'यक्षिणी' खण्ड-काव्य भी महत्त्वपूर्ण है।

ब्रजभूमि की रज में भक्ति-रस के साथ सहज हास्य एवं चुटीले व्यंग्य के कीटाणु भी पर्याप्त हैं। वयोवृद्ध साहित्यकार, घासपात पर 'देव पुरस्कार' विजेता महाकवि शंकर के पुत्र हरिशंकर शर्मा; छेड़छाड़ के रचयिता हृषिकेश चतुर्वेदी; हास्य-रसाचार्य गोपालप्रसाद व्यास; हास्यरस के शोध-कर्त्ता तथा कवि डॉ० बरसाने लाल चतुर्वेदी; कवि-सम्मेलनों के सिरमौर काका हाथरसी तथा तुक्तककार भारतभूषण अग्रवाल का सम्बन्ध ब्रज-क्षेत्र से ही है। समय की माँग के अनुसार आप सभी ने ब्रज के स्थान पर खड़ी में ही अधिक लिखा है। शुद्ध ब्रजभाषा में बालमुकुन्द चतुर्वेदी की हास्य सतसई, भंगरंग छंद, चाचा की चटनी, छेडछाड़ (प्र०), मूंछ महासम्मेलन तथा रामलला की 'मोदक-महिमा' ली जा सकती है।

'ब्रज-माहात्म्य' से सम्बन्धित रचनाओं में मुकुन्द कवि का 'मथुरा मकरन्द', 'ब्रजरज', रामलला का 'गिरिराज अष्टक', 'वृन्दावन-विरुद'; विष्णुदत्त शर्मा का 'गिरि-राज' तथा कृष्णचन्द्र शर्मा 'कृष्ण' का 'ब्रज वसुन्धरा' (प्र०) उल्लेखनीय हैं।

राष्ट्रीय धारा का भी जनपदीय भाषाओं पर विशेष प्रभाव पड़ा है। इस दिशा में सामयिक कविताओं के अतिरिक्त (भगवानदत्तजी के पद्य, गोविन्दजी के '२५० छन्द तथा गीत', साहबसिंह मेहरा का 'सुराज गंगा', सुमनेश के छन्द, मुकुन्दजी का 'विप्लव गान' (प्र०) आदि) स्थायी साहित्य भी प्रकाशित हुआ है, जिसमें गांधी-साहित्य लिया जा सकता है। इस दृष्टि से गांधी-निधन (रामलला कृत), लोक-शैली में लिखा शर्मनलाल अग्रवाल द्वारा रचित 'गांधी-आल्हा' (प्र०), मुकुन्द कवि का युग छन्दमाला (प्र०) उल्लेखनीय हैं। हृषीकेश चतुर्वेदी की वीर कुंवरसिंह पर लिखी कविता बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुई है।

खेमसिंह नागर, नवाबसिंह चौहान, मूढ़, खिच्चो आटेवाला, अंकुशजी, उल्फत-सिंह 'निर्भय', विश्वम्भरनाथ उपाध्याय सामयिक विषयों पर लिखते रहे। विष्णुदत्त शर्मा ने चीन की बर्बरता, चाऊ के प्रति, गोविन्द कवि की 'चीन पर', 'पंचशील', 'सह अस्तित्व' पर रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

'किसान ही भारत राष्ट्र के स्तम्भ हैं' यह बात इस अन्न-संकट ने बिल्कुल स्पष्ट कर दी है। वस्तुतः किसान ही कल्पवृक्ष, देवमणि और कामधेनु है। दरिद्रता में

लगे हुए इस जीव की ओर भी कवियों का ध्यान गया। इस दिशा में उल्फतसिंह 'निर्भय' ने अपनी 'किसान सतसई', 'किसानों की पुकार', 'किसानों का बिगुल' में उनकी तरफ से उद्घोष किया है। कविवर सुमनेश ने 'हलाष्टक' की रचना की। इस दिशा में सबसे उल्लेखनीय कृति है जनपदीय कवि जगनसिंह संगर द्वारा रचित 'किसान सतसई'(प्रकाशित १९४८ ई०), जिसकी भूमिका में कवि ने स्पष्ट किया है, 'अपने ही बन्धुओं के धुँधले चित्र उन्हीं की अपनी ब्रजभाषा 'ब्रज भारती' में खींचने को तिलमिला उठा।' वस्तुतः उन्होंने किसान की दरिद्रता का नग्नचित्र सुन्दर, सरस, तथा भावपूर्ण शैली में प्रस्तुत कर माँ-भारती की सेवा की है जिस पर उत्तर प्रदेश सरकार ने ८०० रुपये का पुरस्कार भी प्रदान किया है।

पुरानी शैलियों की परिपाटी का निर्वाह आलोच्य काल में किया जाता रहा। वियोगी हरिजी की 'वीर' तथा रामचरित उपाध्याय की 'ब्रज' तथा 'दुलारे दोहावली' की परम्परा में गो० मदन मोहन की राष्ट्र सतसई, फलक की 'फलक सतसई' 'संयमी जी की 'संयमी सतसई', मुकुन्द की 'हास्य सतसई' रामेश्वर करुण की 'करुण सतसई' तथा सेंगर की 'किसान सतसई' उल्लेखनीय हैं। उद्धवशतक की परम्परा में 'अभिमन्यु वध'; नख-शिख तथा नायिका-भेद की परम्परा में सुमनेश तथा रामलला का नायिका-भेद, नख-शिख; सत्यनारायणजी के सहपाठी वयोवृद्ध धनीराम प्रेम (रिबैरी-आगरा) का नायिका के केशों का वर्णन; ऋतुवर्णन में देवी द्विज, कृष्ण कवि, रामलला, भगवानदत्त, गोविन्द चतुर्वेदी, महेशप्रसाद, सुमनेश के कवित्त-सवैये; समस्या-पूर्ति में रामलला तथा गोविन्द के छन्द संग्रहणीय हैं। ब्रजभाषा-मर्मज्ञ प्रभुदयाल मीतल का 'ब्रजसाहित्य में नायिका-भेद' (१९४८ ई०) तथा 'ब्रजसाहित्य में ऋतु सौन्दर्य' (१९५० ई०) महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। आलोच्य-काल में पुराने ब्रजभाषा-साहित्य पर कम-से-कम १०० शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किये गए होंगे जिनका विवेचन तो एक शोध-प्रबन्ध में ही किया जा सकता है।

अमृतध्वनि छन्द के आधुनिक प्रवर्तक रामललाजी हैं, जिनकी इस क्षेत्र में कोई समता नहीं कर सकता। आपका 'अमृतध्वनि शतक' उल्लेखनीय है। अन्य कुछ कवियों ने भी प्रयोग किये हैं।

इधर पद-परम्परा का विशेष विकास न हो सका, पर बाबा शीतलदास 'मौनी' ने वृन्दावन की गली-गली में दीवारों पर गेरू से कई हज़ार पद लिखे हैं।

काव्येतर अन्य विधाओं में मेहराजी की चौपाल गीति नाटिका, रामनारायण अग्रवाल, शर्मनलाल अग्रवाल, डॉ० सुमन, डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी, मोहन स्वरूप भाटिया ने रेडियो से प्रसारित होने वाले ध्वनि-रूपक लिखे हैं। गोविन्द चतुर्वेदी ने ध्वन्यालोक का ब्रजभाषा में अनुवाद प्रस्तुत किया है। लोक-कहानियों में डॉ० सत्येन्द्र का संकलन, रामनारायण अग्रवाल का संग्रह तथा आदर्शकुमारी यशपाल के संग्रह 'पुण्य की जड़ हरी', 'ब्रज की लोक कथाएँ' उल्लेखनीय हैं। 'ब्रज लोक साहित्य के अध्ययन' का सूत्रपात कर्मठ साहित्यकार तथा सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ० सत्येन्द्र के शोध-प्रबन्ध 'ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन,' (१९४९ ई०) से होता है, आपके ही सतत

प्रयत्नों, प्रयासों से ब्रज-गीत, कहानियों, कहावतों, त्योहारों, व्रत-अनुष्ठानों आदि पर वैज्ञानिक शोध-कार्य हो चुका है। आजकल आप 'ब्रज साहित्य का इतिहास' लिखने में संलग्न हैं।

ब्रज-साहित्य-मण्डल के भूतपूर्व प्रधान-मन्त्री कृष्णदत्त वाजपेयी के सम्पादकत्व में 'ब्रज का इतिहास' दो खण्डों में प्रकाशित हुआ। अन्य दिशाओं में—शर्मनलाल द्वारा लिखित 'रास लीला' तथा रामनारायण अग्रवाल द्वारा सम्पादित 'ब्रजयात्रा' तथा "रासलीला' ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। 'ब्रज भारती' के भूतपूर्व यशस्वी सम्पादक, ब्रज साहित्य, कला और संगीत के विशेषज्ञ जवाहरलाल चतुर्वेदी के 'सूरदास : अध्ययन सामग्री' का प्रकाशन इस काल की उपलब्धि कही जा सकती है। आपके ही अथक परिश्रम के फलस्वरूप ब्रज-साहित्य-मण्डल के तत्त्वाववान में प्रकाशित तथा वासुदेव-शरण अग्रवाल, गुलाबराय, सत्येन्द्र तथा गोपालप्रसाद व्यास के सम्पादक-मण्डल द्वारा सम्पादित 'पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ' सन् १९५३ में वयोवृद्ध साहित्यकार सेठ कन्हैया-लाल पोद्दार को समर्पित किया गया। अभिनन्दन-ग्रन्थ की परम्परा में प्रकाश-स्तम्भ के तुल्य यह ग्रन्थ (श्रद्धांजलि, साहित्य, श्रीकृष्ण, इतिहास-पुरातत्त्व-कला, ब्रज़ जन-पदीय-पाँच खण्डों में प्रकाशित) वस्तुतः ब्रजभाषा, साहित्य-संस्कृति का सन्दर्भ ग्रन्थ बन गया है।

अन्त में भाव, भाषा, अलंकारादि से ओतप्रोत 'लक्ष्मी स्वयंवर' के रचयिता, अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थों के लेखक, ब्रजभाषा की जीती-जागती लाइब्रेरी 'सैयाँ' के सुपुत्र चुन्नीलाल शेष को स्मरण करना चाहता हूँ जो हमारे मध्य आज नहीं रहे। ब्रज-साहित्य को उनसे बड़ी आशाएँ थीं।

दुर्भाग्य से ब्रज-साहित्य-मण्डल तो आज निष्क्रिय पड़ा है, पर सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव द्वारा संस्थापित 'सूर स्मारक मण्डल' तथा रामनारायण अग्रवाल एवं सेठ गोविन्ददासजी के सत्प्रयास के फलस्वरूप स्थापित 'ब्रज-कला-केन्द्र' आदि संस्थाएँ ब्रज-साहित्य-संस्कृति की सुरक्षा में विशेष प्रयत्नशील हैं।

—डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित

सन् १९४७ के अनन्तर अवधी साहित्य

अवधी जीवित भाषा है, जिसमें आज भी साहित्य-सर्जन हो रहा है, और आज भी दैनिक जीवन में वह भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनी हुई है। अवधी की साहित्यिक परम्पराएँ अत्यन्त गौरवपूर्ण और उज्वल रही हैं। इस भाषा, विभाषा या बोली के माध्यम से पचासों महाकाव्यों का प्रणयन हुआ है, जिनमें से कतिपय प्रकाश में आए और अधिकांश आज भी अप्रकाशित हैं। तुलसीदास, मलिक मोहम्मद जायसी, कुतुबन, मंझन, नूर मुहम्मद, शेख नबी, शेख निसार, नजफ अली सलोनी, कासिम शाह, घाघ,

भड्डारी, गिरधर कविराय, सबलसिंह चौहान, प्रतापनारायण मिश्र, धनसिंह राय भावन, भौन, शम्भुनाथ मिश्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, द्वारिका प्रसाद मिश्र जैसे महाकवियों की प्रतिभा का प्रकाशन जिस बोली के माध्यम से हुआ हो, उसके सौभाग्य की समता कौन भाषा कर सकती है ? अवधी काव्य धारा आज भी साहित्य के धरातल पर प्रवाहमान है। तुलसी से बहुत पूर्व आविर्भूत सन्तों ने भी अवधी के माध्यम से अपने विचारों को काव्य-परिधान पहनाकर जनता तक पहुँचाया था और आज भी इस परम्परा को अपनी प्रतिभा से बल देने वाले कवियों की संख्या कम नहीं है।

सन् १९४७ भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण वर्ष है। सैकड़ों वर्षों की दासता की शृंखलाएँ विच्छिन्न हुई। राजनीतिक परिस्थितियों के साथ-ही-साथ साहित्यिक प्रवृत्तियों में भी परिवर्तन समुपस्थित हुआ। समाज एवं जीवन की प्रगति की दिशाओं में परिवर्तन हुआ। जीवन के मापदण्ड और मूल्य बदल गये। अवधी के कवि और लेखक इन ऐतिहासिक परिवर्तनों तथा क्रान्तियों द्वारा समुपस्थित अभिनव वातावरण से अछूते न रहे। यह सत्य है कि 'कृष्णायन' के अनन्तर अवधी में आज तक दूसरा महाकाव्य या चरित-काव्य नहीं लिखा गया, न श्रीयुत द्वारिकाप्रसाद मिश्र जैसी उत्कृष्ट काव्य प्रतिभा ही आज अवधी के किसी कवि में है, फिर भी अवधी काव्य-क्षेत्र कविविहीन नहीं है। जहाँ 'कृष्णायन' हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अपने उत्कृष्ट काव्यत्व, महाकाव्यत्व और भाषा सौष्ठव के कारण बारम्बार समारोहपूर्ण शब्दों में उल्लिखित होगा वहाँ रमई काका, भुशुन्डि, वागीश, ब्रजनन्दन, पढ़ीस, लिखसि, हितैषी, कृपाशंकर मिश्र आदि अपने तीव्र व्यंग्य, शब्द-चयन तथा ग्रामीण जीवन की छटा की अभिव्यक्ति के लिए सदैव स्मरण किये जायेंगे। 'कृष्णायन' के अनन्तर अवधी काव्य स्फुट और विविधता से पूर्ण है। आज अवधी में काव्य लिखने वाले प्रतिभावान् कवियों की संख्या प्रायः ७०-७५ है। इन कवियों ने काव्य विषय को आधुनिक जीवन से ग्रहण किया है, समाज से ग्रहण किया है। इनके विषय में रोचक बात यह है कि ये अपनी सरकार की नीति और योजनाओं का पूर्णतया समर्थन भी करते हैं, और सरकार की असफलताओं, मँहगाई, गरीबी, बढ़ती हुई बेकारी, बीमारी, भ्रष्टाचार, पक्षपातवाद, भाई-भतीजावाद, जातिवाद आदि की डटकर निन्दा भी करते हैं। सन् १९४७ के बाद के कवियों की रचनाएँ छोटी पर व्यंग्यों से पूर्ण हैं। ये रचनाएँ पाठकों या श्रोताओं के अन्तस को छूने में समर्थ हैं। बढ़ती हुई मँहगाई, बेकारी तथा भ्रष्टाचार ने आज के कवियों को सर्वाधिक आकर्षित किया है। आज का अवधी कवि राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्राणित होकर चीनियों के अन्यायपूर्ण अभियान की निन्दा और आलोचना एवं भारतीय सैनिकों की वीरता का गान करने में भी किसी से पीछे नहीं है। तात्पर्य यह है कि अवधी का कवि आज भी अपने दायित्वों से पूर्णतया परिचित और सक्रिय है। जीवन, समाज, संसार की गतिविधि से वह परिचित एवं जागरूक है। आज की अवधी कविता का वर्ण्य विषय दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम है सामाजिक तथा द्वितीय है राजनैतिक। सामाजिक विषयों में उक्त समस्या, मुकदमेबाज़ी, वरखोज, किसान, वृद्ध-विवाह, खलिहान, लक्ष्मीपूजन, सोना, लोहा, परवशता, पुरानी चुनरी,

दिगशूल, धरती, व्रत के ढोंग, चुनाव, शराब के दुष्प्रभाव, वेकारी, मकानों की दुर्लभता, घूसखोरों की वन्दना, मँहगाई में पर्व, कन्ट्रोल की दूकान, क्रोधी अफसर, जननी की आशा, अन्न देवता, गोधन, दुखी गाँव, गाँव का तालाब, कृपण सास, दीवाली, खटमल, फैशन विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रत्येक विषय का हमारे दैनिक जीवन से सम्बन्ध है। कवियों, विशेषकर रमई काका, भुशुण्डि, कृपाशंकर मिश्र, नूतन, देहाती, ब्रजनन्दन, लिखीस, वागीश, शास्त्री, आदि ने इन विषयों में व्यंग्यों के माध्यम से आज के विडम्बनापूर्ण जीवन का चित्रण किया है। व्यंग्य लेखन में वैसवाड़े का प्रत्येक कवि कुशल है। हिन्दी के पाठकों को बैसवाड़े के प्रसिद्ध लेखकों निराला, सनेही, हितैषी, रामबिलास शर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, देवीदत्त शुक्ल, प्रताप नारायण मिश्र के मार्मिक व्यंग्य बिसारना नहीं होगा। उपर्युक्त वर्ण्य विषय में देश की दुर्दशा और सामाजिक विपन्नता का चित्रण हुआ है। इन विषयों में सत्य एवं यथार्थ कटु रूप में सामने आता है। राजनैतिक विषयों में भारत की महानता, भारत की दुर्दशा, गांधी, नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद तथा सुभाष वोस की उपलब्धियों का विशेष वर्णन है। इस दृष्टि से रमई काका की भारत का सिपाही, नेता का तुलादान, भुशुन्डि की 'भारत के वीर' तथा कृपाशंकर मिश्र की रचना 'सैनिक की पाती' विशेष रूप से पठनीय हैं। अवधी के कवियों ने चीनी आक्रमण के अवसर पर ओजपूर्ण उत्कृष्ट रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। नेताजी बैसवाड़े के कवियों के प्रियजन नायक हैं। रमई काका का 'नेताजी' शीर्षक आल्हखण्ड विशेष जनप्रिय है। यह आल्हखण्ड नस-नस में वीर रस का संचार करने वाला है।

अवधी के कवियों का नीतिकार रूप बड़ा आकर्षक और प्रभावशाली है। रमई काका, देहाती, भुशुन्डि की कहावतें बहुत प्रचलित हैं। काका की रचना से कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं :

ई आही पक्के लखनउवा।
कहै चीन के दूने दाम, बात-बात माँ करें सलाम।
चीकट तकिया चटक लिहाफ, घर माँ गन्दे बाहर साफ॥
बड़ा तकल्लुफ कड़कै खाँय, याक कौर का सत्तर दाँय॥
नाजुक देहीं सिर पर पल्ला, आँखिन सुरमा अंगुरिन छल्ला॥
तितुर लिडावै कवौ कबुतरन के हैं फेर॥
तिथि तेउहार उडै कनकउवा, जानि लीन्ही पक्का लखनउवा॥

इसी प्रकार परमात्मादीन पांडे की कहावतें बैसवाड़े में बहुत प्रिय है। उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय पंक्तियाँ दी जाती है :

१. नंगा, मंगा, भंगा, तीनि।
साथ न लीजै आतमदीन॥
२. गांठी, लाठी, काठी तीनि।
पोढि के बाँधौ आलमदीन॥
३. साखी, माखी, पांखी तीनि।
तुच्छ कहावै आतमदीन॥

अवधी के नीतिकारों में खगनिया विशेष प्रसिद्ध है खगनिया, पुरवा (जि० उन्नाव) की रहने वाली बासू तेली की पुत्री थी। अशिक्षित खगनिया की कतिपय पहेलियाँ यहाँ उद्धृत हैं।

१. **भीतर गूदर ऊपर नाँगि, पानी पियै परारा माँगि।**
तिहि की लिखी करारी रहै, बासू केरि खगनिया कहै। दावात।

२. **लम्बी चौडी आगुर चारि, दुहूँ और ते डारेनि फारि।**
जीव न होय जीव का गहै, बासू केरि खगनिया कहै॥ कंघी॥

इसी परम्परा में कवि देहाती की रचनाएँ भी पठनीय है :

बनकट चाकर पौंकट जूत। चंचल विटिया बंचर पूत॥
नटखट तिरिया लागै भूत। लड़े मुकदिमा बिना सबूत॥
कहै दिहाती रखियों याद। इनकी धोय गई मर्याद॥

इस प्रकार आज के अवधी काव्य का वर्ण्य विषय विविधता सम्पन्न तथा सरस है।

अवधी कवियों की रचनाओं से उनके व्यक्तित्व की मस्ती, सरलता एवं निर्भयता प्रतिबिम्बित होती है। सम्भवत: यह इस अवध प्रदेश का पुण्य प्रभाव है। 'कवि न होउ नहि चतुर कहावों' लिखकर महाकवि तुलसीदास ने जो विनम्रता का परिचय दिया था, वह आज के कवियों के लिए आदर्श बन गया। पण्डित द्वारिकाप्रसाद मिश्र से लेकर आज तक तरुण कवि सुन्दर, सरस छन्दों की रचना करता हुआ भी आत्म-निवेदन में तत्पर है।

प्राचीन अवधी काव्य की रचना प्रमुखतया दोहा चौपाई छन्दों में हुई। यह परम्परा जायसी से लेकर द्वारिकाप्रसाद मिश्र तक अक्षुण्ण रही है परन्तु आज का कवि इस दृष्टि से परम्परा का विसर्जन करके आगे बढ़ गया है। आज सवैया, घनाक्षरी, कवित्त, गजल, दोहा, रोला आदि अवधी कवियों के प्रिय छन्द हैं। इन प्रचलित छन्दों के अतिरिक्त गीत, गज़लों में भी अवधी कविता की रचना हो रही है। कृपाशंकर मिश्र वर्तमान अवधी के बेजोड़ प्रतिभासम्पन्न कवि हैं। खड़ी बोली और अवधी दोनों में ही मिश्रजी काव्य-रचना करते हैं। मिश्रजी ने अवधी में भी अतुकान्त काव्य रचना की है, उदाहरणार्थ

ठाढ है हरू नीम्बी की डार,
कल्वाना बैलु ठाढ पगुर्याय,
दुसरका परा,
गलारै कउबा रव्वादै कान,
किलोनी चपठा,
गउझारि के नीम्बि के तरे परा,
जर-जर खेतिहर॥

रमई काका सभी प्रकार के छन्दों का प्रयोग करने में कुशल है। उनका एक विरहा छन्द देखिये।

जेठ दुपहरिया माँ लूक कै बयरिया,
देँहिया उघारे माड़ै मड़नी किसनवा।
थके-थके पाँव धरै डगमग होइकै,
तन ते बहत बूँद बूँदन पसिनवा॥

अवधी के लोक-छन्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। विरहा, विदेसिया छन्दों का तो खूब प्रयोग हुआ ही है, साथ ही आल्हा छन्द में भी प्रचुर रचनाएँ हुई हैं। अवधी में अनेक आल्हखण्डों की रचना हुई, जिनमें रमई काका का 'नेताजी' तथा ललिता प्रसाद मिश्र की रचनाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं। प्राचीन एवं नवीनतम छन्दों का प्रयोग बराबर अवधी में हो रहा है, यह अवधी की प्रगतिशीलता का द्योतक है। लोकोन्मुख होने के कारण तथा युग की लोकचेतना की पुकार पर अवधी ने लोक धुनों और सभी प्रकार के छन्दों को अपनाया है।

इसी दृष्टि से अवधी काव्य का मूल्यांकन भी आवश्यक है। आज अवधी में शृंगार, हास्य, करुण तथा वीर रसों की अभिव्यक्ति विशेष हो रही है। हास्य रस की रचना में रमई काका, भुशुन्डि, कृपाशंकर मिश्र, देहाती, वागीश आदि विशेष सफल हुए हैं। इनका हास्य शिष्ट, मर्यादित तथा व्यंग्य-प्रधान है। करुण रस से ओतप्रोत कविताएँ रमई काका, कृपाशंकर मिश्र, व्रजनन्दन, नूतन, दीप नारायण दीप, आदि लिखने में सफल हुए हैं। और वीर रस की रचना तो प्रायः प्रत्येक कवि ने सफलता के साथ की है। हास्य एवं वीर रस अवधी के कवियों को बहुत प्रिय हैं।

अवधी का यह सौभाग्य है कि अनेक कवयित्रियाँ भी इस भाषा में काव्य रचना कर रही हैं। खगनिया का उल्लेख ऊपर हो चुका है। सन् १९४७ के बाद दमयन्ती दीक्षित, तोरन देवी शुक्ल, 'ललो' सुमित्राकुमारी सिन्हा, आदि ने प्रचुर अवधी काव्य की रचना की है। इनका योगदान महत्वपूर्ण है। सुमित्रा कुमारी सिन्हा ने अवधी में सुन्दर गीतों की रचना की है। अषाढ़ का आगमन, 'माटी-कन्योता' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। दमयन्ती दीक्षित की अप्रस्तुत योजना बड़ी स्वाभाविक और अच्छी है। उदाहरणार्थ :

ह्वइ रहा रहे दिन का अन्त, पच्छिम माँ छाई अरुनाई।
मानो रजनी कै माँग भरै, सन्ध्या कुंकुम अच्छत लाई।

कवयित्रियों के काव्य का वर्ण्य विषय प्रकृति-चित्रण से अधिक सम्बन्धित है। इनकी अप्रस्तुत योजना सरल एवं स्वाभाविक है।

सन् १९४७ के बाद का अवधी साहित्य एकांगी नहीं है अर्थात् उसमें कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध-साहित्य की सभी विधाओं की रचना हुई है और हो रही है। रमई काका ने अवधी में अनेक सुन्दर नाटकों का प्रणयन किया है। काका एकांकी रचना में भी कुशल हैं। भुशुण्डि ने अवधी में कहानियाँ और गद्य पैराडी रचना की है। 'उसने कहा था' के आधार पर लिखित उनकी पैराडी बड़ी रोचक है। रमई काका ने अवधी में निबन्धों की रचना भी की है, जो समय-समय पर लखनऊ, इलाहाबाद रेडियो से प्रसारित होते रहे हैं।

डॉ० न० वी० राजगोपालन

हिन्दी में तमिल-साहित्य

अतिप्राचीन तथा समृद्ध भारतीय साहित्यके भण्डार में तमिल का दाय अत्यन्त गरिमामय है। प्राचीनता की दृष्टि से तमिल का स्थान संस्कृत के पश्चात् का है । यद्यपि कुछ शोध-कर्ता यह मानते हैं कि भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व ही तमिल भाषा देशव्यापी प्रचार प्राप्त कर चुकी थी और उत्तम साहित्य से सम्पन्न थी । तथापि यह विषय अभी प्रमाण-पुष्ट होना है । किन्तु अब उपलब्ध तमिल का प्राचीनतम ग्रन्थ 'तोल्काप्पियम्'' शोधकर्ता एवं इतिहास लेखक के लिए अनेक आश्चर्यकारी तथ्य प्रस्तुत करता है । ''तोल्काप्पियम्' तमिल-भाषा का व्याकरण-ग्रन्थ है और साथ ही (तृतीय भाग में) काव्य-रचना सम्बन्धी विविध तत्वों का प्रतिपादन करते हुए उस समय के जन-जीवन की कुछ झाँकी प्रस्तुत करता है । ईसा से पूर्व का ललित-साहित्य अधिकांश में लुप्त हो गया है, तो भी उसका अवशिष्ट भाग ही कम विलक्षण नहीं है । इसमें चित्रित प्रेम, युद्ध, भक्ति, समाज-व्यवस्था, प्रकृति-दृश्य आदि अकृत्रिम सौन्दर्य तथा सहज आकर्षण से परिपूर्ण हैं । तमिल-साहित्य की लगभग ढाई सहस्र वर्ष की परम्परा अब उपलब्ध होनेवाले विविध काव्य-ग्रन्थों से ज्ञात होती है । इस सारी वाङ्मय-राशि का सम्यक् अनुशीलन अभी नहीं हुआ है ।

इस वाङ्मय का अनुशीलन इसलिए अत्यावश्यक है कि भारत का अन्य भाषा-साहित्य संस्कृत-काव्य-परम्परा का ही अनुसरण करता है, जबकि तमिल विद्वानों का यह दावा है कि तमिल की परम्परा लगभग दसवीं शती ईस्वी तक संस्कृत-परम्परा से मुक्त रही और अपना पृथक् व्यक्तित्व बनाये रख सकी । इस अनुशीलन से भारतीय काव्यशास्त्र तथा काव्य-सम्बन्धी अनेक समस्याओं का समाधान कदाचित सुकर हो सकेगा ।

हिन्दी का राष्ट्रीय व्यक्तित्व अभी प्रस्फुटित हो रहा है और उसके साहित्य की देशव्यापी समग्रता तभी विकसित हो पायेगी जब भारत की सभी भाषाओं के साहित्य की उपलब्धियाँ उसके माध्यम से नवीन प्रकाश प्राप्त कर सकें । इस दृष्टि से हिन्दी में प्राप्त तमिल-साहित्य का विवेचन उपयोगी है ।

हिन्दी के माध्यम से अन्य भाषीय साहित्य का अध्ययन तीन प्रकार से हो सकता है :

(१) मूलकृतियों के अविकल अनुवाद के द्वारा ।

(२) कृतियों तथा कृतिकारों के विवेचनात्मक परिचय के द्वारा । और

(३) मूलकृतियों तथा साहित्य-परम्पराओं के अनुशीलन तथा शोध के द्वारा ।

इस प्रकार का कार्य विभिन्न भाषाओं का ज्ञान रखनेवाले विद्वान-लेखकों के अध्यवसाय, पुस्तक-प्रकाशकों की दक्षता तथा धन आदि की व्यवस्था—इनकी अपेक्षा रखता है। आवश्यक संगठित प्रयत्न के न होने पर भी, यत्रतत्र कुछ स्वतन्त्र प्रयत्न के फलस्वरूप कुछ ग्रन्थों का अनुवाद तथा विवेचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित हो पाये हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित प्रकार से है :—

(१) महाकवि कम्बन के द्वारा विरचित रामायण महाकाव्य का रूपान्तर बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से प्रकाशित हुआ है। ईस्वीं बारहवीं शती की मूल-कृतिका (दस हज़ार पद्यों का) यह अविकल गद्यात्मक अनुवाद है।

तिरुक्कुरल के जैसे ही कम्बरामायण भी तमिल का गौरव ग्रन्थ है। यह वाल्मीकि रामायण का अनुवाद नहीं है, परन्तु एक स्वतन्त्र रचना है। मूल-कथानक के वर्चस्व को सुरक्षित रखते हुए, कवि ने राम, रावण, हनुमान, कुम्भकर्ण, बालि, लक्ष्मण, गुह आदि पात्रों के व्यक्तित्व को, भारतीय संस्कृति के अनुरूप, अनेक नवीन परिवर्तनों सहित चित्रित किया है। लंका, अयोध्या तथा मिथिला नगरों के वर्णन में वहाँ के समाज एवं राजनीति-व्यवस्था की झाँकी दर्शनीय है। तमिल-साहित्य परम्परा की विशिष्टता का परिचय इस ग्रन्थ से प्राप्त हो सकता है।

(२) तमिल का एक और गौरव ग्रन्थ 'तिरुक्कुरल' (दूसरी शती ईस्वी) 'सन्त तिरुवल्लुवर' का विरचित नीति-ग्रन्थ है और धर्म, अर्थ और काम का अति-सुन्दर, संक्षिप्त, किन्तु गम्भीर विवेचन १७७० सूत्रप्राय छन्दों में करता है। यह 'तमिल-वेद' माना जाता है। अठारहवीं शती से इसके यूरोपीय भाषाओं में अनेक अनुवाद किये गए हैं। इधर हिन्दी में अब तक (मेरे देखने में) पाँच अनुवाद इसके निकले हैं।

सम्भवत: सबसे पुराना अनुवाद 'तमिलवेद' नाम से सस्ता साहित्य-मण्डल ने प्रकाशित किया था। मद्रास विश्वविद्यालय से (डॉ० शंकर राजुनयुडू का किया गया) एक अनुवाद हाल में प्रकाशित हुआ है। ज्ञानमंडल, वाराणसी से एक अनुवाद प्रकाशित हुआ और एक और संस्था ने अभी कुछ दिन पूर्व दिल्ली से इसके प्रकाशन की घोषणा की है। मद्रास से निकलनेवाली 'दक्षिण भारत' पत्रिका में कुछ वर्ष पर्यन्त क्रमश: इसका रूपान्तर प्रकाशित होता रहा।

(३) आधुनिक तमिल-साहित्य के दो-एक अंश हिन्दी में अनूदित हुए हैं। प्रसिद्ध उपन्यासकार 'कल्कि' का 'चोर की प्रियतमा' नामक उपन्यास का रूपान्तर साहित्य अकादमी से प्रकाशित है।

(४) श्री राजगोपालाचारी की कहानियों का अनुवाद सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित हुआ है।

(५) इसी संस्था से राजाजी की 'दशरथनन्दन श्रीराम', 'महाभारत कथा' आदि कुछ गद्य-ग्रन्थों का रूपान्तर निकला है।

(६) आधुनिक तमिल कविता के अनुवाद साहित्य अकादमी के 'भारतीय कविता' ग्रन्थों में तथा राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, वर्धा की कविश्री माला में (सुब्रह्मण्य

भारती और रामलिंगम् पिल्लै की कुछ कविताएँ) प्रकाशित हुए हैं। तमिल साहित्य सम्बन्धी समीक्षा या इतिहास के निम्नलिखित ग्रन्थ उल्लेख योग्य हैं—

(७) तमिल-साहित्य का इतिहास (श्रीपूर्ण सोमसुन्दरम् लिखित—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)

(८) तमिल-साहित्य और संस्कृति (श्री अवधनन्दन लिखित--सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन)

(९) तमिल साहित्य का नवीन इतिहास (डा० न० वी० राजगोपालन लिखित—आशा प्रकाशन गृह, दिल्ली)

(१०) साहित्य अकादमी के 'आज का भारतीय साहित्य' में तमिल-सम्बन्धी लेख इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं।

(११) दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की दिल्ली शाखा के द्वारा आयोजित भाषण-माला में अनेक विद्वानों के द्वारा दिये गए तमिल-साहित्य-सम्बन्धी भाषण 'तमिल-साहित्य' नाम से प्रकाशित हुए हैं।

उपर्युक्त इतिहास-ग्रन्थ भिन्न-भिन्न दृष्टियों से लिखे गए हैं। तमिल-साहित्य का संक्षिप्त परिचय या विवेचन मात्र इनमें प्राप्त होता है। किसी में भिन्न-भिन्न युगों की चिन्तनधाराओं की समीक्षा एवं हिन्दी-साहित्य की गतिविधियों के साथ किंचित् तुलना भी प्रस्तुत की गई है। 'तमिल-साहित्य का नवीन इतिहास' में द्रविड़ जाति, सभ्यता तथा साहित्य-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न मतवादों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

अनुसन्धानात्मक ग्रन्थों में ये द्रष्टव्य हैं—

(१२) कम्बन और तुलसी—(मद्रास विश्वविद्यालय) डॉ० शंकरराजु नायुडू ने कम्बरामायण और रामचरितमानस में वर्णित सीता-राम के 'पूर्वानुराग' के प्रसंग को लेकर तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। डॉ० नायडू का इसी शीर्षक का बृहदाकार शोध-प्रबन्ध अभी प्रकाशित नहीं हुआ है।

(१३) 'तमिल और हिन्दी के काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन' इसी लेखक का शोधग्रन्थ है। इसमें तमिल की काव्यशास्त्रीय परम्परा का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है और प्रसंगात् भरतमुनि के पूर्व के भारतीय साहित्यशास्त्र, 'भरतनाट्य-शास्त्र' में प्राप्त तमिल परम्परा के कुछ तत्त्वों तथा संस्कृत साहित्यशास्त्र में तमिल काव्यशास्त्रीय प्रभाव के सम्बन्ध में रोचक सामग्री दी गई है।

(१४) विभिन्न विश्वविद्यालयों में अब ये शोध-कार्य चल रहे हैं—

कम्बन और तुलसी (यह पूर्व-उल्लिखित ग्रन्थ से भिन्न है), आण्डाल और मीरा, भारती तथा भारतेन्दु और तमिल का उपन्यास-साहित्य आदि।

(१५) हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर तमिल-साहित्य तथा साहित्यकारों के सम्बन्ध में लेख प्रकाशित होते रहे हैं और कविता, कहानी आदि का अनुवाद प्रकाशित होता है। इस सम्बन्ध में 'आजकल' (दिल्ली) 'साहित्य सन्देश' (आगरा), 'दक्षिण भारत' (मद्रास) 'नवनीत' (बम्बई), 'ज्ञानोदय' (कलकत्ता), 'माध्यम' (इलाहाबाद), 'धर्मयुग' (बम्बई) आदि उल्लेखनीय हैं।

कुछ विश्वविद्यालयों तथा शिक्षण-संस्थाओं की मुख-पत्रिकाओं में शोध लेख प्रकाशित होते रहे हैं। क० मु० हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ आगरा के 'भारतीय-साहित्य,' केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा के 'गवेषणा' आदि उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी में तमिल-साहित्य-सम्बन्धी कार्य अभी बहुत-कुछ करना शेष है। जैसे—

(१) ईसा के पूर्व का तमिल-साहित्य में, जो कि 'संघ-साहित्य' नाम से विख्यात है, प्रेम, वीरता आदि के अतिमनोहर वर्णन मिलते हैं।

(२) 'शिलप्पकारम्' और

(३) 'मणिमेखलै' नामक दो काव्य (ईस्वी दूसरी शती) वस्तु, शिल्प तथा अभिव्यक्ति की दृष्टि से अनुपम महाकाव्य हैं। इसी प्रकार (नवीं शती का)

(४) जीवक चिन्तामणि नामक महाकाव्य लोकप्रिय है जिसमें संस्कृत एवं तमिल की काव्य-पद्धति का सुन्दर समन्वय है और जैन दर्शन की काव्यात्म व्याख्या है।

(५) वैष्णव भक्तों (आलवारों) के 'दिव्यप्रबन्धम्' (चार हज़ार गीत) विशिष्टाद्वैत दर्शन के आधारभूत कृतियाँ हैं और भक्ति-आन्दोलन के आरम्भिक युग में इनका योगदान अति महत्त्व का है।

(६) शैव भक्त नायनमारों तथा उनकी परम्परा के पट्टिणत्तार, तिरुमूलक् आदि की श्रीसूक्तियाँ न केवल काव्यकला की दृष्टि से परन्तु (अब केवल तमिल प्रदेश में प्राप्त) एक शैव-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का परिचय पाने के लिए पठनीय हैं।

(७) तमिल का 'सिद्धसाहित्य' अपभ्रंश भाषा के (वज्रयानी) सिद्धों के साहित्य के समकक्ष है। तमिल प्रदेश में 'सिद्धवैद्य' नाम से प्रचलित वैद्यक-परम्परा के आकर ग्रन्थ इस साहित्य में आते हैं। इन सिद्धों के अनेक नाम ऐसे हैं जो वज्रयानी चौरासी सिद्धों के नामों से मिलते-जुलते हैं—जैसे 'पुलि-प्-पाणि' (व्याघ्रपा), 'तेरैयर' (थेरपा)। ऐसा अनुमान होता है कि इनकी ये तमिल कृतियाँ मूल अपभ्रंश कृतियों का तमिल-अनुवाद हैं। इन ग्रन्थों में 'रसवाद', हठयोग, वैद्यक नीति आदि विषयों का रोचक विवेचन मिलता है। किन्तु प्रतीकात्मक 'संध्या भाषा' में होने से अर्थग्रहण श्रम-साध्य लगता है। इनका अनुशीलन वज्रयानी सिद्धों के साहित्य पर भी नया प्रकाश डाल सकता है।

(८) इनके अतिरिक्त संघकालीन नीतिकाव्यों, 'परणि' नामक मध्ययुगीन वीर-काव्यों तथा भक्ति-काव्यों का परिचय उपयोगी सिद्ध होगा।

(९) आधुनिक साहित्य की विभिन्न विधाओं के बारे में कहना अपेक्षित नहीं है। उपन्यास, कहानी, निबन्ध तथा कविता के क्षेत्र में अनेक साहित्यकारों ने मौलिक कृतियाँ रची हैं।

(१०) तमिल के लोक-साहित्य पर उपयोगी कार्य हो सकता है।

इनके अतिरिक्त (११) ज्योतिष, नाट्य, संगीत, वास्तु, स्थापत्य आदि विविध विषयों का साहित्य भी कम रोचक एवं ज्ञानवर्धक नहीं है। हिन्दी भाषा तथा साहित्य की भारत-व्यापी समृद्धि तभी सम्पन्न हो सकेगी जब अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य का रूपान्तर, अध्ययन, विवेचन तथा अनुशीलन हिन्दी में होगा।

—वेल्लायणि अर्जुनन्

मलयालम साहित्य—हिन्दी में

स्वाधीनता के बाद भारत-भर में एक नई सांस्कृतिक चेतना की लहरें कल्लोलित हुई हैं। इसके फलस्वरूप भारत की भाषाओं में पारस्परिक सम्बन्ध और सम्पर्क की सम्भावनाएँ बढ़ रही हैं। हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा होने के कारण उसके प्रचार और प्रसार का काम अहिन्दी-प्रदेशों में शीघ्र गति से किया जा रहा है। यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि हिन्दी का प्रचार अहिन्दी प्रदेशों में सबसे बढ़कर केरल में हुआ है। केरल की पाठ्य-पद्धति में हिन्दी की शिक्षा अनिवार्य होने के कारण नई पीढ़ी के सब लोग हिन्दी जानते हैं। इसका सुफल यह हुआ कि हिन्दी और मलयालम साहित्यों का पारस्परिक आदान-प्रदान पर्याप्त मात्रा में बढ़ गया है। हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यास-कारों, कहानीकारों एवं कवियों की मूल्यवान रचनाओं का अनुवाद मलयालम में किया गया है। उसी तरह मलयालम के कुछ ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी में भी हुआ है। इसके अलावा मलयालम साहित्य के इतिहास, भाषा, व्याकरण आदि विविध पहलुओं पर लिखे हुए कुछ ग्रन्थों का प्रकाशन भी हो चुका है। उनका हम संक्षेप में अवलोकन करेंगे।

उपन्यास

उपन्यास मलयालम की समृद्ध विधा है। उच्चकोटि के अनेक उपन्यास मलया-लम में लिखे जा चुके हैं, जिनके अनुवाद अंग्रेज़ी, फ्रैन्च, रूसी, बंगला, हिन्दी आदि विश्व की अनेक भाषाओं में निकले हैं। हिन्दी में मलयालम के कुछ उत्कृष्ट उपन्यासों का भाषान्तर किया गया है। मलयालम के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री तकष़ि शिवशंकर पिल्ले के 'चेम्मीन', 'रंट्टिटङ्ङषि', और 'तोट्टियुटे मकन' के प्रकाशन से इस भाषान्तर-प्रक्रिया का समारम्भ होता है। श्रीमती भारती विद्यारथी ने श्री पिल्ले की ऊपर कही हुई कृतियों का भाषान्तर सबसे पहले हिन्दी में किया। 'चेम्मीन' (मछुआरे), 'तोट्टियुटे मकन' (चुनौती), और 'रंट्टिटङ्ङषि' (दो सेर धान) में केरल के श्रमिक वर्गों के दयनीय जीवन का यथार्थ चित्र खींचा गया है।

ये उपन्यास मलयालम उपन्यास-साहित्य के यथार्थवाद के अच्छे नमूने हैं। 'चेम्मीन' साहित्य अकादमी से पुरस्कृत उपन्यास है। हिन्दी के अलावा अंग्रेज़ी, रूसी, चेक, स्पेनिश, पोलिश, इटालियन, लिथ्वेनियन, फ्रैन्च और बंगला में भी इस श्रेष्ठ उपन्यास का अनुवाद हो चुका है। मलयालम के लब्ध प्रतिष्ठ उपन्यासकार श्री पी० केशवदेव के 'ओटयिल निन्नु' (नालीसे) का अनुवाद श्री सुधांशु चतुर्वेदी ने किया है। त्याग, मानव-प्रेम आदि आदर्शों के सौरभ से भरा हुआ यह उपन्यास एक गरीब

रिक्शा वाले के निःस्वार्थ जीवन की उज्जवल एवं उदात्त कथा है। भारतीय विद्यार्थी ने भी 'ओटयिल निन्नु' का अनुवाद हिन्दी में किया है। केरल के मुसलमान समाज की अन्धरूढ़ियों एवं कुरीतियों की कड़ी आलोचना करने वाले उपन्यासकार हैं श्री वैक्कं मुहम्मद बशीर। उनके मशहूर सामाजिक उपन्यास 'न्टुप्पाप्पा- क्कोरानेण्टान्नं' का हिन्दी भाषान्तर 'दादा का हाथी' नाम से श्री के० रविवर्मा के द्वारा किया गया है। एक कट्टर-पन्थी मुसलमान घराने की समस्याओं का यथार्थ चित्र बशीर के इस उपन्यास में पा सकते हैं। श्रीमती रत्नमयी देवी दीक्षित ने सरदार के० एम० पणिक्कर के 'केरलसिंह' नामक ऐतिहासिक उपन्यास का अनुवाद करके इस प्रक्रिया को प्रगति की ओर बढ़ाया। अंग्रेज़ों के अत्याचारों से अपनी मातृभूमि को मुक्त करने के लिये जिन देश-प्रेमियों ने अपनी आत्मा की वलि चढ़ाई है उनमें से केरल वर्मा पषश्शि राजा का नाम प्रातःस्मरणीय है। उनके स्वातन्त्र्य-संग्राम का भावोज्ज्वल चित्रण पणिक्कर के 'केरलसिंह' में मिलता है। दिल्ली की 'भारतीय साहित्यिक' मासिक पत्रिका के सम्पादक श्री एस० लक्ष्मण शास्त्री के द्वारा श्री के० दामोदरन् के पद्मावती उपन्यास का जो भाषान्तर हुआ है वह यहाँ उल्लेखनीय है। काजू-कारखाने में काम करने वाले मज़दूरों की आँसू-भरी ज़िन्दगी के मार्मिक चित्रों से भरे हुए इस उपन्यास के हिन्दी-रूपान्तर में मौलिकता की भाव-भंगिमा विद्यमान है। वेट्टूर रामन नायर के 'जीविक्कुवान मरन्नुपोय स्त्री' और टी० एन० गोपीनाथन नायर के 'सुधा' के रूपान्तर भी यथाक्रम 'जो जीना भूल गई' एवं 'सुधा' शीर्षकों से श्री अभयदेव ने किये हैं। श्री एम० एस० मेनोन के 'यति' नामक उपन्यास का अनुवाद हाल ही में 'धर्मयुग' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो चुका है।

नाटक

मलयालम के कुछ नाटकों का भाषान्तर हिन्दी में किया गया है। सी० जे० तोमस का 'अवन् वीण्टुं वरून्नु' (वह फिर आ रहा है—अनुवादक, पी० जी० वासुदेव); उरूब का 'मण्णुं पेण्णुं' (मिट्टी और नारी—अनुवादक, कृष्णमेनन); टी० एन० गोपीनाथन नायर का 'मृगं' (जानवर—अनुवादक रघुवीर शरण); मेक्कोल्ल परमेश्वरन् पिल्ले का 'गीतानन्द' (अनु०, पी० जी० वासुदेव); तोप्पिल भासि के 'निङङलेन्ने कम्यूणिस्टाक्कि' (उत्थान—अनुवादक, एस० लक्ष्मण शास्त्री); 'मूलधनं' (पूंजी—अनुवादक, लक्ष्मण शास्त्री) और 'पुतिय आकाशं पुतिय भूमि' (नया आस्मान नयी धरती—अनुवादक, डॉ० एन ई० विश्वनाथ अय्यर)—इत्यादि नाटकों के नाम यहाँ प्रमुख रूप से लिए जा सकते हैं। श्री लक्ष्मण शास्त्री ने श्री० तोप्पिल भासि के नाटकों का अनुवाद अनूठी शैली में किया है। उनकी अनूदित कृतियाँ पढ़ते समय ऐसा विदित होता है मानो वे हिन्दी की मौलिक रचनाएँ हों। पी० जी० वासुदेव से किया गया 'गीतानन्द' का भाषान्तर भी ऊंचा स्तर कायम रखता है। परन्तु खेद की बात है, एन० कृष्ण पिल्ला, कैनिक्कर पद्मनाभ पिल्ला, के० टी० मुहम्मद, पोन्कुन्नं वर्क्कि जैसे अन्य शीर्षस्थ नाटककारों के नाटकों का अनुवाद अभी तक हिन्दी में नहीं हुआ है।

कविता

स्व० महाकवि वल्लन्तोल की तीस सुन्दर कविताओं का अनुवाद केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने प्रकाशित किया है। वल्लन्तोल के उज्ज्वल काव्यों का निस्तुल सौन्दर्य और भाव गांभीर्य इस संग्रह में दिखाई देता है। अकादमी के द्वारा प्रकाशित भारतीय कविता नामक प्रतिनिधि काव्य संग्रह में भी कुछ मलयालम कविताओं के अनुवाद संकलित किये गए हैं। जी० शंकर कुरूप, एन० गोपाल पिल्ला, वेण्णिक्कुलं, कुंजिरामन नायर, पाला नारायणन नायर, वैलोप्पिल्लि, बालामणि अम्मा, एम० पी० अप्पन, वयलार आदि प्रसिद्ध कवियों की कविताओं का भाषान्तर इस संकलन में सम्मिलित है। इन सभी कविताओं का अनुवाद श्रीमती रत्नमयी देवी ने किया है।

साहित्य का इतिहास, अनुसन्धान, व्याकरण आदि

मलयालम साहित्य के दो इतिहास ग्रन्थ हिन्दी में अभी तक प्रकाशित हो गये हैं। डॉ० भास्करन नायर से विरचित 'मलयालम साहित्य का इतिहास' तथा रत्नमयी दीक्षित द्वारा लिखा हुआ 'कैरली साहित्य दर्शन' इस कोटि के ग्रन्थ हैं। मलयालम साहित्य के सम्बन्ध में व्यक्त और विशद ज्ञान प्राप्त करने के लिये हिन्दी प्रदेश के लोगों को डॉ० नायर की पुस्तक उपयोगी रहेगी। डॉ० एन० ई० विश्वनाथ अय्यर का 'हिन्दी-मलयालम व्यावहारिक कोष' और कुट्टन पिल्ले का 'मलयालम और हिन्दी का तुलनात्मक व्याकरण' मलयालम भाषा के अध्ययन में काफी सहायक हैं।

पिछले पाँच वर्षों के अन्दर हिन्दी के अनुसन्धान के क्षेत्र में भी मलयालम साहित्य की काफी सामग्रियाँ आ चुकी हैं। कृष्ण भक्ति साहित्य' (डॉ० भास्करन् नायर) ; 'कथा साहित्य' (डॉ० गोविन्द शेनाई) ; 'नाटक साहित्य' (डॉ० एन० आई० नारायण); 'उपन्यास साहित्य' (डॉ० दामोदर प्रसाद), 'आधुनिक कविता' (डॉ० विश्वनाथ अय्यर), 'राम भक्ति साहित्य' (डॉ० सुभद्रा अम्मा); 'वल्लन्तोल और मैथिलीशरण गुप्त' (डॉ० के० एस० मणि); 'एपुन्तुच्छान और तुलसी' (डॉ० जोर्ज) आदि शोध-प्रबन्ध मलयालम और हिन्दी की तुलनात्मक गवेषणा के क्षेत्र की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। इन शोध प्रबन्धों के द्वारा प्राचीन और आधुनिक मलयालम साहित्य का परिपत्र हिन्दी जगत् को मिला है।

मलयालम में एक ऐसा साहित्य है जो सभी दृष्ट्रियों से बंगला, हिन्दी, आदि साहित्यों के समकक्ष ठहरता है। मलयालम साहित्य की सभी शाखाएँ बहुत ही पुष्कल हैं। किन्तु उनके सौरभ और वर्ण-भंगिमा को हिन्दी में पूर्ण रूप से उतारने का गम्भीर प्रयास अभी तक किसी ने नहीं किया है। भारत की भावनात्मक एकता के लिए हिन्दी और प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यों का पारस्परिक आदान-प्रदान परम आवश्यक है। अतः हिन्दी में मलनालम के उत्कृष्ट ग्रन्थों के अनुवाद प्रस्तुत करने के लिए साहित्य अकादमी और केन्द्रिय हिन्दी निदेशालय की ओर से महत्वपूर्ण योजनाएँ बननी चाहिए। राष्ट्रभाषा हिन्दी की श्रीवृद्धि के लिए मलयालम जैसे अन्य भारतीय साहित्यों के उत्तम ग्रन्थों का उसमें अनूदित होना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है।

डॉ० भगीरथ मिश्र

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का काव्य

कवि समय की चेतना का चारण है। बदलते युगों में जो परिवर्तन होते हैं, उनका संकेत, विश्लेषण और उनकी विवृत्ति तो कवि करता ही है, आगामी युगों की चेतना का भी सन्देश वह देता है। पर एक महाकवि की विशेषता इस बात में रहती है कि परिवर्तन के प्रभाव को अंगीकार करते हुए भी वह अपने वृन्त पर फूलता है—अपनी डाल पर झूलता है और अपने मूल की महिमा को प्रकट करता है। परम्परा के तिरस्कार का ढिंढोरा दम्भ-मात्र है। वृक्ष जड़ से कटकर विकास को प्राप्त नहीं हो सकता। जड़ छिपी रहकर भी उसको नई कोंपलों की समृद्धि और नए फूलों-फलों का वैभव प्रदान करती है। वही विकास का वरदान भी देती है। ये ही बातें हमारी परम्परा के सम्बन्ध में भी सत्य हैं।

निराला का काव्य इस तथ्य का प्रचुर प्रमाण प्रस्तुत करता है। भारतीय संस्कृति और दर्शन की चेतना उनके काव्य की मूल है। उसके आधार पर ही समस्त नवीन राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक प्रभावों का प्रस्फुटन हुआ है। यह कहना सत्य न होगा कि निराला के काव्य का क्रमशः विकास हुआ है; पर यह अवश्य है कि जैसे ऋतुविपर्यय के साथ-साथ वन-उपवन में सुखद परिवर्तन देखने को मिलते हैं, उसी प्रकार निरालाजी के काव्य में भी वैयक्तिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों की दुःखमयी ऋतुओं का प्रभाव देखने को मिलता है। यह प्रभाव बड़ा ही मर्मभरा है। जब हम इस दृष्टि से निराला के काव्य को देखते हैं, तो पता चलता है कि हिमालय के समान सुदृढ़ एवं उदात्त व्यक्तित्ववाले मनस्वी निराला का हृदय गंगोत्री से बह चलने वाली गंगा की शुभ्रधारा के समान तरल है। संवेदनशीलता की बारीक सूक्ष्म तरंगें उस महामानव को महार्णव की उद्वेलनशीलता प्रदान करती रही हैं और संवेदना-तरंगों की अनन्तता ने उनके व्यक्तित्व के आसपास एक अथाहता और आतंक का सृजन कर दिया था। कारण यह है कि उनका व्यक्तित्व अगाध कवित्व से भरा हुआ था। शरीर की जर्जरता और पीड़ा की तीव्रता में भी उनके मन से कवित्व की उर्मियाँ ही स्पन्दित होती रही थीं। इसी कारण उनका समग्र जीवन दुःखमय परिस्थितियों एवं संघर्षों को चुनौती देता रहा।

जब हम और सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं तो लगता है कि उनका जीवन हिमालय और समुद्र के बीच समझौता करने का प्रयास करनेवाली एक प्रक्रिया के रूप में था। इसी प्रक्रिया को पूर्ण करने के किए उनकी वाणी विविध रूप में सहस्रधार होकर

फूट निकली है। उसमें एक अजस्रता है। निराला का छायावादी काव्य हिमालय के समान है, पर उनका परवर्ती जनवादी काव्य द्रवीभूत होकर निकली गंगा-जमुना की धाराओं की भाँति है जो जन-सामान्य को स्पर्श करता है और उनके सुखदुःखों के कलरव की अनुगूंज से मुखरित है।

निराला के स्वातन्त्र्योत्तर काव्य में भी पूर्ववर्ती काव्य की विशेषताएँ बिखरी हुई हैं, पर उसकी प्रवृत्ति यथार्थ को लेकर चलने की है। कल्पना की उच्चता, शब्दावली की संस्कृतबहुलता और अर्थ की दुरूहता के स्थान पर जनमानस को स्पर्श करने की क्षमता इसमें विद्यमान है। इतना ही नहीं जीवन की विषमताओं पर तीखा व्यंग्य भी हमें मिलता है। हास्य-विनोद की प्रवृत्ति प्रमुख रूप से इधर के काव्य में मिलती है, जो पूर्ववर्ती काव्य में नहीं थीं, पर जो उनकी गद्य-रचनाओं में देखी जाती थी। इसके साथ-ही-साथ लोकगीतों, उर्दू गजलों आदि की शैली और धुनें भी हमें उनके इधर के गीतों और मुक्तकों में मिलती हैं। पूर्ववर्ती ओज और उदात्तता से सम्पन्न लम्बी-लम्बी निबन्धात्मक रचनाओं का इधर अभाव दिखलाई देता है। उसका कारण यही समझ पड़ता है कि कवि की अदम्य मनस्विता सामाजिक और दैवी विश्वासघातों के प्रहारों से जैसे टूट गई हो। अतः इधर की रचनाओं को मोटे तौर पर हम ४ विभागों में बाँट सकते हैं : (१) विनोद और व्यंग्यपूर्ण रचनाएँ। (२) आध्यात्मिक और आत्मपरक रचनाएँ। (३) ऋतु और प्रकृति-सम्बन्धी रचनाएँ, (४) प्रयोगशील रचनाएँ। इन चार प्रकार की रचनाओं में निरालाजी का परवर्ती काव्य रखा जा सकता है।

वास्तव में निरालाजी के काव्य की प्रवृत्ति में सन् १९४२ के पश्चात् एक मोड़ उपस्थित हुआ। इस मोड़ का कारण वैयक्तिक मनस्थिति भी है और सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थिति भी। दोनों ही कारणों से इनके मन में जो खीझ उत्पन्न हुई वह व्यंग्य और विनोद दोनों ही रूपों में हमें देखने को मिलती है। परन्तु, उसके उपरान्त १९५० से जो कविता की प्रवृत्ति दिखलाई देती है, वह अधिकांश प्रगीतात्मक है, जिसके अन्तर्गत हमें आध्यात्मिक, प्रकृति-सम्बन्धी, ऋतु-सम्बन्धी और शृंगारिक गीत देखने को मिलते हैं। इस बीच में हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत प्रयोगवाद का प्रचार हो गया था। अतः १९५० के बाद की कुछ कविताओं में प्रयोगशीलता भी दिखलाई देती है। इन चारों प्रवृत्तियों का निरालाजी के पूर्ववर्ती साहित्य से और उसकी प्रवृत्तियों से कोई सम्बन्ध न हो, ऐसी बात नहीं है। हास्य और व्यंग्य की प्रवृत्ति निरालाजी के लेखों, कहानियों और उपन्यासों में मिलती है। उनके अनेक लेखों में लगभग उसी प्रकार की विनोद और व्यंग्य की प्रवृत्ति दिखलाई देती है, जो इधर की रचनाओं—'कुकुरमुत्ता', 'बेला' और 'नए पत्ते' जैसे काव्य-संग्रहों—में देखी जा सकती है तथा 'सुकुल की बीबी' 'बिल्लेसुर बकरिहा' जैसी रचनाएँ भी इसके उदाहरण स्वरूप देखी जा सकती हैं। आध्यात्मिक, शृंगारिक और प्रयोगशील रचनाएँ भी इनकी पूर्ववर्ती प्रवृत्ति का ही एक विकास हैं। 'परिमल', 'अनामिका', 'गीतिका' संग्रहों की रचनाएँ इस प्रवृत्ति से ओतप्रोत हैं। अतः ऐसा कहा जा सकता है कि परिस्थिति-वश जो उनकी

व्यंग्य की प्रवृत्ति विशेष रूप से प्रकट हुई उसका सामयिक कारण है। परिस्थिति के साथ-साथ इन रचनाओं पर उर्दू काव्य का प्रभाव भी है। 'कुकुरमुत्ता', 'बेला' और 'नए पत्ते' रचनाओं की अधिकांश कविताएँ, उनकी हास्य प्रवृत्ति की द्योतक हैं, जो हल्की मनस्थिति (लाईट मूड) में लिखी गई हैं। ऐसी रचनाएँ लिखना उनके लिए खेल था। फिर भी रचनाओं में जो व्यंग्य के छींटें हैं, वे बड़े प्रभावशाली हैं।

यद्यपि 'कुकुरमुत्ता' की रचना सन् १९४३ में हुई थी और 'बेला' तथा 'नए पत्ते' की रचना सन् १९४६ में, फिर भी इन रचनाओं में क्योंकि एक अप्रत्याशित मोड़ दिखलाई देता है इसलिए नए युग के निराला के काव्य-विवेचन के प्रसंग में उनका उल्लेख आवश्यक है। 'कुकुरमुत्ता' का द्वितीय संस्करण १९५२ में हुआ, परन्तु उनकी यह कविता बहुत अधिक प्रसिद्ध हुई। अतएव नए युग के काव्य के अन्तर्गत यह उल्लेखनीय है। इस रचना में 'गुलाब' और 'कुकुरमुत्ता' की बातचीत है। ये दोनों ही प्रतीक रूप में हैं। गुलाब पूंजीवादी संस्कृति का प्रतीक है और कुकुरमुत्ता किसान-मजदूर वर्ग का। कुकुरमुत्ता के बहाने निराला जनसामान्य और मज़दूरी करने वाले तथा किसानों के महत्त्व को प्रकट करते हैं। इस प्रकार से इस काव्य में प्रगतिवादी विशेषता दिखलाई देती है। परन्तु निराला का 'कुकुरमुत्ता' बड़े प्रगल्भ रूप में हमारे सामने आया। वह अपनी प्रशंसा और अपना महत्त्व बड़े अशिष्ट ढंग से स्थापित करता है। अतएव वह निरालाजी के द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श संस्कृति का प्रतीक नहीं हो सकता। ऐसी दशा में दोनों ही निरालाजी के व्यंग्य के पात्र हैं। न विलासिता में पला गुलाब, न संस्कृतिहीन कुकुरमुत्ता—इनमें से कोई भी मानवता की सामान्य संस्कृति का प्रतिनिधि नहीं है, अतः निरालाजी इस कविता में जहाँ पूंजीवादी संस्कृति पर प्रहार करते हैं, वहीं सर्वहारा वर्ग को लेकर के अत्यधिक प्रचारवादी प्रवृत्ति पर भी उनका तीखा आक्षेप है। 'बेला' नामक संग्रह में निरालाजी ने उर्दू शैली को अपनाया है। इसमें विनय-सम्बन्धी कविताएँ भी हैं। प्रकृतिपरक और शृंगारिक रचनाएँ भी हैं। इसमें दार्शनिक रचनाएँ भी हैं तथा व्यंग्यात्मक और विनोदपूर्ण रचनाएँ भी हैं। इस संग्रह की समस्त रचनाओं में सरलता है। उर्दू शैली की रचनाओं के साथ-साथ संस्कृत शब्दावली-प्रधान गीत भी हैं। कहीं-कहीं हिन्दी, उर्दू, संस्कृत सबकी खिचड़ी है।

इस संग्रह के अन्तर्गत सामाजिक और राष्ट्रीय कविताओं के साथ-साथ वैयक्तिक प्रेम-सम्बन्धी और श्रृंगारिक तथा रहस्यवादी रचनाएं भी देखने को मिलती हैं। उनकी विविध प्रवृत्तियों का द्योतक यह संग्रह कहा जा सकता है।

'नए पत्ते' भी लगभग इसी प्रकार का संग्रह है। परन्तु यह 'बेला' की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी धरातल पर है और इसमें अनेक व्यंग्यपूर्ण, हास्यविनोद वाली तथा यथार्थ का चित्रण करनेवाली रचनाएँ बड़ी मनोरंजक हैं। जैसे—'रानी' और 'कानी' 'खजोहरा,, 'मास्को डॉयलाग्स', 'गर्म पकौड़ी', 'महँगू महँगा रहा', 'कुत्ता भोंकने लगा', 'झींगुर डटकर बोला' आदि रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। ये रचनाएँ निराला-जी की हास्य-विनोद-प्रियता को स्पष्ट करती हैं। यदि इन रचनाओं को हटा दिया

जाय तो उनके आध्यात्मिक, शृंगारिक, राष्ट्रीय, एवं प्रकृति-सम्बन्धी गीतों से उनके व्यक्तित्व के विनोदी पक्ष को खोजा ही नहीं जा सकता। निरालाजी जितने गम्भीर थे, उतने ही विनोदी भी थे। वे जितने उग्र थे उससे कहीं अधिक सहृदय और संवेदनशील थे। वे जितने दृढ़ और कठोर थे उतने ही सरल और करुणापूर्ण थे। अतः निरालाजी की ये यथार्थ-परक रचनाएँ उनके विशाल व्यक्तित्व के उस दूसरे पक्ष को प्रकट करती हैं, जिसका आभास हमें उनकी प्रथम प्रकार की रचनाओं में नहीं मिलता।

आध्यात्मिक और आत्मपरक रचनाएँ उनकी परवर्ती कृतियों में सर्वत्र दिखलाई देती है, जैसा कि पूर्ववर्ती कृतियों में। इस दृष्टि से उनके काव्य के 'अर्चना' 'आराधना' तथा 'गीतगुंज' तीनों ही संग्रह महत्त्वपूर्ण हैं। 'अर्चना' में लगभग ४० गीत आध्यात्मिक और भक्तिपरक हैं। लगभग पन्द्रह गीत प्रकृति से सम्बन्धित हैं, पन्द्रह गीत शृंगारिक हैं, शेष प्रयोगशील गीत कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार 'आराधना' नामक संग्रह में भी लगभग ५० गीत आध्यात्मिक, दस गीत प्रकृति सम्बन्धी, सात-आठ गीत शृङ्गारिक और शेष प्रयोगशील हैं। 'गीतगुंज' का परिवर्धित संस्करण भी छोटा संग्रह है, परन्तु उसमें भी आध्यात्मिक गीत सात-आठ हैं, ऋतु और प्रकृति-सम्बन्धी गीत बीस हैं, शृङ्गारिक गीत छः तथा शेष प्रयोगशील गीत हैं। इस प्रकार इन तीनों ही परवर्ती संग्रहों में हम यह देखते हैं कि निरालाजी की पूर्ववर्ती प्रवृत्तियाँ अपने नये रूप में प्रकट हुई हैं। तीनों ही कृतियों में सुन्दर मंगलाचरण गीत हैं 'गीतगुंज' में उन्होंने 'गीतिका' की अपेक्षा अधिक सरल और संगीतोपयोगी गीत रखे हैं। इसमें शब्दावली भी सरल है और धुनें भी अधिक स्वाभाविक हैं। इसके कई गीतों को निरालाजी ने स्वयं गाकर सुनाया था। इसके गीत संगीतकारों के लिए उपयोगी हैं। इन संग्रहों के आध्यात्मिक गीतों में पूर्ववर्ती गीतों की अपेक्षा कुछ भिन्नता दिखलाई देती है। पहली बात तो यह कि ये गीत छोटे-छोटे हैं, दूसरे इनकी शब्दावली भी पूर्ववर्ती गीतों की अपेक्षा सरल है, तृतीय इनके भाव भी अत्यन्त स्पष्ट हैं। इस प्रकार ये आध्यात्मिक गीत जीवन के सामान्य स्तर को स्पर्श करने वाले हैं। प्रकृति-सम्बन्धी गीत भी अधिक सहज और विशद चित्रण करने वाले हैं। इनकी शब्दावली की प्रकृति यद्यपि पूर्ववर्ती है फिर भी वह सरल है, क्लिष्ट नहीं। इनमें अंकित दृश्य स्पष्ट और सुलझे हुए हैं, जटिल बिम्बों का निर्माण इनमें नहीं। उदाहरणार्थ—'आराधना' का निम्नलिखित गीत देखा जा सकता है—

धाये धारा धरधावन हैं।
गगन-गगन गाजे सावन है।
प्यासे उत्पल के पलकों पर,
बरसे जल घर-घर-घर-घर।
शीकर-शीकर से श्रम पीकर,
नयन-नयन आये पावन हे।
श्याम दिगन्त-दाम छबि छाई,

बही अनुत्कुण्ठित पुरवाई,
शीतलता-शीतलता आई,
प्रियतम जीवन-मन भावन है।

बादल का वर्णन करने वाला यह गीत निरालाजी के पूर्ववर्ती 'बादल राग' से काफी भिन्न है। श्रृङ्गारिक गीतों में भी पूर्ववर्ती काव्य की अपेक्षा इन परवर्ती रचनाओं में एक पावनता और उज्ज्वलता दिखलाई देती है। प्रकृति के सुन्दर और मंगलमय रूप में प्रिय का स्वरूप देखना इन कविताओं का मुख्य स्वर है। इसके विपरीत पूर्ववर्ती रचनाओं में एक उत्कट वासनात्मकता एवं प्रबल शृंगारिकता देखने को मिलती है। 'जूही की कली' 'सन्ध्या सुन्दरी' तथा 'गीतिका' के अनेक शृंगारिक गीत इसके प्रमाण हैं। परन्तु इसके विपरीत इन परवर्ती रचनाओं में वह आवेग नहीं है। उदाहरण के लिए 'गीतगुंज' का एक शृंगारिक गीत देखा जा सकता है।—

पारस, मदन हिलोर न दे तन,
बरसे झूम-झूम कर सावन।
बन द्रुमराजि साज सब साजे,
बसन, हरे, उर उडे, विराजे।
अलियों, जूही की कलियों की,
मधु की गलियों नूपुर बाजे।
घर बिछुड़े आये मन भावन।

इन परवर्ती रचनाओं में प्रयोगशीलता का भी रूप मिलता है, जो कि १९४६ के उपरान्त प्रकाशित सभी संग्रहों में थोड़ा-बहुत मिलता है। ये रचनाएँ ठीक प्रयोगवादी रचनाओं-जैसी तो नहीं हैं, परन्तु इनमें नई/वैचारिक विशेषता और अभिव्यक्ति की नव्यता दिखलाई देती है। इन रचनाओं में कहीं-कहीं अस्पष्टता भी है। कहीं-कहीं तो ये कबीर की उलट बाँसियों-जैसी लगती है और कहीं आधुनिक प्रयोगवादी कविताओं-जैसी। इसका कारण सामाजिक जीवन के वैषयम्य की अनुभूति है जो इनमें प्रकट हुई है। मानव-जीवन के प्रति व्यापक सहानुभूति के साथ-साथ एक वितृष्णा और खीझ दिखलाई देती है। उदाहरणार्थ यहाँ पर हम एक रचना दे रहे हैं—

मानव जहाँ बैल घोड़ा है,
कैसा तन-मन का जोड़ा है,
किस साधन का स्वाँग रचा यह,
किस बाधा की बनी त्वचा यह,
देख रहा है विज्ञ आधुनिक,
वन्य भाव का यह कोड़ा है।
इस पर से विश्वास उठ गया,
विद्या से जब मैल छुट गया,
पक-पककर ऐसा फूटा है,
जैसा सावन का फोड़ा है।

अखण्ड प्रेम तो उन्हें रिक्थ में प्राप्त थे। उनके पिता श्रीरामचरन रामभक्त और काव्य-प्रेमी थे। उनके सम्बन्ध में किसी उपकृत कवि ने कहा था—

> **"भूतल में धन्य होत महिमा अनन्त होत।**
> **सेठ चिरगाँव रामचरन दरसते।"**

लावनीबाज भी—

> **"होता नहीं पलकों से प्यारा रामचरन आज"**

गाते थे। वे पुण्यश्लोक पिता के समान अपनी रामचरितमानसअनुरक्ता माता से भी प्रभावित थे। चिरगाँव के निकट बेतवा नदी के पठार, उसके झरने और झुरमुट कवि के हृदय में प्रकृति-प्रेम जागृत करने में सहायक होते रहे हैं। उन्होंने अपने अप्रकाशित आत्मचरित में लिखा हैं—

"मुझे वह बात नहीं भूलती जब पहली बार मैं एक नई आई हुई 'जोड़ी' पर बैठकर बड़ों के साथ हवा खाने गया था। छोटा-सा गाँव, दो मिनट में ही हम मैदान में थे। दोनों ओर हरे-हरे खेत, उन्हीं के बीच बाईं ओर एक छोटी-सी पहाड़ी, बीच में पक्की लाल सड़क, ऊपर नीला आकाश और सड़क। दोनों पार्श्वों के पेड़ों को हिलाती-डुलाती हुई भीनी-भीनी सुगन्ध वाली बयार। मानो किसी का पार नहीं। मुझे ऐसा लगा कि न जाने हम कहाँ जा रहे हैं और कब वहाँ पहुँचेंगे। मेरा जी उदास हो गया और शरीर में अवसन्नता-सी छा गई। मेरा मन आगे जाने को चाहता था परन्तु सारथी सब एक-से ही होते हैं। मैं चुप बैठा रहा, बोल भी न सका। जब लौटकर गाड़ी से उतरा तब मेरी आँखें सजल थीं और मेरे पैर न सँभलते थे। माँ ने समझा मुझे दीठ लग गई है। मुझे भी याद है कि दुबारा जाने पर उन्होंने मुझे डिठौना लगा दिया था।" (मैथिलीशरण अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १४३)

इस घटना से ही कवि के हृदय में प्राकृतिक दृश्यों के प्रति आत्म-विभोरता का भाव प्रकट होता है। जिस समय कवि का रुझान काव्य की ओर हुआ उस समय व्रजभाषा का माधुर्य कवियों को अभिभूत किये हुए था—स्वयं मैथिलीशरणजी व्रज-भाषा में लिखते थे—समस्यापूर्तियां भी करते थे (क्योंकि समस्यापूर्ति भी उस समय काव्य-विनोद था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पर्क में आने के उपरान्त उनकी कविता की भाषा 'खड़ीबोली' हो गई और वे सरस्वती के प्रमुख खड़ीबोली के 'नई चाल के कवि' सिद्ध हुए। आचार्य द्विवेदी के पूर्व हरिश्चन्द्र-युग में बिहार के श्री अयोध्याप्रसाद खत्री ने खड़ीबोली का प्रबल आन्दोलन आरम्भ कर दिया था। और खड़ीबोली कविता का एक संग्रह भी पिक्काट की भूमिका सहित प्रकाशित कर दिया था। यद्यपि बाबू हरिश्चन्द्र ने व्रजभाषा में ही अधिकांश कविताएँ लिखी थीं पर वे खड़ी बोली में भी काव्य-रचना के पक्षपाती थे। द्विवेदीजी के पूर्व 'सरस्वती' के आदि सम्पादक बाबू श्यामसुन्दरदास ने भी अपने प्रथम अंक में खड़ीबोली में काव्य-रचना के सम्बन्ध में घोषणा प्रकाशित की थी। आचार्य द्विवेदीजी अपने पूर्ववर्ती खड़ीबोली समर्थकों के स्वप्न को अपने सम्पादन-काल में पूर्ण रूप से सत्य सिद्ध कर सके। उनके समय में हिन्दी गद्य और पद्य की एक ही भाषा—खड़ीबोली—हो गई। जिस प्रकार आज की

नई कविता की घोषणा अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'तार सप्तक' द्वारा हुई उसी प्रकार द्विवेदी काल की नई चाल की खड़ीबोली की कविता की घोषणा द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित 'कविता-कलाप' से हुई थी। इसमें मैथिलीशरणजी की सर्वाधिक कविताओं के अतिरिक्त राय देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शंकर शर्मा, कामताप्रसाद गुरु और स्वयं आचार्य द्विवेदी की रचनाएँ संकलित थीं। उसकी भूमिका में आचार्य ने उन कविताओं को 'नये ढंग की कविताएँ' कहा है और सम्भावना प्रकट की है कि "सम्भव है भविष्य में हिन्दी के गद्य और पद्य की भाषा एक हो जाएगी" जो अब निर्विवाद हो गई है। 'सरस्वती' में पुराने कवित्त, सवैया छन्दों के स्थान पर नये छन्दों में श्लथ शृंगार रहित अधिकांश रचनाएँ छपा करती थीं; सामयिक विषयों के रचनाकार 'क्रान्तिकारी कवि' समझे जाते थे। पर उन पर व्रजभाषा प्रेमियों द्वारा व्यंग्य वाणों की वर्षा की जाती और उनकी रचनाओं को 'भद्दी कविता' कहा जाता था। वे सन् १९०८ से सरस्वती में कविताएँ लिखने लगे। इन कविताओं से ओजपूर्ण और सरस भावों का सर्जन हुआ। खड़ीबोली में मार्दव और निखार आने लगा। वह अधिक सरस और व्यंजक बनने लगी। यद्यपि सन् १९०४ से 'वैश्योपकारक' में गुप्तजी की रचनाएँ प्रकाश में आने लगी थीं, पर उनकी कीर्ति का प्रकाश 'सरस्वती' में लिखने से ही व्यापक क्षेत्र में फैला। द्विवेदीजी ने उनके नाम के साथ 'बाबू' जोड़कर उन्हें सम्मानित किया। उनके समय में दूसरे प्रसिद्ध बाबू थे श्यामसुन्दरदास और उनसे पूर्व आधुनिक युग के जन्मदाता 'बाबू हरिश्चन्द्र'।

गुप्तजी की प्रथम प्रबन्ध सचित्र कृति 'रंग में भंग' है। उसके पश्चात् उनके मौलिक ग्रन्थों की संख्या चालीस से अधिक तथा अनुवाद-ग्रन्थों की छः है। जिस कृति ने कवि को राष्ट्र व्यापक बना दिया वह है उनकी 'भारत भारती' जो हिन्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तान' को दृष्टि में रखकर लिखी गई है। आचार्य द्विवेदीजी ने कवि को 'मुसद्दसे हाली' के समान ही हिन्दुओं में प्रेरणा भरने की दृष्टि से एक रचना लिखने का आदेश दिया था। 'भारत भारती' की भूमिका में कवि ने लिखा है, "हाली और कैफ़ी के मुसद्दसों से मैंने लाभ उठाया है।" हाली का मुसद्दस सन् १८७९ में प्रकाशित हुआ था जिसमें मुसलमानों को अपने अतीत के गौरव तथा वर्तमान दुर्दशा का स्मरण कराया गया था और भविष्य की उन्नति के लिए प्रेरित किया गया था। 'भारत भारती' ने हिन्दुओं में वही प्राण-शक्ति संचारित की जो 'मुसद्दसे हाली' ने मुसलमानों में की, यद्यपि 'हाली' से प्रेरित पं० व्रजमोहन दत्तात्रय कैफ़ी ने भी अपना 'मुसद्दस' हिन्दुओं को प्रेरित करने के लिए लिखा था पर वह 'भारत भारती' के समान लोकप्रिय नहीं बन सका। काव्य-कला की दृष्टि से भले ही 'भारत भारती' कवि के अन्य ग्रन्थों से हलका प्रतीत हो, पर लोक-जागरण और कीर्ति संवर्द्धन की दृष्टि से उसका अपना विशिष्ट स्थान है। छोटे खण्ड-काव्यों में 'जयद्रथवध', 'शकुन्तला', 'पंचवटी' अधिक लोकप्रिय हैं। 'जयद्रथ वध' और 'पंचवटी' तो अनेक विश्वविद्यालयों तथा हिन्दी परीक्षाओं में वर्षों से पाठ्य-पुस्तकों के रूप में पढ़ाई जा रही हैं। 'पंचवटी' में भाषा का माधुर्य, उसकी चित्रात्मकता, मानव और मानवेतर प्रकृति-चित्रण पाठक को

विमुग्ध कर देते हैं। लोक-प्रियता और काव्य-रस की दृष्टि से 'साकेत' और 'यशोधरा' खड़ोबोली काव्य की अमर रचनाएँ हैं। रवीन्द्रनाथ ने 'काव्येर उपेक्षिता' नामक लेख में काव्य में उपेक्षिता नारियों का करुण वर्णन किया था। उसी के आधार पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी 'सरस्वती' में एक लेख लिखा और गुप्तजी का ध्यान उस ओर आकर्षित किया। गुप्तजी ने उपेक्षिता उर्मिला की विरह-व्यथा की कथा 'साकेत' में निबद्ध कर दी। खड़ीबोली हिन्दी-प्रबन्ध-काव्य में उसका स्पृहणीय स्थान है 'नवम सर्ग' उसका प्राण है। उसके कई गीत अत्यन्त मधुर हैं। छायावाद का युग— गीतियों में विरह-निवेदन का युग था। गुप्तजी ने युगानुरूप ही अपने प्रिय छन्द हरि-गीतिका, गीतिका आदि का त्याग कर गीति-शैली अपनायी।

"मुझे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो"

गीत कितना हृदयवेधी है! इसी प्रकार—

"दरसो परसो घन बरसो
सरसो जीर्ण शीर्ण धरती के तुम नवजीवन बरसो
उमड़ उठो आषाढ़ घुमड़कर पावन सावन बरसो
सृष्टि दृष्टि के अंजन रंजन ताप विभंजन बरसो।"

में पद-लालित्य हृदय को सरसाने वाले हैं। 'साकेत' में सरस गीतों के अतिरिक्त भाव भंगिमा से चमत्कृत करने वाली उक्तियों की भी कमी नहीं है। उसके पात्र परम्परा से भक्त कवियों द्वारा चित्रित राम, लक्षण, सीता, कैकेयी नहीं हैं, वे मैथिलीशरण गुप्त की अपनी युग-भावना के अनुरूप आचरण करने वाले मानव, जो अतिमानव का आभास-मात्र कराते हैं। 'साकेत' के अतिरिक्त कवि की 'यशोधरा' और 'विष्णुप्रिया' ने भी लोक-प्रियता प्राप्त की है। 'यशोधरा' में नारी का आत्मसम्मान, गौरव और संयम अत्यन्त मुखर है। वह गद्य-पद्य मिश्रित अपनी शैली का अभिनव काव्य है। उसकी अमर पंक्तियाँ—

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आंखों में पानी॥"

नारी-जीवन के करुण जीवन का निर्देश-सूत्र है। साहित्य-मनीषियों में उर्मिला और यशोधरा के विरह-वर्णन की उत्कृष्टता-अपकृष्टता पर चर्चा उठती रहती है। जहाँ उर्मिला के विरह में कामुक नारी का चीत्कारमय असंयम है वहाँ यशोधरा में शालीन नारी का संयम और गौरवपूर्ण उपालम्भ है। पर दोनों का चित्रण जिन मानसिक स्थितियों में हुआ है उनसे वह विसंगत नहीं जान पड़ता।

कृष्णमय भक्त चैतन्य की विस्मृता पत्नी विष्णुप्रिया की व्यथा का कितना भाव-भीना चित्र निम्न गीत में है—

खोये से रहते हैं प्यारे! मानो अब निज से भी न्यारे!
सखि मैं लाजो मर गई सुन उनकी वह बात
रास रचौ राधा, चलो आज रुपहली रात

क्यों तुम यों अपना मन मारो।
झरकर आँसू बह उठे, भर भर लाये मेह
हर हर मैं कहने लगी थर थर कांपी देह।
वे थे सारी सुधबुध हारे।
खोये से रहते हैं प्यारे।

हिन्दुओं को लक्ष्य कर लिखी गई 'भारत भारती' से उन्हें सम्प्रदाय विशेष में उसी प्रकार बाँधा जा सकता है जिस प्रकार गांधीजी को 'वैष्णव जन तो तेने कहिए जो पीर पराई जाणे रे' गीत गाने पर सम्प्रदायवादी नहीं माना जा सकता। सच्चे वैष्णव के हृदय में प्रेम की कोई सीमा ही नहीं रहती। जो कवि सारे विश्व को विष्णु या राममय मानता हैं उसे मस्जिद, मन्दिर और गुरुद्वारे में भी वही दीख पड़ता है और वह श्रद्धावनत हो जाता है।

'काबा', 'कर्बला', 'अर्जन', 'विसर्जन' आदि कृतियाँ उनकी व्यापक भावभूमि की परिचायिकाएँ हैं। मैथिलीशरण का काव्य वाणी विलास नहीं है, 'लोकहिताय' है, सोद्देश्य है, मानव को जगाने और उसे उदात्त भाव में भरने वाला है। सन् १९१४ की 'सरस्वती' में प्रकाशित उनके लखनऊ-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में पठित लेख से उनके कविता-सम्बन्धी विचारों का पता चलता है। उस समय भी कविता में साधारणीकरण पर उन्होंने बल दिया था। 'जिस कविता में सहअनुभूति के भाव न हों वह कविता नहीं' सहअनुभूति ही साधारणीकरण का दूसरा सोपान है।

'मैथिलीशरण' कवि ही नहीं, काव्य मर्मज्ञ और समीक्षक भी रहे हैं। अपनी कृतियों की प्रतिकूल आलोचनाओं का समुचित उत्तर भी देते रहे हैं। 'साकेत' पर महात्मा गांधी और उनके बीच होने वाला पत्र-व्यवहार, 'जयद्रथ-वध' पर लाला भगवानदीन के आक्षेपों का उत्तर, 'कविता कलाप' में संगृहीत उनकी कविताओं के दोषों को पं० कामताप्रसाद गुरु द्वारा 'खड़ीबोली की स्वतन्त्रता' शीर्षक लेख में उल्लेख का करारा जवाब, वियोगी हरि को ब्रजभाषा की वकालत करने पर आक्रमक उत्तर इसके उदाहरण हैं।

उन्होंने 'मधुप' के नाम ने माइकल मधुसूदन दत्त की बँगला कृतियों का सरस अनुवाद किया है। उन्होंने फ़ारसी के कवि उमर खैयाम की रूबाइयों और संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'स्वप्न वासवदत्ता' का अनुवाद भी किया है। विरहिणी ब्रजांगना का

"कलकल ध्वनि से क्या कहती हो, यमुने ! मुझसे कहो-कहो।"

गीत बचपन से ही मेरे मन में गूँज रहा है।

गुप्तजी ७८ वर्ष के हो गए थे पर उनकी प्रतिभा ने विश्राम लेना स्वीकार नहीं किया था। वे पद्य में व्यक्तियों और पत्र-पत्रिकाओं को अविलम्ब आशीर्वाद भेज दिया करते थे। उनके ऐसे कुछ पत्र आज मेरी निजी सम्पत्ति बन गए हैं।

डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु

स्वराज्योत्तर दिनकर-साहित्य

(१)

स्वतन्त्रता के पूर्व राष्ट्रकवि दिनकरजी की कौन-कौनसी पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं ? मेरे जानते यह सूची बहुत लम्बी नहीं है। 'रेणुका', 'हुंकार', 'रसवन्ती', 'द्वन्द्वगीत', 'कुरुक्षेत्र', 'सामधेनी', 'धूप छाँह' और 'मिट्टी की ओर'। जहाँ तक मुझे स्मरण है, १५ अगस्त, १६४७ ई० के पूर्व तक दिनकरजी के इतने ही ग्रन्थ प्रकाश में आये थे, यद्यपि इन ग्रन्थों ने उनके लिए लगभग वही स्थान बना दिया था जिस पर दिनकरजी आज आसीन हैं।

दिनकरजी जब काव्य के क्षेत्र में आए, उस समय हिन्दी में कविता की दो धाराएँ बहुत ही स्पष्ट थीं। एक धारा छायावादी काव्य की थी जिस पर आक्षेप यह था कि वास्तविकता से ईषत् दूर है। दूसरी धारा राष्ट्रीय कविताओं की थी जो वास्तविकता की अत्यधिक आराधना करने के कारण कला की सूक्ष्म भंगिमाओं को अपनाने में असमर्थ थी। दिनकरजी ने काव्य-पाठकों का ध्यान विशेष रूप से इसलिए आकृष्ट किया कि उन्होंने कला को वास्तविकता के समीप ला दिया, अथवा यों कहें कि राष्ट्रीय धारा की कविताओं में उन्होंने कला की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भंगिमाएँ उत्पन्न कर दीं। दिनकरजी में शक्ति और सौन्दर्य का जो मणिकांचन-संयोग दिखाई पड़ा, वही उनकी कीर्ति का आधार बना।

यदि 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्वगीत' को अलग कर दें तो दिखाई यह देता है कि स्वराज्य-प्राप्ति के पूर्व तक दिनकर-काव्य का मूल-उत्स भारत का स्वतन्त्रता-संग्राम था। 'चक्रवाल' की भूमिका में दिनकरजी ने यह संकेत दिया है कि राष्ट्रीयता उनकी अन्तरात्मा का स्वर नहीं था। यह तत्त्व उनके भीतर काल ने बरबस सन्निविष्ट कर दिया। मैं दिनकरजी के इस आत्मविश्लेषण को स्वीकार नहीं करता। राष्ट्रीयता उनकी आत्मा का प्रधान स्वर रहा है। इससे बचने का उन्होंने जो भी प्रयास किया है, वह बौद्धिक है। किन्तु संकट के समय मनुष्य बुद्धि नहीं, भावना के अधीन हो जाता है। स्वराज्य के उपरान्त दिनकरजी ने राष्ट्रीयता से पिंड छुड़ाने को कितनी ही बार कठोर चिन्तन किया, कई निबन्ध लिखे, कई भाषण दिए और कुछ कविताएँ भी लिखीं, किन्तु भारत पर जब चीन ने आक्रमण किया, दिनकरजी के समस्त अस्तित्व पर राष्ट्रीयता अत्यन्त उग्र बनकर छा गई और उन्होंने कई ऐसी ओजस्विनी कविताएँ लिख डालीं जिनसे कला और दर्शन-विषयक उनके अनेक ऐसे विचार खण्डित हो गए जिन्हें उन्होंने बड़ी ही तन्मयता से गढ़ा था। 'परशुराम की प्रतीक्षा' पर प्रगतिवादियों ने जो आक्रमण किया वह मूल में राष्ट्रीयता के विस्फोट पर अन्तर्राष्ट्रीयता का ही प्रहार था, अन्यथा यह समझने का कोई आधार नहीं है कि दिनकरजी सैनिक अधिनायकवाद के हामी हैं और उनके विरोधी प्रजातन्त्र के ध्वजधारी।

सन् १९४७ ई० में जब भारत स्वाधीन हुआ, उस समय दिनकरजी बड़े ही उत्साह में थे। स्वतन्त्रता का स्वागत दिनकरजी ने जितने खुले कण्ठ से किया, उतने खुले कण्ठ से स्वराज्य का अभिनन्दन और किसी कवि ने नहीं किया था। साम्यवादी तो इस स्वराज्य को स्वराज्य ही नहीं मानते थे। हमारे कुछ अन्य तेजस्वी कवि कदाचित् साम्प्रदायिक मार-काट से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण खिन्न थे। किन्तु, दिनकरजी का उत्साह एक वर्ष से अधिक नहीं टिका। सन् १९४८ ई० में जब स्वराज्य की पहली वर्षगाँठ मनाई गई तब दिनकरजी की एक व्यंग्यात्मक रचना 'वर्ष-गाँठ' के नाम से छपी, जिसमें शासन की उन सारी दुर्बलताओं का उल्लेख है जिनकी चर्चा अब ज़ोरों से की जा रही है।

टोपी कहती है, मैं थैली बन सकती हूँ,
कुरता कहता है, मुझे बोरिया ही कर लो।
ईमान बचाकर कहती है आँखें सबकी,
बिकने को हूँ तैयार, खुशी हो, जो दे दो।

दिनकरजी में भविष्यवक्ता के गुण कई बार दिखाई पड़े हैं। दिनकर-काव्य का शोध करके यदि इस विषय का पता लगाया जाय तो यह एक रोचक निबन्ध होगा। किन्तु, तब भी दिनकरजी कांग्रेस के ही पक्ष में थे। इसी कविता में उन समाजवादियों पर भी व्यंग्य है जो जयप्रकाशजी के नेतृत्व में उस समय कांग्रेस से बाहर निकलकर अपना अलग दल स्थापित करना चाहते थे। किन्तु, कवि का मत था कि समाजवादियों को कांग्रेस नहीं छोड़नी चाहिए।

है कौन ठीक ? गांधीवादी या कम्युनिस्ट ?
या सोशलिस्ट जो कांगरेस से अलग कूद
कुछ नये ढंग के शस्त्र बनाने वाले हैं।

अब जयप्रकाशजी भी कहते हैं कि सन् १९४८ ई० में उनका कांग्रेस छोड़ना ठीक नहीं था। किन्तु, सन् १९४८ में उन्होंने उस कवि के व्यंग्य को नहीं समझा जिसने साहित्य में उनके नाम को उतना महत्त्वपूर्ण बना दिया था।

दिनकरजी जब संसत्सदस्य बनकर दिल्ली गये तब भी दिल्ली के रंग-ढंग से वे काफ़ी अप्रसन्न रहे। 'दिल्ली' नामक संग्रह में संगृहीत उनकी 'हक़ की पुकार' और 'रेशमी नगर' ये दो कविताएँ इस बात का प्रमाण हैं। सरकारी तन्त्र की शिथिलता, उसके आलस्य और नेताओं की अर्थहीन घोषणाओं से व्यथित होकर उन्होंने और भी बहुत-सी कविताएँ लिखीं जो उनके विभिन्न संग्रहों में संकलित हैं। कांग्रेस-दल के सदस्य वे पूरी जागरूकता में हुए थे। देश के अन्य राजनीतिक दलों की अपेक्षा कांग्रेस को वे अधिक श्रद्धा और स्नेह से देखते हैं। किन्तु, उन्हें यह भी आशंका है कि यदि कांग्रेस शीघ्रता के साथ देश से विषमता को दूर नहीं कर सकी तो देश के भीतर विप्लव का विस्फोट होकर रहेगा। इस आशंका की अभिव्यक्ति उन्होंने अनेक कविताओं में की है।

वज्र की दीवार जब भी टूटती है,
नींव की यह वेदना विकराल बनकर छूटती है।
दौड़ता है दर्द की तलवार बनकर
पत्थरों के पेट से नरसिंह ले अवतार।
काँपती है वज्र की दीवार।
(नींव का हाहाकार)

स्वत्व छीनकर क्रान्ति छोड़ती कठिनाई से प्राण,
बड़ी कृपा उसकी भारत में माँग रही वह दान।
(भूदान)

कृष्ण दूत बनकर आया है, सन्धि करो सम्राट।
मच जायेगा प्रलय, कहीं वामन हो पड़ा विराट।
(भूदान)

ऐसा टूटेगा मोह, एक दिन के भीतर
इस राग-रंग की पूरी बर्बादी होगी;
जब तक न देश के घर-घर में रेशम होगा,
तब तक दिल्ली के भी तन पर खादी होगी।
(भारत का यह रेशमी नगर)

हठी, तुम्हारे पापों से
फिर एक प्रलय छानेवाला है;
गांधी ने भूकम्प किया,
तूफान वही लानेवाला है।
(कांटों का गीत)

जब भी कोई लेखक, कवि या कलाकार राजनीति की ओर कदम उठाता है, हिन्दी के प्रेमी चौकन्ने हो उठते हैं क्योंकि उन्हें भ्रम है कि राजनीति में जाने से साहित्यकार की प्रतिभा क्षीण हो जाती है। दिनकरजी ने इस भ्रम का सम्पूर्ण निराकरण कर दिया है। साहित्यिक प्रतिभा का शत्रु राजनीति में जाना नहीं, राजनीति में पड़ना होता है और राजनीति में पड़ने की बीमारी केवल उन्हें ही नहीं लगती जो संसद में जाते हैं, प्रत्युत, उसके लिए विश्वविद्यालय भी यथेष्ट हैं, सम्मेलनों के अखाड़े भी काफ़ी हैं, यहाँ तक कि परिवार और मित्रमण्डली में भी यह रोग लग सकता है। दिनकरजी राजनीति में गए तो, किन्तु उसमें पड़ने से उन्होंने अपने-आपको बचा लिया। इसीलिए, उनके संसदीय जीवन का काल साहित्य-सृजन का भी अद्भुत काल रहा है। सन् १९५२ ई० से लेकर सन् १९६३ ई० के बीच उन्होंने जितने ग्रन्थों की रचना की उतने ग्रन्थों की रचना इतनी छोटी अवधि में पहले कभी नहीं की थी। 'रश्मिरथी' और 'अर्द्धनारीश्वर', ये दो ग्रन्थ भी स्वराज्य-प्राप्ति के उपरान्त ही रचे गए थे, किन्तु, इनका रचना-काल वह है जब दिनकरजी मुजफ्फरपुर के लंगटसिंह कालेज में हिन्दी के विभागाध्यक्ष थे। संसत्सदस्य होने के बाद उन्होंने काव्य के क्षेत्र में 'नीम के पत्ते',

'धूप और धुआँ', 'नील कुसुम', 'सीपी और शंख', 'नये सुभाषित', 'उर्वशी', 'परशुराम की प्रतीक्षा', 'कोयला और कवित्व' तथा 'आत्मा की आँखें', इन नौ पुस्तकों की रचना की। यदि गद्य को लें तो दिल्ली रहते हुए दिनकरजी ने गद्य-ग्रन्थों का छोटा-मोटा अम्बार-सा लगा दिया। 'वेणुवन', 'रेती के फूल', 'उजली आग', 'चक्रवाल की भूमिका', 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण', 'वटपीपल', 'देश-विदेश', 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता', 'भारत की सांस्कृतिक एकता' तथा सबसे बढ़कर आठ सौ पृष्ठों का 'संस्कृति के चार अध्याय', ये सारे ग्रन्थ उन्हीं दिनों रचे गए जब दिनकरजी संसद के सदस्य थे। इन्हीं के साथ हमें कुछ बाल-साहित्य की भी गणना करनी चाहिए जिनमें 'मिर्च का मजा', और 'सूरज का ब्याह' ये दो छोटी पुस्तकें बच्चों के लिए अत्यन्त रोचक सिद्ध हुई हैं। स्वराज्य के बाद दिनकरजी की दो पुस्तकें और प्रकाशित हुईं। एक तो 'बापू', जिसकी एक रचना स्वराज्य के पूर्व की है और दूसरी उसके परे की; तथा दूसरी 'इतिहास के आँसू', जिसकी प्रथम रचना 'मगध-महिमा' दिनकरजी की भारत-विषयक भावना के समझने में यथेष्ट सहायता देती है।

(२)

दिनकरजी के भाव और कल्पना गिनती की दो-चार दिशाओं में सीमित नहीं हैं। उनका परिचय अनेक दिशाओं से है, उनकी सहानुभूति भी अनेक दिशाओं में दौड़ती है। यही कारण है कि दिनकरजी आलोचकों के आगे समस्यापुञ्ज के रूप में विद्यमान हैं। जितनी पुस्तकें दिनकरजी पर लिखी गई हैं, जीवन-काल में उतनी पुस्तकें कम ही कवियों पर लिखी जाती हैं। किन्तु दिनकरजी आज भी सम्पूर्ण रूप से विश्लिष्ट नहीं हैं। उनके कई पहलू ऐसे हैं जिन पर अभी लेखनी उठाई ही नहीं गई है।

स्वराज्य-प्राप्ति के पूर्व तक दिनकरजी ने जीवन के अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष पर बल नहीं दिया था। किन्तु स्वाधीनता के बाद वे जीवन को अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में भी देखने का अभ्यास करने लगे। उनके किसी निबन्ध-संग्रह में 'जननी-जन्मभूमिश्च' नामक लेख है जिसमें वे यह सोचने का प्रयास करते हैं कि अपने देश को अन्य देशों से श्रेष्ठ समझने का नैतिक आधार क्या है। 'नील कुसुम' में भी दो कविताएँ ऐसी हैं जिनसे प्रतीत होता है कि दिनकरजी राष्ट्रीयता का बन्धन तोड़कर महामानवता का आलिंगन करना चाहते हैं। एक कविता का तो शीर्षक ही 'राष्ट्रदेवता का विसर्जन' है। किन्तु जिस कवि ने आजीवन राष्ट्रीयता की आराधना की हो, उसे राष्ट्रीयता से छूटने का मार्ग कठिनाई से मिलेगा। फिर भी दिनकरजी ने तर्कों के जो सोपान गढ़े हैं वे बिलकुल असंगत नहीं लगते। उनका चिन्तन कुछ इस प्रकार का है कि पराधीन जातियों के लिए राष्ट्रीयता ही मोक्ष का साधन है क्योंकि जब तक राष्ट्रीयता का आश्रय ये जातियाँ नहीं लेतीं तब तक वे स्वाधीन नहीं हो सकेंगी। किन्तु सभी देश स्वाधीन हो जाएँ और तब भी अपनी जातीय सीमाओं में बँधे रहें तो इससे विश्व की एकता असम्भव हो जाएगी। अतएव, दिनकरजी कहते हैं कि राह चलते पाँव में यदि काँटा चुभ जाए तो उसे निकालने के लिए दूसरे काँटे की आवश्यकता होती है। किन्तु काँटा निकल

जाने पर दोनों ही काँटों को फेंक देना चाहिए। इस तर्क से जैसे दासता एक प्रकार का शूल है, वैसे ही राष्ट्रीयता भी शूल है। भारत ने एक शूल का उपयोग करके दूसरे शूल को निकाल दिया है। अब उचित है कि वह इस उद्धारक शूल को भी फेंक दे। इसीलिए दिनकरजी यह नहीं कहते कि राष्ट्रीयता दूषित तत्त्व है, अतएव उसका त्याग करना चाहिए, प्रत्युत यह कि राष्ट्रीयता का उपयोग समाप्त हो गया। अब कल्याण इसी में है कि राष्ट्रीयता को विदा दे दें।

खण्ड-प्रलय हो चुका, राष्ट्रदेवता ! सिधारो,
क्षीरोदधि को अब प्रदाह जग का धोने दो।
महानाग फण तोड़ अमृत के पास झुकेगा,
विषधर पर आसीन विष्णु-नर को होने दो।

(राष्ट्रदेवता का विसर्जन)

अर्थात् राष्ट्रीय भावों का विस्फोट विषधर नाग है तथा अन्तर्राष्ट्रीय भाव विष्णु का प्रतीक है। विष्णु की शैया शेषनाग का शरीर है। इसी प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय राष्ट्रीयता के आधार पर खड़ी रहेगी।

'नील कुसुम' में संकलित 'हिमालय का सन्देश' नाम्नी कविता में भी राष्ट्रीयता त्याज्य बताई गई है क्योंकि युद्ध अपने को राष्ट्रवाद का सखा समझता है।

जब तक ये झण्डे फहर रहे, अभिमान नहीं यह सोता है,
देखें तो, तब तक विश्व-मनुज का जन्म कहाँ से होता है ?
मैं राष्ट्रवाद का सखा, कौन तोड़ेगा मेरा सम्मोहन ?

(हिमालय का संदेश)

निष्कर्ष यह कि जब तक राष्ट्रीयता के प्राचीर नहीं टूटते, तब तक युद्ध का भी शमन नहीं होगा। राष्ट्रीय भावों के उभार से युद्ध की सम्भावना ज़ोर पकड़ती है। मनुष्य ज्यों-ज्यों अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर बढ़ेगा, युद्ध की सम्भावना न्यून और शान्ति की प्रगति अधिक होती जाएगी।

इस सम्बन्ध में यह ध्यानदांतव्य है कि स्वाधीनता के आगमन के उपरान्त दिनकरजी ने भारत की कल्पना जिस रूप में की है वह ऐसा देश नहीं है जो सामरिक शक्ति बढ़ा कर संसार में अपना आतंक जमाने की चेष्टा करे। वह भारत त्यागी है, तपस्वी है, शान्ति का प्रेमी और निष्कलंक है।

निज से विरत, सकल मानवता के हित में अनुरत-से,
भारत ! राजभवन में आओ सचमुच आज भरत-से।
हवन-पूत कर में सुदण्ड नव, जटाजूट पर ताज,
जगत् देखने को आयेगा संन्यासी का राज।

(भारत का आगमन; मृत्ति-तिलक)

एक हाथ में कमल, एक में धर्मदीप्त विज्ञान
लेकर उठने वाला है धरती पर हिन्दुस्तान।

(राजर्षि-अभिनन्दन; मृत्ति-तिलक)

उठे जहाँ भी घोष शान्ति का, भारत ! स्वर तेरा है।
धर्मदीप हो जिसके भी कर में, वह नर तेरा है।
तेरा है वह वीर सत्य पर जो अड़ने जाता है
किसी न्याय के लिए प्राण अर्पण करने जाता है।

(किसको नमन करूँ मैं ?)

नीलकुसुम में संकलित "किसको नमन करूँ मैं ?" शीर्षक कविता में आगामी भारत का जो रूप उभरा है वह चन्द्रगुप्त नहीं, अशोक का भारत है, खड्गधर वशिष्ठ का नहीं, ऋचाओं के स्रष्टा ब्रह्मर्षि वशिष्ठ का भारत है। गांधी और रवीन्द्र ने जिस भारत की कल्पना की थी उसका रूप इस कविता में जितना सुस्पष्ट हुआ है उतना सुस्पष्ट वह और किसी भी काव्य में नहीं हुआ था।

भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है,
एक देश का नहीं, शील यह भूमण्डल भर का है।
जहाँ कहीं एकता अखण्डित, जहाँ प्रेम का स्वर है,
देश-देश में वहाँ खड़ा भारत जीवित, भास्वर है।

भारत-विषयक यह धारणा दिनकरजी की एक और कविता में पल्लवित हुई है।

भारत एक स्वप्न भू को ऊपर ले जाने वाला,
भारत एक विचार स्वर्ग को भू पर लानेवाला।
भारत एक भाव जिसको पाकर मनुष्य जगता है,
भारत एक जलज जिस पर जल का न दाग लगता है।
भारत है संज्ञा विराग की, उज्ज्वल आत्म-उदय की,
भारत है आभा मनुष्य की सबसे बड़ी विजय की।
जहाँ त्याग माधुर्यपूर्ण हो, जहाँ भोग निष्काम,
समरस हो कामना, वहीं भारत को करो प्रणाम।

(हिमालय का संदेश)

एक स्थान पर भारत के इस रूप का स्मरण कवि ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' में भी किया है।

गांधी, बुद्ध, अशोक नाम हैं बहुत बड़ी महिमा के।
भारत स्वयं मनुष्य-जाति की बहुत बड़ी कविता है।

(इतिहास का न्याय)

किन्तु, जिस कवि ने शान्तिकामी भारत का ऐसा पवित्र चित्र अंकित किया, उसने 'परशुराम की प्रतीक्षा' कैसे लिखी, यही वह प्रश्न है जिसके कारण दिनकरजी को मैं समस्यापुंज कहता हूँ। और तब भी इससे कौन इनकार कर सकता है कि सारे देश में दिनकर ही वह प्राणवान कवि है जो ऐसी ज्वलन्त कविता लिख सकता था ? इस कविता के पक्ष या विपक्ष में बोलनेवाले लोग तनिक सावधानी से जीभ खोलें तो सत्य के प्रति अन्याय कुछ कम होगा, क्योंकि वे एक ऐसी कविता की आलोचना कर

रहे हैं जो किसी के जिलाये नहीं, प्रत्युत अपनी आयु के कारण जियेगी और जिसकी निन्दा इस देश की जनता सुनने को तैयार नहीं है। कवि बादल होता है जो बरसने के समय यह नहीं सोचता कि इस खेत में बरसाना चाहिए और उस खेत में नहीं बरसाना चाहिए। गांधीवादी विद्वान् यदि खड्ग का सामना खड्ग से करने को बिलकुल ही प्रस्तुत नहीं हों तो इस कविता की निन्दा वे कर सकते हैं। जनसंघी पंडित यदि हज़रत अली की जय पुकारने में भारतीय संस्कृति का अपमान नहीं समझते तो इस कविता को वे अवश्य अपना लें क्योंकि तब वे साम्प्रदायिक नहीं समझे जाएँगे। और साम्यवादियों का विचार यदि यह हो कि तलवार केवल उन शत्रुओं के विरुद्ध उठेगी जो साम्यवादी नहीं हैं तो फिर यह उचित ही है कि वे इस कविता का बहिष्कार करें। किन्तु, ये सभी लोग देश के एक शीर्षस्थ कवि और बलिदान की जीतीजागती मूर्त्ति, देशभक्त पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की इस उक्ति को याद रखें कि 'हिन्दी-संसार का अगर मुझमें विश्वास है तो वे दिनकर की इस कृति को पढ़ें।''

तार्किक पण्डित का प्रयत्न यह होता है कि वह कोई ऐसी उक्ति मुख से न निकाले जिससे उसकी किसी अन्य उक्ति का खण्डन होता हो। कलाकार को लोभ इस बात का होता है कि वह आनन्ददायी अधिक, उपदेशकार बहुत कम हो। विशेषतः, कलाकारों में सौन्दर्य के प्रति पक्षपात होता है। वे गुलाब और कमल के वर्णन में रस लेते हैं तथा जो कवि भूख और अभाव से पीड़ित लोगों की बातें करता है उसे लगभग अकवि बनाना चाहते हैं। किन्तु, वास्तविकता सौन्दर्यबोध के इन काल्पनिक नियमों का सदैव आदर नहीं करती। जब क्षुधा, दुर्भिक्ष, अभाव और हाहाकार की सेना हुंकार भरकर खड़ी हो जाती है, तब कलाकार भी उस आतंक की उपेक्षा नहीं कर सकता। चीनी आक्रमण से उत्पन्न स्थिति भी वास्तविकता के गर्जन से पूर्ण थी। उस समय भारत, आबालवनितावृद्ध, जिस क्रोध से फुँकार उठा था, उस क्रोध को इतिहास के भीतर कहीं स्थान चाहिए था। सौभाग्य की बात है कि यह स्थान उसे भारत के सबसे समर्थ कवि के हाथों प्राप्त हुआ। काल ने देश के कवियों को एक चुनौति भेजी थी। उसका उत्तर सबसे आगे बढ़कर दिनकर ने दिया। इस कविता से विचारक दिनकरजी को भले ही कुछ आघात पहुँचा हो, किन्तु, कवि दिनकर और समग्र राष्ट्र के लिए यह कविता गौरव की कृति है।

(३)

परशुराम की प्रतीक्षा से दिनकरजी के किस रूप को आघात पहुँचा है, यह विषय भी विचारणीय है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में हिंसा को मुक्त उत्तेजना दी गई है क्योंकि यह काव्य एक ऐसी घड़ी में रचा गया जब धर्म नहीं, आपद्धर्म ही ग्राह्य धर्म था। किन्तु, जहाँ तक हिंसा के आंशिक समर्थन का प्रश्न है, वह दिनकर-काव्य में आरम्भ से ही विद्यमान था। रेणुका, हुंकार, कुरुक्षेत्र और सामधेनी की कविताएँ इसका प्रमाण हैं। रश्मिरथी में कवि की मुद्रा अहिंसा पर आने की मुद्रा है। वह एक स्थान पर इस विचिकित्सा में भी पड़ा है कि महाभारत करके राज्य भोगने की अपेक्षा यह कहीं श्रेष्ठ होता यदि पाण्डव कौरवों को राज्य देकर स्वयं पुनः वनवास

में चले जाते। किन्तु, अपने इस विचार को वह स्वयं यह कह कर काट देता है कि नहीं, यदि यह मार्ग पकड़ा गया तो संसार से अन्याय का उच्छेद नहीं होगा।

युद्ध को दिनकर एक अनिवार्य पाप मानते हैं जिसे पुण्यवान् को भी अनिच्छा-पूर्वक ओढ़ना पड़ता है। रश्मिरथी में उन्होंने कहा था,

हे वृथा धर्म का किसी समय
करना विग्रह के साथ ग्रथन,
करुणा से कढ़ता धर्म विमल,
है मलिन पुत्र हिंसा का रण।

और इसी बात को उन्होंने परशुराम की प्रतीक्षा में भी दुहराया है।

समर पाप साकार, समर क्रीड़ा है पागलपन की;
सभी द्विधाएं व्यर्थ समर में साध्य और साधन की।

(आपद्धर्म)

मेरा विचार है, हिंसा-अहिंसा-विषयक चिंतन के क्रम में परशुराम की प्रतीक्षा ने दिनकरजी के व्यक्तित्व पर कोई आघात नहीं किया है। दिनकरजी के व्यक्तित्व को आघात यहाँ नहीं, कहीं अन्यत्र लगा है। बात यह है कि इधर कई वर्षों से दिनकरजी के भीतर हम निरुद्देश्यता के प्रति इषत् आकर्षण देखते रहे थे। इस आकर्षण की झलक हमें चक्रवाल की भूमिका में ही मिली थी। इस भूमिका में दिनकरजी ने जहाँ यह कहा है कि राष्ट्रीयता उनके स्वभाव नहीं, अर्जित संस्कार से जनमी थी, वहीं उन्होंने नई कविता की प्रशंसा भी की है और असंदिग्ध रूप से यह प्रत्यक्ष कर दिया है कि सोद्देश्य काव्य की अपेक्षा वह काव्य अधिक श्रेष्ठ है जिसके आगे समाजसुधार या जनकल्याण का कोई ध्येय नहीं हो। 'परशुराम की प्रतीक्षा' ने उन्हें इस मान्यता से अलग कर दिया और विस्मय की बात यह है कि जनमत दिनकरजी के निबन्ध नहीं, उनकी कविता के साथ गया।

निरुद्देश्य काव्य की कुछ थोड़ी गन्ध 'नील कुसुम' में भी है और 'नील कुसुम' से अधिक 'कोयला और कवित्व' में। जहाँ तक उर्वशी का प्रश्न है, यह काव्य अन्त तक जाते-जाते सोद्देश्यता के वृत्त में पड़ जाता है अन्यथा उसका कलेवर अधिकांश में निरुद्देश्यता के सौरभ से सुरभित है।

दिनकरजी उन थोड़े से कवियों में से हैं जिनका काव्य शताब्दियों तक जीवित रहेगा, किन्तु, काल के प्रांगण में अधिक दूर तक उन्हें 'उर्वशी' ले जाएगी या 'कुरुक्षेत्र' ले जाएगा, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। तब भी, उर्वशी अत्यन्त विलक्षण काव्य है। एक घिसे-पिटे प्राचीन विषय पर इतना अछूता और नवीन काव्य ऐसी प्रखरता से लिखा जा सकता है, यह आश्चर्य का विषय है। किन्तु, जिस कृति पर आश्चर्य नहीं होता, वह चिरायु भी नहीं होती है। उर्वशी को लेकर हिन्दी में पिछले तीन वर्षों से बड़ा भारी कोलाहल रहा है। इस काव्य के पक्ष और विपक्ष में बातें जिस उत्कटता से कही गई हैं उस उत्कटता से आलोचक अपना मत बहुत कम दिया करते हैं। किन्तु, कहने के योग्य जो सूक्ष्म बातें हैं वे अभी नहीं कही गई हैं।

उदाहरणार्थ, जैसे तुलसीदास की रामायण पढ़ते समय हमें बहुधा संस्कृत के काव्यों, शास्त्रों और पुराणों की स्मृति हो आती है, उसी प्रकार समधीत पाठक जब उर्वशी पढ़ने लगता है तब उसके भीतर अधुनातन मनोविज्ञान के सिद्धान्त करवट बदलने लगते हैं। उचित है कि नवयुवक विद्वान् इस युग के अन्तर्राष्ट्रीय काव्य और मनोविज्ञान की अथाह गहराई में प्रवेश करें और उन सभी पुष्टियों और पेयों का पता लगाएँ जिन्हें आत्मसात् करके यह काव्य इतना विलक्षण और बलवान् हो पड़ा है।

अतल, अनादि, अनन्त, पूर्ण, बृंहित, अपार अम्बर में
सीमा खींचें कहाँ? निमिष, पल, दिवस, मास संवत्सर
महाकाश में टंगे काल के लक्तक-से लगते हैं।
किस समाधि का शिखर, चेतना जिस पर ठहर गई है?
उड़ता हुआ विशिख अम्बर में स्थिर-समान लगता है।

(उर्वशी; तृतीय अंक)

यह उर्वशी की उक्ति है। किन्तु, पुरूरवा के उद्गारों में भी कई ऐसी अनुभूतियाँ हैं जो आइंस्टीन के देश-काल-सातत्य (टाइम-स्पेस-कँटीनुअम) के सिद्धान्त की व्याख्या के बिना पूर्ण रूप से समझी नहीं जा सकतीं।

कहाँ देश, हम नहीं व्योम में जिसके गूँज रहे हैं?
कौन कल्प, हम नहीं तैरते हैं जिसके सागर में?
महाशून्य का उत्स हमारे मन का भी उद्गम है।
बहती है चेतना काल के आदि-मूल को छू कर।

अथवा काल को सम्बोधित करते हुए पुरूरवा जब यह कहता है कि

कहीं समापन नहीं ऊर्ध्वगामी जीवन की गति का;
काल-पयोनिधि का त्रिकाल में कोई कूल नहीं है।
रुको, पान करने दो शीतलता शतपत्र कमल की;
एक सघन क्षण में समेटने दो विस्तार समय का,
एक पुष्प में भर त्रिकाल की सुरभि सूँघ लेने दो।

तब इन पंक्तियों का रहस्य उद्घाटित करने के लिए काल की दार्शनिक और वैज्ञानिक व्याख्या आवश्यक हो जाती है।

इसी प्रकार सुख की तरंग पर चढ़ी हुई उर्वशी जब यह पूछती है कि

रोम-रोम में वृक्ष, तरंगित-फेनिल हरियाली पर
चढ़ी हुई आकाश-ओर में कहाँ उड़ी जाती हूँ?

अथवा अतिशय-सुखाक्रान्त होकर जब वह यह कहती है कि

जला जा रहा अर्थ सत्य का सपनों की ज्वाला में।
निराकार में आकारों की पृथ्वी डूब रही है।

'तब इन अनुभूतियों के समझने के लिए आवश्यकता अध्यात्म-शास्त्र की नहीं, प्रत्युत, अधुनातन गम्भीर मनोविज्ञान की प्रतीत होती है। उर्वशी का तृतीय सर्ग आलोचकों से गम्भीर ज्ञान एवं भावाकुल हृदय की माँग करता है। यह एक चुनौती

है जिसके साथ भारतीय मनीषा को संघर्ष करना चाहिए ।'

उर्वशी की महिमा एक-दो सन्दर्भों में बखानने की वस्तु नहीं है, न इसका आख्यान मैं किसी ऐसे स्थान से कर सकता हूँ जहाँ से मेरा पुस्तकालय काफ़ी दूर है। यह एक ऐसा काव्य है जिसकी पंक्ति-पंक्ति ठोस है और प्रत्येक शब्द अपने सही स्थान पर ठुका हुआ है । 'इस काव्य के जो श्रेष्ठतम स्थल हैं वे शीघ्रता से पढ़े नहीं जा सकते ।' उर्वशी साधारण पाठकों के लिए है ना नहीं, इसे भी मैं संदिग्ध मानता हूँ यद्यपि यह सत्य है कि हिन्दी का प्रत्येक पाठक एक बार इस काव्य को पढ़ना चाहता है। उर्वशी वैसे तो पारंपरीण काव्य है; किन्तु जहाँ-जहाँ उसके भीतर से नवीनता उभरती है, वहाँ-वहाँ यह काव्य पाठकों से भी सर्जनात्मक सहयोग की अपेक्षा रखता है।

(४)

दिनकरजी की स्वराज्योत्तर कृतियों में गद्य की महिमा जितनी प्रखरता से निखरी है उतनी प्रखरता से वह 'मिट्टी की ओर' में भी नहीं निखरी थी। स्वराज्य के बाद दिनकरजी के अनेक गद्य-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं जिनमें से कम-से-कम तीन ग्रन्थों का मैं विशेष रूप से उल्लेख करना चाहता हूँ।

'उजली आग' को किस कोटि में रखना ठीक है, इसका निर्णय हिन्दी के आलोचक अब तक नहीं कर पाये हैं। वास्तव में इस छोटी-सी पुस्तक में प्रधानता बोधकथाओं की है । इन कथाओं के कथानक कभी तो यूरोप में प्रचलित पुराणों से लिये गए हैं और कभी चीन के दर्शनाचार्यों से । किन्तु, कितने ही कथानक बिलकुल मौलिक हैं । इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में कुछ विचारोत्तेजक काव्य-गंधी निबन्ध भी हैं। सबसे विलक्षण निबन्ध 'नूतन काव्यशास्त्र' है जिसकी शैली गद्यकाव्य की है, किन्तु चिन्तन काव्यशास्त्रीय है ।

दिनकरजी ने इधर आलोचनाएँ भी यथेष्ट लिखी हैं किन्तु, वे उनके नाना निबन्ध-संग्रहों में विकीर्ण हैं। शुद्ध आलोचना के ग्रन्थ दो ही हैं; एक 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण' तथा दूसरा 'काव्य की भूमिका'। काव्य की भूमिका मुख्यतः सैद्धान्तिक ग्रन्थ है और उसमें काव्य-तत्त्व-विषयक जो चिन्तन हुआ है उससे हिन्दी आलोचना को शक्ति प्राप्त हुई है ।

किन्तु, दिनकरजी का बहुचर्चित विशाल ग्रन्थ 'संस्कृति के चार अध्याय' है। इसके तृतीय संस्करण में इतना अधिक संशोधन और परिमार्जन हुआ है कि इसके समक्ष पहले के दो संस्करण फीके हो गए हैं ।

दिनकर-विरचित ग्रन्थों पर हिन्दी-संसार की दृष्टि केन्द्रित होकर पड़ती है। वह दृष्टि 'संस्कृति के चार अध्याय' पर भी पड़ी तथा इस ग्रन्थ पर भी पक्ष और विपक्ष में सम्मतियाँ उत्कटता के साथ ही प्रकट की गईं। किन्तु, प्रायः सभी आलोचकों ने यह स्वीकार किया कि 'संस्कृति के चार अध्याय' अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है और उसकी रचना में लेखक ने अद्‌भुत अध्यवसाय का परिचय दिया है। यह ग्रन्थ हिन्दी में जम गया है। जो ग्रन्थ पाठ्य-क्रम में लग जाते हैं उनका प्रचार बहुत अधिक

होता है। संस्कृति के चार अध्याय की विशेषता यह है कि वह पाठ्य-क्रम में नहीं रहने पर भी दिनोंदिन स्वयमेव प्रचार पा रहा है। दिनकरजी की कृतियों में उर्वशी, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी और नील कुसुम के ही समान 'संस्कृति के चार अध्याय' का भी गौरवपूर्ण स्थान है।

(५)

स्वराज्योत्तर हिन्दी साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति अनुवाद की है। श्री बालकृष्णराव, श्री बच्चन, श्री भारती आदि कवियों ने विदेशी कविताओं के बहुत ही सुपाठ्य अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। इस दिशा में भी दिनकरजी की दो पुस्तकें प्रत्येक दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। 'सीपी और शंख' में जो कविताएँ हैं वे यूरोप, अमरीका और चीन के कुछ बड़े कवियों की कविताओं के अनुवाद हैं। इधर हाल में 'आत्मा की आंखें' नाम से दिनकरजी ने डी० एच० लारेन्स की सत्तर कविताओं का अनुवाद प्रकाशित किया है।

स्वराज्य के उपरान्त ही दिनकरजी अन्य भाषाओं में प्रवेश करने लगे! उनके कुरुक्षेत्र के पद्यबद्ध अनुवाद कन्नड़ और तेलुगू भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं तथा तमिल में यह अनुवाद अभी धारावाहिक रूप से निकल रहा है। संक्षिप्त रश्मिरथी का अनुवाद उड़िया में निकला है। दिनकरजी की चालीस कविताओं का स्पैनिश अनुवाद दक्षिण अमरीका के चिले देश में कोई विश्वविद्यालय प्रकाशित कर रहा है और साठ कविताओं का एक संग्रह अभी-अभी रूसी में छपा है। इसे भी हमें हिन्दी की स्वराज्योतर उपलब्धि मानना चाहिए।

इलाचन्द्र जोशी

लोकायतन

'लोकायतन' हिन्दी के मध्ययुगीन और आधुनिक महाकाव्यों की परंपरा के साथ एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और नवीनतम कड़ी के रूप में जुड़कर हमारे सामने आता है। इस महाकाव्य की विशिष्टिता का एक कारण यह है कि इसमें पंतजी की जीवनव्यापी साधना एक ऊंचे धरातल पर उभरकर, समग्र युग के बिखराव को समेटती और सँजोती हुई, अपनी सिद्धि को महाकाल के परिप्रेक्ष्य में लाकर खड़ा कर देती है।

कोई बिरला महाकवि ही व्यापक विहंगावलोकन के उस उच्च बिन्दु पर खड़ा होने का साहस कर सकता है जहाँ से काल के बड़े-बड़े खंडों की झाँकी विस्तार से देखी जा सकती है। उसी उच्च बिन्दु से, उन्हीं महा-कालखण्डों के बीच कुलबुलाता हुआ वर्तमान युग, अपने ह्रास और विघटन की पूरी प्रक्रियाओं के साथ महासागर के बीच एक छोटे-से द्वीप की तरह तैरता हुआ, अपने वास्तविक रूप में दिखाई दे सकता है।

'लोकायतन' का कवि उसी उच्च बिन्दु पर खड़ा है। वहीं से वह युग-युग से स्पंदित भारतीय मानस का मंथन करता हुआ, वर्तमान युग की विघटित परिस्थितियों के यथार्थ चित्रण और विश्लेषण के साथ ही, भावी युगों के अधिमानस के पूर्ण विकसित रूप की माँगलिक झाँकी प्रस्तुत करता है।

'पूर्व-स्मृति' या 'आस्था' शीर्षक से 'लोकायतन' का पूर्व द्वार खुलता है। मूर्तिमती पृथ्वी की करुणा-सी, हिम-शिखरों पर आसीन शरद्कालीन उषा-सी, एक अपूर्व ज्योतिर्मयी, ध्यान-मग्ना नारी-मूर्ति पाठक की आँखों के आगे उभरती है। युग-संध्य की घनी सुनहली तमिस्रा की तरह उसके कंधों पर काले कुंतल लहरा रहे हैं। यह है पृथ्वी-पुत्री सीता, जो रामायण के अंत में भूगर्भ में प्रवेश करने के बाद युग-युग से भू-मानस में उपचेतना के रूप में छायी हुई है, और वहीं से ज्ञान-ज्योति की नयी-नयी लहरों के स्फुरण द्वारा मानव-मन की अंध-रूढ़ियों को विनष्ट करती हुई युग-युग में घोर ह्रास और विनाश की काली छायाओं के बीच भी, स्वर्ण-किरणों को बिखेरती रहती है।

सीता की उस एकाग्र ध्यानावस्था में सहसा दीप्त नीलमणिपर्वत के समान मन-मोहन राम का आविर्भाव होता है। सीता को चिन्तित और विचलित-सी देखकर राम उसे समझाते हैं कि आज नये प्रकाश में नये मानव को गढ़ना है, इसलिये बीती बातों को भूलकर नये कल्प की बात सोचनी चाहिए। आज नये कल्प को जन्म देने के लिए पृथ्वी प्रसव-व्यथा से पीड़ित हो उठी है--

'नये कल्प की प्रसव-व्यथा पृथ्वी की,
छिड़ा निखिल जग में बाहर-भीतर रण ।'

कल्पांत की इस संध्या में, जबकि बाहर और भीतर रण छिड़ा हो, मानव-जाति दिशाशून्य हो गई है। उसे नयी दृष्टि देनी है, नया बोध देना है—ऐसी दृष्टि, जो एक ओर देश-काल के पुलिनों को डुबाकर उसे जीवन की विराटता के दर्शन करा सके, और दूसरी ओर उसी विराट् के बीच में स्थित वर्तमान क्षण को ठोस आधार दे सके। जो जड़ और चेतन, इन्द्रिय और आत्मा, स्वर्ग और मर्त्य, व्यक्ति और समूह, उपचेतना और ऊर्ध्वचेतना के बीच का भेद और द्वन्द्व मिटाकर लोक-मानस में एक नये और महत् माँगलिक जीवन के बीज बो सके।

और तब युग-युग की गाथाओं के प्रेरक, अनादि कवि वाल्मीकि प्रकट होते हैं, जो जातियों, राष्ट्रों और शिविरों में विभाजित आज की विनाशधर्मी मनुष्यता की दुःख-गाथा सुनकर मन के वन में ध्यानावस्थित न रह सके। वाल्मीकि कहते हैं—

'आशंकित जन, आपद्-काल भयानक,
प्रलय-सृजन में छिड़ा विश्व-घातक रण,
फिर पाताल-प्रवेश नहीं कर जाये
धरा-चेतना, चिंतित मन इस कारण।
महाह्रास आ जाय न विघटित भू पर
उबर न पाये शतियों तक मानव-मन,
सावधान करने आया मैं जन को,
देख जगत पर घिरे घोर संकट घन।'

आदि कवि अपनी अनादि महिमा से घोर तमसाच्छन्न युगों की वीभत्स पंकिलता से अपरिचित नहीं है। वह स्वयं डाकू का जीवन बिता चुका है और इस कारण मानवीय अवचेतना की अंधी गलियों में भटक चुका है :—

डाकू से कवि बना क्रौंच करुणा-वश
ज्ञात क्षुद्रता विकृति मुझे जीवन की,
अंध स्वार्थ की काम-गुह्य गलियों में
ज्योति भटकती पग-पग पर भू-मन की

और उसी अंध-चेतना से उबरकर उसी के माध्यम से उसने महाजीवन की उस दिव्य महाज्योति की विराटता के दर्शन किये हैं जो युग-युग में ह्रास और विकास के उलटे-सीधे चक्करों में भटकती रहनेवाली मानवता का अंतिम लक्ष्य है। इसीलिए वह आज एक नयी गाथा रचकर, महासत्य पर आधारित एक नया स्वप्न गढ़कर, सामूहिक मानव को एक नयी दृष्टि देने के लिए उत्सुक है। वह चाहता है—

भूत, भविष्यत्, वर्तमान के तम में
देख सकूँ मानव का श्री-नव आनन।
स्वप्नों की निधि से गढ़ सकूँ धरा मन
अंतर-आभा का जो शोभा-दर्पण।

बंधे प्रीति के स्वर्ण-सूत्र में भू-मन
एक बने जग, बहु-देशों में खंडित,
देश-जातियों से निखरे मानवता,
विविध धर्म संस्कृति हों विश्व-समन्वित।
सर्वनाश के अणु-उद्‌जन-आयोजन,
मनुज सिन्धु-जल-तल में करें निमज्जित,
हो रचना-संकल्प महत् जन-क्षमता
लोक क्षेम हो दुर्ग, विकृति पर जय नित।

केवल आदिकवि ही नहीं, सारी प्रकृति, सारी धरती आज के मनुष्य के बौद्धिक विघटन, अनास्था, नैतिक खर्वता, आर्थिक, राजनीतिक और जातिगत संकीर्णता और सांस्कृतिक दृष्टिभ्रम देखकर आशंकित हो उठी है।

पृथ्वी सीता को स्नेह से गोदी में भर उससे अपनी आशंका की बात कहती है–

आर्द्र कंठ से बोली धरती, 'बेटी !
ज्ञात तुम्हें मेरे मन का संघर्षण,
युग-संध्या अब, मची क्रांति अग-जग में
सचल रहा मेरे भीतर नव-जीवन।

× × × ×

क्रुद्ध शेष-फूत्कारों से दिशि धूमिल
महा-मृत्यु-मेघों से मंथित अंबर,
मुझे विरोधी शिखरों का भय भ्रम हर
सृजन शांति स्थापित करनी भू-तल पर।

पृथ्वी की अपनी वैयक्तिक पीड़ाएं भी हैं। जिस आत्मचेतन शील प्राणी—अर्थात् मनुष्य—को उसने अपने अन्तर के स्नेह-रस से लालित करके, उसके विकास में लाखों बरसों तक पूरा सहयोग दिया है, वह अपनी ही आत्मघाती बुद्धि से अपने चरम ह्रास और विनाश की योजना स्वयं बनाये बैठा है। बिखरे ज्ञान के कुछ अत्यंत उपेक्षणीय कणों की पूंजी लेकर उसने पृथ्वी के विकासशील और सतत गतिशील जीवन की सहज प्रगति के पथों को रूंधने के प्रयत्नों में न मध्ययुगों में कोई बात उठा रखी, न आज।

अपने अत्यंत थोथे, झूठे और खंडित ज्ञान के दर्प से इतराकर, पिछले युगों के तथाकथित ज्ञानियों और आज के जड़-तत्ववादी वैज्ञानिकों ने पृथ्वी के विराट जीवन-क्षेत्र को अत्यंत्र संकीर्ण बनाकर, उसकी भीतरी और बाहरी विकास-सम्बन्धी योजनाओं को अत्यंत सीमित मान लिया है। मनुष्य ने अपनी विकृत बुद्धि के दंभ से अपने को प्रकृति और जीवन का नियंता मान लिया है, और वह अपने अत्यंत सतही मानों से उसका मूल्यांकन करना चाहता है। यह दुर्मति उसे बड़ी तेज़ी से महानाश की ओर खींचे लिये जा रही है। पृथ्वी गहरी वेदना के साथ कहती है:

मुट्ठी-भर मन के जगमग मानों में
किया बौद्धिकों ने मेरा मूल्यांकन।

तत्वविदों ने मर्त्य-धाम बतलाया
जरा रोग भय पाप ताप का प्रांगण।
धर्मज्ञों ने त्याग विराग सिखाकर
कहा व्यर्थ जग, मिथ्या माया बन्धन,
मुक्तिमार्ग विज्ञापितकर यतियों ने
चाहा जन-धरणी बन जाये निर्जन।
स्वर्ग नरक, जड़-चेतन द्वन्द्वों में रत
ज्ञान-दग्ध पा सके न मेरा परिचय,
तर्कवाद में खोये सवज्ञ न पाये
बुध समग्रता में मेरा महदाशय।

इस प्रकार 'लोकायतन' के कवि ने पृथ्वी की अन्तर्वेदना को एक ज्वलन्त और जीवन्त हृदय की यथार्थ पीड़ा के रूप में उभारकर रखा है, और पृथ्वी की इस आत्म-अभिव्यंजना द्वारा उसने अपने दर्शन का भी पूर्वाभास हमें दिया है। जिन आलोचकों का आज भी यह मत है कि कवि पंत केवल रहस्यवादी स्तरों की वाष्पीय ऊँचाइयों में उड़ान भरते रहते हैं और पृथ्वी के ठोस और यथार्थ जीवन से उनका कोई घनिष्ठ लगाव नहीं है, उन्हें उक्त पंक्तियों पर ध्यान देना चाहिए।

पंतजी न तो जड़ तत्त्ववादी बौद्धिकों के जीवन-सम्बन्धी थोथे विश्लेषण के क़ायल हैं और न तात्त्विकों के इस मतवाद के कि पृथ्वी का जीवन केवल रोग-शोक, दुःख-दैन्य और पाप-ताप से आक्रान्त रहता है। जीवन के गहन स्तरों के विश्लेषण और भवसागर के प्रचण्ड मन्थन के फलस्वरूप वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पृथ्वी के धूल-भरे जीवन की सहजता से ही उसका शस्य-श्यामल आंचल सुशोभित है। और उस रहस्यमय आँचल की छाया के नीचे युग-युग का मंगलमय जीवन धड़क रहा है। ऋत के चिदानन्दमय प्रकाश से प्रेरित होकर यह धरती जन-जीवन में अपनी पूर्णता बिखेरती जाती है। वह कहती है :

मैं हूँ जीवन-क्षेत्र, बड़ी मैं मन से,
क्षण परिमित मैं, हूँ मैं नित्य अपरिमित,
ऋत प्रकाश में मुझको जन-जीवन में
सृजन-पूर्णता करनी अपनी निर्मित।

युग-युग से यह धरती, विकास और ह्रास के चक्र-नेमि-चक्र से, जीवन के नये-नये रूपों की आरती-थाल सँजोती हुई, अनन्त सृष्टि-योजना का अभिनन्दन करती रहती है :

युग-मन को अतिक्रम कर मेरा जीवन
बढ़ता उठ-गिर यतन-सिद्ध निज-पथ पर
नया जन्म ले मेरा अन्तर्यौवन,
क्षणिक नित्य के शून्य पुलिन देता भर।

सीता इस अनन्त जीवन-सम्पन्ना धरतीमाता के अन्तर में निहित चिन्मणि है,

जो अपनी अमर शिखा से पृथ्वी के जीवन को जगर-मगर करती रहती है। सीता जिस उपचेतना का प्रतीक है वह नित-नयी भावज्योति से युग-युग में मानव-मन को उद्भासित करती रहती है।

धरती के अन्तर में और मानव-मन के अतल में निहित मूल शक्ति है—निश्चेतना, जिसके भीतर सृष्टि के अनन्त रहस्य स्तब्ध होकर छिपे हैं। यह निश्चेतना चित्-पावक की लपटों में धधकती हुई नित-नये रूपों में विकसित होती हुई, उपचेतना में घुल-मिल जाती है, और फिर वहाँ से निरन्तर ऊपर उठती हुई, ऊर्ध्व-चेतना के शुभ्र प्रकाश में परिणत होती जाती है। उसी ऊर्ध्व चेतना के निःसीम शान्तिमय सित आलोक से—

उतर रहीं निःस्वर सहस्र ऊषाएँ
क्षण का वातायन शाश्वत मुख-दीपित।

+ + +

टूट रही भावी विद्युत्-पर्वत-सी,
फूट रहे क्षितिजों से स्वर्गिक निर्झर।

इसलिए आज के महाकवि के ऊपर यह दायित्व आ पड़ा है कि वह वर्तमान युग के निश्चेतन भू-जीवन के भीतर चिद्विस्फोट उत्पन्न करके, चेतना की ज्वलन्त मणि-शिखाओं द्वारा नई आशा और नये हर्ष का प्रदीप्त प्रकाश स्फुरित करे; और इस प्रकार कल्पान्त की इस सन्ध्या में मानव-जीवन को विघटन और महानाश के महागह्वर में विलीन होने से बचाये। पिछले युगों की भूलों से बचकर नई आस्था, नई लगन और नये धैर्य से नव-जीवन-निर्माण की ओर निश्चित क़दम बढ़ाये। और इस प्रकार जड़ मृन्मय के भीतर छिपे हुए चिन्मय शिव को भावी जन-कल्याण के हित खोज निकाले।

इसीलिए जीवन-रूपी पत्थर के भीतर निहित अमृत-रस को खोद निकालने, और उस मूल महारस के उत्पादक परमेश्वर-तत्त्व को भी उसी पाहन के बन्धन से मुक्त करने के उद्देश्य से, मुनि वाल्मीकि, लक्ष्मण और ऊर्मिला धरा में फिर अवतरित होते हैं, जिन्हें चैतन्य रूपिणी सीता और जन-शक्ति के प्रतीक राम की प्रेरणा प्राप्त है।

राम सीता से कहते हैं :

त्याग-शुभ्र ऊर्मिला स्फटिक-रस-पात्री
स्नेह-दुग्ध-घट सौम्य सुमित्रानन्दन,
सृष्टि-मंच की निरुपम नटी, प्रिये तुम,
रचो भूमिका मानवता की नूतन।

और इस भूमिका के गायक हैं वही आदिकवि वाल्मीकि, जो नये-नये युगों में नये-नये कवियों की आत्माओं में उतरकर, नित-नई प्रेरणाएँ प्राप्त और प्रदान करते चले जा रहे हैं,

यह है 'लोकायतन' की भूमिका, जिस पर तनिक विस्तार से इसलिए लिखना

पड़ा है कि इसी मूल ढाँचे के भीतर इस महाकाव्य की सारी परिकल्पना और सारा दर्शन समाया हुआ है।

वर्तमान युग विश्वव्यापी उथल-पुथल का युग है। दूसरे महायुद्ध के बाद सारे संसार में ऐसी उलझी हुई समस्याएँ और चक्रजालपूर्ण परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं कि उनके समुचित समाधान या सही व्यवस्था के लिए कोई रास्ता ही अन्तर्राष्ट्रीय नेताओं को नहीं सूझ पा रहा है। द्वितीय महायुद्ध ने मनुष्य को एक ओर एक लम्बी परम्परा से काटकर अलग रख दिया है, और दूसरी ओर किसी नई व्यवस्था की स्थापना या किसी नई और स्वस्थ परम्परा के निर्माण के लिए कोई भीतरी प्रेरणा या लगन मनुष्य अपने भीतर नहीं पा रहा है। फलस्वरूप आज केवल राजनीतिक या आर्थिक क्षेत्रों में ही हम अव्यवस्था, अशान्ति और असन्तोष नहीं पाते; बौद्धिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी एक विचित्र विश्रृंखला, लक्ष्यहीनता, आत्म-विद्रोह, जीवन और प्रकृति के नियमों के अस्तित्व या उपयोगिता के प्रति संशय, विराट सृष्टि की किसी नियामिका शक्ति के प्रति मूलगत अविश्वास और अनास्था का बोलबाला सर्वत्र दिखाई देता है।

मनुष्य आज लाखों वर्षों से चली आ रही, क्रमिक विकास-सम्बन्धी प्रगति के इतिहास के प्रति केवल उदासीन ही नहीं, अविश्वासी भी हो चला है। विकास के युगों के बाद ही बीच-बीच में ह्रास के जो युग संसार के इतिहास में आते रहे हैं आज वह केवल उन्हीं पर ध्यान दे रहा है। मानवीय मूल्यों के विश्वव्यापी विघटन के जो लक्षण आज बड़ी स्पष्टता से सबके सामने प्रकट हो रहे हैं, उन्हीं को स्थायी नियम मानता हुआ आज का बुद्धिवादी मानव मनुष्य-जाति की अन्तिम असफलता और अनतिदूर भविष्य में धरातल से उसके चिर-विलयन के सिद्धान्त पर विश्वास करने लगा है। जड़ विज्ञान की हवाई प्रगति से इतराया हुआ आज का यान्त्रिक मानव सर्वध्वंसी, वन्ध्या राजनीति के हाथ अपनी आत्मा को बेच चुका है।

पर जब चारों ओर कल्पान्त की सन्ध्या का धुँधलका छाया हो, ह्रास और विनाश की व्यापक योजनाओं के ऊपर प्रलय-मेघों से घिरी कराल काल-रात्रि सघन से सघनतर होती हुई, घिरती चली आ रही हो, तब किसी महाकवि की वाणी अपने भीतर की घुटन में बँधी भी नहीं रह सकती। वह शत-सहस्र धाराओं में फूटकर ही रहेगी, फिर चाहे कोई उसका समुचित उपयोग करना चाहे या नहीं। 'लोकायतन' सामूहिक जीवन की ऐसी ही परिस्थितियों में लिखी गई महाकृति है, जो कवि की उप-चेतना के चारों ओर घिरी हुई दीवारों को तोड़-फोड़कर, ढाकर, बाहर से मुक्त और विस्तृत प्रांगण में असंख्य धाराओं में प्रवाहित होकर, उदात्त भावों, प्रतीकात्मक चित्रों और गहन विचारों के रंग-बिरंगे फूलों को सहज भाव से खिलाती चली जाती है।

'लोकायतन' में कथातत्व बहुत ही सरल और साधारण होते हुए भी सूक्ष्म है। ऐसे मसृण तन्तु से इस काव्य-कथा का 'पैटर्न' बुना गया है जो मकड़ी के जाले के तन्तु से भी अधिक सुकुमार है। यह सहज कथा-पैटर्न एक ओर जहाँ कला के अत्यन्त सुन्दर काव्य-गरिमामय, रूपभास्वर और दृश्य-संगीतमय चित्र प्रस्तुत करता है, वहीं

दूसरी ओर, गलनशील युग में जन-मानस में उठती रहने वाली ह्रास-मूल प्रवृत्तियों के पारस्परिक टकराव द्वारा उत्पन्न उन्नतिशील प्रवृत्तियों की अस्पष्ट अकुलाहट को भी स्पष्ट करता है।

कथानक संक्षेप में इस प्रकार है : सुन्दरपुर नामक जनपद रोग-शोक, दुःख-दैन्य और अज्ञान से घिरा था :

धरा गर्भ का नरक कुण्ड था
सुन्दरपुर जनपद विषण्ण मन,
भू-दारिद्र्यों का दुर्गम गढ़—
निज दुर्गति के प्रति विरक्त जन

जनता का यह दारिद्र्य युवा कवि वंशी के हृदय में शूल की तरह बिंधा करता है। अपने समवयसी साथी हरि को पकड़कर वह निश्चय करता कि इस दीन-हीन स्थिति से सुन्दरपुर को हर हालत में उबारना होगा :

उसे इष्ट था अंध गर्त से
खींच मूल जन-मन के ऊपर,
प्राण-पंक से भाव-वृंत पर
मानस-कमल खिलाना भू पर।

पर जब तक देश अन्ध-दासता की बेड़ियों से जकड़ा हो, तब तक कवि का एक ही लक्ष्य हो सकता था—देश को गुलामी की जंजीरों से मुक्त करना। गांधीजी की प्रेरणा से सारा देश जग उठा था और वंशी, हरि और हार की बहन सिरी के प्रयत्नों से वह जड़ता-ग्रस्त जनपद भी सजग हो उठता है। गांधीजी की दण्डीयात्रा के फलस्वरूप सारा देश हिल उठा था और स्वतन्त्रता-आन्दोलन ने पूरा ज़ोर पकड़ लिया था। वंशी के नेतृत्व में सुन्दरपुर में भी जागृति के चिह्न दिखाई देने लगते हैं। स्त्रियों और पुरुषों में नया उत्साह और नयी चेतना जग उठती है। सिरी (या श्री) की लगन के फलस्वरूप स्त्रियों के लिए एक कला-शिविर की स्थापना की जाती है, जहाँ उन्हें सब प्रकार की उपयोगी शिक्षा दी जाती है। एक गृह-उद्योग-शिविर भी खोल दिया जाता है, जिसमें चर्खा कातने, तकलियाँ चलाने और कपड़े बुनने के कामों में ग्रामवासी व्यस्त रहने लगते हैं। लोक-बोलियों में रचे गए वंशी के गीत प्रत्येक खेत और खलिहान में गाये जाने लगते हैं। साथ ही स्वतन्त्रता-संग्राम की गति भी तीव्र-से-तीव्रतर होती चली जाती है। वंशी और हरि को कारावास भुगतना पड़ता है, जहाँ उन्हें देश की मुक्ति के लिए नयी-नयी प्रेरणाएँ मिलती हैं। स्वतन्त्रता-आन्दोलन दिन पर दिन ज़ोर पकड़ता चला जाता है, जैसे स्वराज्य लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए देवासुर-संग्राम छिड़ गया हो और भारत-भू-सागर का मन्थन हो रहा हो।

भारत-भू उद्वेलित सागर,
नव-युग देवासुर-संघर्षण—
जब स्वराज्य लक्ष्मी प्रकटी तब
जन-भू-मंगल हित था शुभ क्षण !

इस प्रकार राष्ट्र का मुक्ति-यज्ञ समाप्त हुआ। पर वंशी को लगा कि जिस महान् उद्देश्य की परिकलपना से वह प्रेरित है उसमें—

राष्ट्र-मुक्ति रे केवल प्रथम चरण भर,
विश्व-एकता करनी भू पर निर्मित,

मानवीय अवचेतना में बसे हुए रावण और कंस को जब तक जड़ से मिटा नहीं दिया जाता तब तक न तो राष्ट्र की स्वतन्त्रता का लक्ष्य पूरा हो सकता है और न मानव के सामूहिक कल्याण का। इसलिए यथार्थ मानव बनने के दुर्गम और सुदीर्घ पथ पर विजय प्राप्त करनी ही होगी।

स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद भी हरि देखता है कि राष्ट्र की मानसिकता अभी तक बदल नहीं पाई है। वह वंशी से कहता है :

हम कुम्भकरण से अब भी
सोए प्रमाद में खोए,
युग-जीवन की गंगा में
भू ने निज पाप न धोए।
सामाजिकता के प्रति जन
हो सके न अब भी जाग्रत।

अभी तक इस देश की जनता केवल परोपजीवी और परान्न-भोजी ही नहीं बनी हुई है, वरन् चिन्तन की दृष्टि से भी वह पर-मानस-जीवी बनी हुई है :

बंजर भीतर मन की भू,
हम पर-मानसजीवी जन,
चित् खाद्य न उपजा सकते—
कब से परान्न-सेवी मन।

वंशी हरि की शिकायत-भरी बातें सुनता है और समझाता है कि केवल इसी देश की जनता ही नहीं, समग्र मानवता इस युग में अवचेतना के अगम अन्धकार में खोई हुई, अन्धी गलियों में भटक रही है। वह कहता है :

अवचेतन कुण्ठाओं से
मर्दित प्रच्छन्न मनुज-मन,
दो दारुण विश्व-रणों से
कँप चुका ध्वस्त भू-प्रांगण !
अब रक्त-तृषित आदिम-नर
निज सर्वनाश हित-तत्पर—
निश्चेतन का उद्वेलन
नव-सृजन-वेदना-कातर !
आदिम बौने मानव को
करना निज से संघर्षण

वह बने न बाधक—भू के
वैभव का हो सम वितरण ।

सुन्दरपुर का कला-शिविर धीरे-धीरे विस्तार पाता हुआ, एक सांस्कृतिक पीठ में परिणत हो जाता है। वंशी, हरी, सिरी और उनके सहयोगी एक आदर्श और प्रतीकात्मक केन्द्र की स्थापना करके, उसके सर्वतोमुखी विकास के कामों में जुट जाते हैं। इस पृथ्वी पर से रोग-शोक, दुःख-दरिद्रता का जड़ से विनाश करके धरती की मिट्टी को ही स्वर्ग की विभूति में परिणत करना सुसंस्कृत मानव का पहला कर्त्तव्य है, यह बात वंशी ने समझी और दूसरों को समझाई। भू को दरिद्र करके जिन ऋषियों ने जन-मन में प्रभु पर आस्था जगानी चाही थी उनकी उस खोखली आस्था को लेकर मनुष्य क्या करे, यही सोचा करता वह।

केन्द्र का जीवन सुसंगठित, सुव्यवस्थित और सुनियोजित था। केन्द्रवासियों ने स्वयं अपने ही श्रम से मिट्टी में सोना उपजा दिया था। आस-पास के गाँवों के भौतिक जीवन को समृद्ध बनाकर, उस भौतिक वैभव के भीतर एक स्वस्थ आध्यात्मिक चेतना की लहर वंशी ने तरंगित कर दी थी।

निश्चेतन से लेकर अतिचेतन तक एक ही मूल चेतना के तार झंकृत होते रहते हैं—केवल सितार के पर्दों की स्थितियों में अन्तर होता है। पर वे सभी पर्दे और उन सबकी अलग-अलग स्थितियाँ—एक-दूसरे से अनिवार्य रूप से बँधी हुई हैं। उन सभी का समन्वित और सुनियोजित रूप ही अद्भुत और अनाहत विश्व-राग बजाता रहता है—यह महान् मांगलिक विश्वास केन्द्रवासियों के अन्तर में, और जीवन में भी, दृढ़ से दृढ़तर होता जाता है।

भू-जीवन और आध्यात्मिक जीवन एक-दूसरे के विरोधी नहीं, वरन् पूरक हैं। शरीर के बिना आत्मा का न कोई आधार है न अस्तित्व, और आत्म-चेतना और आध्यात्मिक अनुभूति के बिना शरीर जड़ और निष्प्राण है। यदि भू-जीवन अविकसित, अन्ध रूढ़ियों से ग्रस्त, रोग-शोक, दुःख-दैन्य से पीड़ित और पारस्परिक घृणा, कलह और विनाश में रत हो, तो आध्यात्मिक चेतना के विकास का कोई अर्थ फिर नहीं रह जाता। और यदि भू-जीवन समृद्ध होने पर भी उच्च-स्तरीय जीवनानुभूति और ऊर्ध्व-गामी चेतना के स्पर्श से रहित हो, तो वह भी निरर्थक सिद्ध होता है। इन दोनों का सामंजस्यपूर्ण और सुनियोजित समन्वय ही वंशी को अभीष्ट है, और, स्वभावतः, 'लोकायतन' के कवि को भी।

सुन्दरपुर के आदर्श केन्द्र की ख्याति सुनकर देश के विभिन्न भागों और विदेशों से भी उत्सुक नर-नारी वहाँ आते हैं। उनके द्वारा वंशी का सम्पर्क संसार के विभिन्न देशों के सांस्कृतिक प्रतिनिधियों से हो जाता है और एक दिन उसे विदेश-भ्रमण का निमन्त्रण मिलता है।

वंशी एक-एक करके प्रायः सभी प्रमुख देशों में भ्रमण करता है। प्रत्येक देश के प्राकृतिक वैभव, यान्त्रिक उन्नति और जन-जीवन की सुख-समृद्धि का सुन्दर चित्रमय वर्णन 'लोकायतन' में विस्तार से किया गया है।

सब-कुछ देखने-सुनने के बाद अन्त में कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि पश्चिम के जीवन की श्री, शोभा और सौष्ठव केवल बाह्य-जीवन तक सीमित हैं। अन्तर का उद्‌बोधन वहाँ नहीं मिलता। और इधर भारत आन्तरिक कुण्ठाओं से ग्रस्त रहने के कारण अपने भौतिक जीवन को समृद्ध नहीं कर पाता :

ह्रास-तम का भारत में रूप
पलायन पा -पुण्य की भीति,
पारलौकिकता, कर्म-विरक्ति
अंध-विश्वास, रूढ़ि जड़ रीति !
सभ्य पश्चिम में स्थापित स्वार्थ,
अनास्था, रण-भय, कटु सन्देह,
शक्ति का मोह, राष्ट्र का दर्प,
बहिर्मुख, भौतिक जाड्य सदेह !

कवि यही सोचता रह जाता है कि अन्तर और बाहर की दोनों प्रवृत्तियों का स्वस्थ और सन्तुलित विकास होकर दोनों किस प्रकार एक-दूसरे के सहायक और पूरक बन सकेंगे। जब वह अपनी लम्बी यात्रा के बाद केन्द्र में लौटता है तब इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर नई लगन से काम करना आरम्भ कर देता है।

केन्द्र का सुन्दर, स्वस्थ, सुघर और सुव्यवस्थित जीवन देखकर निकटस्थ व्यक्तियों का एक शक्तिशाली दल ईर्ष्यालु हो उठता है, और उस दल के कुछ व्यक्ति केन्द्र में घुसकर वंशी की हत्या करने का प्रयत्न करते हैं। पर वह बच जाता है और हरि उसे बचाने के प्रयत्न में स्वयं अपनी जान गँवा बैठता है। आश्रम में भयंकर शोक छा जाता है। कुछ समय बाद सिरी भी चल बसती है। वंशी अकेला पड़ जाता है। पर नई पीढ़ी में नया उत्साह देखकर वह नई शक्ति बटोरता है और केन्द्र को नित-नये ज्ञान से उद्‌बोधित करता है। पृथ्वी पर ही स्वर्ग उतारने के स्वप्न को वह सत्य में परिणत करने के प्रयास में निरन्तर आगे बढ़ता रहता है।

पर स्वप्न स्वप्न ही है और यथार्थ यथार्थ। और वही निर्मम यथार्थ एक दिन अणु-युद्ध के रूप में धरा पर तबाही मचा देता है।

कवि (अर्थात् वंशी) की अन्तरात्मा को इस महा-विनाश का पूर्वाभास मिल जाता है। वह उस दुर्घटना के पहले ही सहसा केन्द्र से (अर्थात् जीवन से) अन्तर्धान हो जाता है। उसकी प्रिय शिष्या मेरी, जो एक विदेशी महिला है, उसकी निगूढ़ ज्ञान-भरी अन्तर्दृष्टि से प्रभावित होकर केन्द्र के प्रति अपने को अर्पित कर देती है। अणु-विस्फोट से जब सुन्दरपुर का संस्कृति-केन्द्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और आंशिक अणु-युद्ध से जब विश्व का एक बड़ा भाग ध्वस्त हो जाता है, तब मेरी हिमगिरि के अंचल में 'लोकायसन' नाम से एक नया केन्द्र बसाती है और उस मोहक, रमणीय और शुभ्र प्राकृतिक वातावरण में नये मानव की स्थापना करती है। आंशिक अणु-युद्ध से संतप्त देश-विदेश के अनेक स्त्री-पुरुष भी वहाँ आकर अपार नील शान्ति और सित चिदाभास के अनुभव से एक नई जीवन-स्फूर्ति पा जाते हैं।

पुरानी रूढ़ियों से पूर्णतः मुक्त और निश्चेतन से लेकर अतिचेतन तक के विकास-क्रम में पूरी रसमयता से बँधा हुआ नया मानव धरा पर अवतरित होता है :

ले चुका था नव-मानव
आते अश्रुत लोरी के स्वर,
पलने में उसको विश्व-प्रकृति
थी झुला रही गा-गा निःस्वर !
कितने संवत्सर बीत चुके
मैं रही प्रतीक्षा में अपलक,
जड़ अंध शक्तियों से भू की
कटु संघर्षण—रत रह अब तक !

युगों के कल्प से पंकिल भू-मन नये स्वर्गिक प्रकाश में घुल जाता है और धरा पर स्वर्ग का अवरोहण होने लगता है। मानव की संकीर्ण मानसिक गुत्थियाँ खुल जाती हैं; अन्तर की सारी रसमयता को सोख-सोखकर बालू बना देनेवाली राजनीति के कुटिल चक्रों को पीछे हटाकर, अब समुन्नत संस्कृति का रथ आगे बढ़ने लगता है :

अब राजनीति को पीछे कर
सम्मुख चलता संस्कृति का रथ,
अन्तर्दीपित मानव-अन्तर
श्री-शोभा-मुकुलित दिग् भू-पथ !
कठपुतलों से नेताओं के
पद मद से अब न धरा आहत,
गुण शील धन्य अन्तः संस्कृत
मानवता रचना-मंगल रत !

नया मानव, भौतिक और यान्त्रिक जीवन की भ्रान्तियों से मुक्त होकर, उसे एक नया मांगलिक रूप देने लगता है। अब वैयक्तिक और सामूहिक, आध्यात्मिक और भौतिक, उच्च और निम्न—किसी भी प्रकार के जीवन में कोई अन्तर नहीं रह जाता है और भू-मन दिव्य-चेतना से मिलकर पृथ्वी के सहज जीवन में एक नये संयोजन की सृष्टि करता है :

वैयक्तिक सामूहिक गतियाँ
स्वार्थों से विषम न अब खण्डित,
आध्यात्मिक भौतिक, ऊर्ध्व-अधः
जन भू जीवन में संयोजित।

यह है संक्षेप में 'लोकायतन' के यथार्थवादी रस में घुले हुए यथार्थोत्तर 'द्विजन' का सुन्दर, मंगलमय और सुसंयोजित स्वरूप।

यह महास्वप्न आज के जीवन के कटु यथार्थ, विकृत मानसिकता और कठोर यान्त्रिकता के बीच पले हुए कठपुतले लघु-मानव को एक किंभूत-किमाकार और विचित्र 'फेंटेज़ी' की तरह लग सकता है। पर यह अद्भुत और अपूर्व-कल्पित 'फेंटेज़ी'

चरितार्थ होनेवाली
ही युग के निरर्थक और आत्मघाती जीवन को सुदूर भविष्य में
महामांगलिकता की सम्भावना और सार्थकता प्रदान करती है; भूत और भविष्य से
कटी हुई मानव-बुद्धि को एक पूर्णतः नया दिशा-बोध देकर, उसकी बिखरी हुई
मानसिकता को समग्रता के एक नये मंगल-सूत्र में बाँधने की प्रेरणा देती है।

'लोकायतन' के कवि का जीवन-दर्शन कल्पना की उदारता में विशाल और
भावों की गहराई में अतलव्यापी है। उसकी इस विराट दार्शनिक योजना में सभी
युगों का चिन्तन समाहित है, परस्पर-विरोधी लगनेवाले सभी दार्शनिक, सांस्कृतिक
और वैज्ञानिक मतवाद उसमें घुल-मिलकर, रहस्यमयी रासायनिक प्रक्रिया के फल-
स्वरूप, एक सुसमन्वित, सुन्दर और अति-यथार्थ महादर्शन का निखरा हुआ रूप
प्रस्तुत करते हैं।

मानवीय अवचेतना और उप-चेतना में अतलगत नाटकीय ह्रास की स्थिति
से लेकर ऊर्ध्वोन्मुखी चेतना के विकास और चरम चिद्-विलास की स्थिति तक
अनन्त सम्भावनाएँ निहित हैं। ये सब सम्भावनाएँ प्रकट में परस्पर-विरोधी और एक-
दूसरे से बिखरी हुई-सी लगने पर भी वास्तव में एक-दूसरे से घनिष्ठतम रूप में सम्बद्ध
हैं। नरक के निम्नतम बिन्दु से लेकर स्वर्ग के ऊर्ध्वतम बिन्दु तक के दो छोर विश्व-
वीणा के समान तारों से बँधे हुए हैं, इस तथ्य की ओर मैं पहले ही ध्यान दिला
चुका हूँ। निम्नतम बिन्दु में झंकृत किये गए तार का कम्पन ऊर्ध्वतम बिन्दु को सहज
ही झनझना देता है, और ऊर्ध्वतम पर्दे से निकली हुई झंकार निम्नतम पर्दे में कम्पन
पैदा कर देती है। दोनों के बीच का माध्यम है भू-जीवन, जो अहम् के झूठे दर्प से
इतराया हुआ, दोनों ओर से झंकृत होते रहनेवाले स्वरों का समुचित संयोजन कर
सकने में असमर्थ होने के कारण, उलझन में पड़ जाता है और कुण्ठित बुद्धि और
अविकसित भावना के पारस्परिक टकराव और बिखराव के कारण, युग-युग में, आवर्तन
और विवर्तन के चक्रजाल में फँसा हुआ, वह भय और संशय, पीड़न और कुण्ठा के
झूले में झूलता रहता है। महाजीवन के दोनों छोरों से उठनेवाली, जड़ से चेतन को
मिलानेवाली झंकारों के संचरण का माध्यम यद्यपि वही (अर्थात् भू-जीवन ही) है
और बीच-बीच में, यद्यपि दोनों प्रकार की झंकारों से निकलनेवाले रहस्य-संकेत उसे
कुछ क्षणों के लिए विचलित भी करते रहते हैं, तथापि कुल मिलाकर वह युगों से
उन संगीतमूलक संकेतों की उपेक्षा ही करता आया है। 'लोकायतन' में उन्हीं उपेक्षित,
किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संकेतों की विशद काव्यात्मक अभिव्यंजना हम पाते हैं—
और साथ ही यह सुझाव भी कि उनकी सुसमन्वित योजना ही भू-जीवन को एक नई
अर्थवत्ता प्रदान कर सकती है।

मैं प्रारम्भ में ही कह चुका हूँ कि पंतजी की यह अभिनव महा-काव्यकृति
देश-काल के पुलिनों को डुबाकर, आज के प्रखर किन्तु बंध्या बौद्धिक चेतना से ग्रस्त
मानव को समग्र काल-खण्डों में निर्मुक्त तैरनेवाला एक नया और स्वस्थ जीवन-बोध
और एक नई दृष्टि देती है। विराट पट पर अंकित इस परिप्रेक्ष्य से आज के अत्यन्त
संकीर्ण युग-बोध को एक नया विस्तार मिलता है।

'लोकायतन' का 'कैनवस' इतना विस्तृत होने के कारण यह स्वाभाविक है कि उसकी व्यापक योजना में यत्र-तत्र छोटी-मोटी त्रुटियाँ रह जायँ। उसकी कथा-योजना पूर्णत: सुबद्ध नहीं हो पाई है। बीच-बीच में उसमें ढीलापन दिखाई देता है। छन्दों का मुक्त प्रवाह यद्यपि काव्य के भाव-प्रवाह से मेल खाता है, तथापि बीच-बीच में इस प्रवाह में गति-भंग दिखाई देता है। छन्दों की योजना में यद्यपि वैविध्य की कोई कमी नहीं है, तथापि वे सब प्राय: एक ही साँचे में ढले हुए-से लगते हैं और बीच-बीच में पाठक को एकरसता का-सा बोध होने लगता है। एक ही ढंग की बात को नए-नए रूपों में दुहराये जाने के उदाहरणों की भी इस महाकाव्य में कमी नहीं है।

पर इन सब बातों को मैं प्रूफ़-सम्बन्धी छोटी-मोटी त्रुटियाँ मानता हूँ और ये तथाकथित त्रुटियाँ वास्तव में त्रुटियाँ हैं भी या नहीं, यह विवादास्पद है। उदाहरण के लिए कथानक में ढीलेपन को ही लीजिए। क्या यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि महाकाव्य कथानक-प्रधान होना ही चाहिए? आज जब साहित्य के सभी अंगों के 'फ़ार्म' बदल रहे हैं तब नए महाकाव्य के लिए यह नियम लागू क्यों नहीं हो सकता? इसलिए इस सम्बन्ध में इस दृष्टि से भी सोचा जा सकता है कि पंतजी ने महाकाव्य को एक नया 'फार्म'—एक नया रूप 'विन्यास' दिया है। यदि पाठक इस महा-काव्यकृति के विशाल धरातल, उसमें वर्णित भावों की ऊँची उड़ान, उसमें अंकित चित्रों की मोहक रंगमयता, सर्वदर्शी ज्ञान की अगाध गहनता और उद्देश्य की महान् मांगलिकता पर अपना ध्यान केन्द्रित करे तो प्रूफ़-सम्बन्धी साधारण त्रुटियाँ उसे अत्यन्त नगण्य लगेंगी। हिमालय की विराटता के बोध के लिए शुभ्र हिमानी से मंडित उसकी चोटियों की ओर ही ध्यान केन्द्रित करना होता है, न कि उसकी बनावट की असमता और तलहटियों के रूखेपन की ओर। विराट के परिप्रेक्ष्य में छोटी-मोटी विषमताएँ भी असीम समता का अंग बन जाती हैं।

इस प्रकार बोध के शिखर से बोलनेवाले कवि पंत की जीवनव्यापी चिन्तन-साधना, 'लोकायतन' के माध्यम से, एक अत्यन्त मूल्यवान सिद्धि के रूप में हमारे सामने आती है।

अन्त में मैं उस उदात्त वाणी की ओर आप लोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ जो नगाधिराज हिमालय ने 'लोकायतन' की संचालिका 'मेरी' उर्फ़ संयुक्ता को सुनाई थी। हिमालय के रूप में जैसे महाकवि ही घोषणा कर रहा हो :

मैं लाँघ विश्व मानस समस्त,
प्राची-पश्चिम को अतिक्रम कर,
इतिहास, धर्म, संस्कृतियों के
शिखरों पर नव युग के पग धर—
दे रहा तुम्हें जीवन-दर्शन—
यह महत् कल्प परिवर्तन क्षण;
निर्माण करो नूतन भविष्य
भू-जीवन हो भगवत्-दर्पण!

—विष्णुचन्द्र शर्मा

चाँद का मुँह टेढ़ा है

(१) यथार्थ के ज्वालामुखी और अभ्यन्तर का सत्य : मुक्तिबोध के अन्तर में ज़िन्दगी के तथ्यों का ज्वलन्त रस है। वे ज़िन्दगी के तथ्यों के कवि हैं, लेकिन वे तथ्य 'विधान सभा' और 'उच्च-न्यायालय' के अधिकारों का विवरण नहीं हैं। जीवन की सच्चाई के अनेक स्तर उनके मन में कठोर तथ्यों के रूप में उतरते हैं और उनके मन की विशाल ज्वालामुखियों के भीतर वह द्रवीभूत हो जाते हैं। तीव्र संवेदना में मुक्तिबोध दैनिक जीवन के तथ्यों की अपूर्णता की परीक्षा लिया करते हैं। दैनिक अपूर्णता के ज्ञान-संवेदना के वे विवेक-यात्री हैं। अपनी विशाल जीवन दृष्टि से वे अभ्यन्तर के विराट् जीवन-बिम्बों की रचना करते हैं। ये बिम्ब विवेक का बहता रस या आत्मा का प्रतीक सूर्य है। पृथ्वी, समुद्र, आकाश, पर्वत उनके अभ्यन्तर के प्रबोधकारी आत्म-बिम्ब हैं। ये बिम्ब कवि का सजग भावी निर्णय हैं। उसका अभ्यन्तर विराट् है। उसमें परम्परा के अग्नि, सरोवर, पृथ्वी, सूर्य, ब्रह्मराक्षस सब हैं। ये उनके ही अभ्यन्तर के आत्मबिम्ब हैं। मुक्तिबोध परम्परा के ज्ञान-सरोवर का जल पीकर अन्तस्तल का पूरा विप्लव जी लेना चाहते हैं। उनके वक्ष:स्थल के भीतर सघन-विस्तृत जंगल, गम्भीर विराट् सागर, पावन शक्तिमान गंगा-यमुना और फैंटेन्ज़ी का भव्य विश्वात्म है।

मुक्तिबोध जीवन के रोजमर्रा के यथार्थ को ही चित्रित नहीं करते हैं। वे यथार्थ की अपूर्णता को अपनी सर्वथा निजी अपूर्णता समझते हैं। उनके लिए आज का विषम-जीवन, गतिमान या चल तडिल्लता की शय्या है। यह शय्या विप्लव की शय्या है। और विप्लव, कवि के यथार्थ जीवन का निष्कर्ष है। वह ज़िन्दगी के फूटे घुटनों से बहती रक्त-धारा देखता है। वह दुगुने उत्साह से इस ज़िन्दगी में विप्लव को महसूस करता है। अपने जीवन की चोट खाई हुई जीर्ण-देह को वह इस विप्लव की गतिमान-तडिल्लता पर छोड़ देता है और जीवन का आघात सहते हुए बेचैनी से अपनी दृष्टि को केन्द्रित करता है। उसे अपने अभ्यन्तर में एक कठोर विवेक-यात्रा करनी पड़ती है—कैलाश-शिखर की यात्रा, रण-मैदानों की यात्रा, परिचित कोमल चिड़ियों के साथ सहयात्रा, नीले आसमान की यात्रा। उसके सामने आत्मा और जीवन के अनेक बन्द-गुहद्वार खुल जाते हैं। वह दुनिया में गहरे आघात को झेलते अपने साथी[1] को पहचानने

1. **Song of myself**
   Stop this day and night with me and you shall possess the origin of all poems,
   You shall possess the good of the earth and sun, (there are millions of suns left,)
   You shall no longer take things at second or third hand, nor look through the eyes of the dead, nor feed on the spectres in books,
   You shall not took through my eyes either, nor take things from me,
   You shall listen to all sides and filter them from your-self.
   —Leaves of Grass. 50/-

लगता है। उसे एक दृढ़ पत्थर की आकृति की, अंगार-ज्योति अपने पास दीखती है। यह अंगार-ज्योति उसके जीवन के ज्वलन्त प्रश्न हैं, जो भिन्न आकारों में उसके सामने आते हैं। वे आकार लाल-लाल आँखों से उसका पीला मुँह निहारते हैं।

मुक्तिबोध आज की विक्षुब्ध ज़िन्दगी की वैज्ञानिक प्रयोगशाला के कवि हैं। बचपन से ही वे जीवन को आश्चर्य-चकित होकर देखा करते थे। उनकी जिज्ञासु आत्मा बेचैन रहती है। अपने अभ्यन्तर की प्रयोगशाला में वे ज्ञान और सपनों को देखा-परखा करते हैं—

> मैं एकलव्य जिसने निरखा—
> ज्ञान के बंद दरवाज़े की दरार से ही
> भीतर का महामनोमन्थन-शाली मनोज्ञ
> प्राणाकर्षक प्रकाश देखा।

(२) **प्रबल इच्छाशक्ति और गहन आत्मीय प्रतीक :** मुक्तिबोध अपने काव्य-बोध में सर्वथा स्वतन्त्र है। एकलव्य की तरह के जीवन के रहस्यमय प्रतीकों से एक जिज्ञासु की तरह सीखते हैं। अकसर लोगों ने मुक्तिबोध को ग़लत समझा है। कुछ लोगों ने टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैंड' महाकाव्य की विशालता, विभिन्न प्राचीन प्रतीकों के संयोजन और युग की आन्तरिक संक्रान्ति तथा दो महायुद्धों के बाद की ह्रासशील प्रवृत्तियों या सन्दर्भों से यह अनुमान लगा लिया था कि मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं का मूल स्वर इलियट का ही है। ज्वलन्त सनातन प्रश्नों के मध्य अपनी ही जिज्ञासु-कथा को गूँथने के कारण कुछ लोगों ने मायकोवस्की के काव्य से भी मुक्तिबोध को प्रभावित बताया है। दास्तोवस्की के 'क्राइम एण्ड पनिश्मेण्ट' और 'इडियट' आदि उपन्यासों में गहरी अपराध वृत्ति, पीड़ा और व्यक्ति की मनः-स्थिति का विश्लेषण है। कुछ सुधी कवियों ने मुक्तिबोध को दास्तोवस्की-सा उपन्यास की भूमि पर कविता करनेवाला कवि कहा है। अभी वाल्ट विटमैन, पाब्लो नैरूदा, नाजिम हिकमत, पुश्किन, गोर्की से किसी ने मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं का सम्बन्ध नहीं जोड़ा है। मेरे लिए इस प्रकार का अनुमान निःसार है। मुक्तिबोध अपनी इच्छा-मशीन से धक्का खाकर खुद को पा सके हैं, या अपने कवि का आत्म-साक्षात्कार कर सके हैं। उनके भीतर एक घुमक्कड़ अन्वेषक है, जो अतीत के किसी दार्शनिक सन्दर्भ को, अपने दिल में, सबसे पहले अपना बना लेता है। मुक्तिबोध ने किसी भी महाकवि के खेमे में उसकी अनुभूति के क्षेत्र में कूद-फाँदकर सीमोलंघन करना नहीं पसन्द किया। वह अपनी ही ज़मीन पर खम्भे-सा धँसा एक अपना ही प्रकाश स्तम्भ है। उसके दिल में खून पम्प करता है और अपने ही भीतर की विवेक-यात्रा में उसका चेहरा ही बदला करता है—हरदम। यह चेहरे का हरदम बदलना वे अधिक समझ सकते हैं, जो आत्म-विश्लेषण करते हुए 'निराला'[1] को देख चुके हैं। तब शायद वे मुक्तिबोध को अधिक

१. —"निरालाजी अहर्निश इतने चिन्तनशील रहते थे कि उन्हें अपने शरीर और वस्त्र की भी सुधि नहीं रहती थी। वे निरन्तर चिन्तनधारा में इस प्रकार निमग्न रहते थे कि सामने ही होनेवाली बात भी नहीं सुन पाते थे।...वास्तव में अन्यमनस्क होकर किसी

आसानी से समझने का प्रयास कर सकते थे।

मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं का बड़ा पेचीदा किस्सा है। और उस किस्से में अगर मुक्तिबोध को अपना चेहरा ही अजनबी दीखता है, तो वह कोई रहस्य नहीं है। रहस्य इधर कुछ लोग डी० एच० लॉरेंस की तीव्र उन्माद की कविताओं में भी खोजने लगे हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि ब्रह्मराक्षस, गीता का 'विराट् पुरुष', औरांग-उटांग, फणिधर, नाग, या स्वप्न-कथा, शून्य तथा कबीर के अद्वैत प्रतीकों को मुक्तिबोध की कविताओं में देखकर कुछ आलोचक उन्हें रहस्यवादी कवि सिद्ध करने लगे। वेद से कबीर तक और डब्लू बी० ईट्स से स्टीफेन स्पेन्डर तक आलोचक धर्म-भावना के रहस्य का बीहड़ अन्वेषण कर रहे हैं, लेकिन मुक्तिबोध के मन में जीवन का 'आत्मज सत्य' ही बीहड़ है। यह आत्मज सत्य ही अनेक पौराणिक चरित्रों को रूपाकार देता है। और ये रूपाकार स्थानान्तरित होकर मुक्तिबोध के साथ दबे पाँव निर्भय अन्वेषण करते हैं। औरांगउटांग, सुमित्रा और जावा में पाया जानेवाला महज़ एक बन्दर नहीं हैं, वह मुक्तिबोध के साथ जीनेवाला, घनी गहराइयों का यात्री है, जो मुक्तिबोध की तरह युग के भयानक ओज को नया अर्थ दे रहा है। पुराण का ब्रह्मराक्षस, आन्तरिकता का महत्त्व नहीं बताता है, किन्तु मुक्तिबोध का प्रतीक ब्रह्मराक्षस जब "सघन झाड़ी के कँटीले तम विवर में मरे पक्षी-सा, विदा लेता है" तो वह एक ट्रैजेडी और पेचीदा किस्सा बन जाता है। मुक्तिबोध के आत्मनिर्मित ब्रह्मराक्षस का शिष्य न केवल मुक्तिबोध का व्यक्ति अन्वेषक खुद बनना चाहता है, बल्कि हर भाव-संगत तर्क-संगत आज का व्यक्ति बनना चाहता है। और यह भाव-तर्कसंगत आकृति विषादाकुल मन की ही है। यह अन्वेषी मन आधुनिक है। वैज्ञानिक प्रयोगशाला का आत्मचेतस् वैज्ञानिक है। विषादाकुल व्यक्तित्व ही इस ट्रैजेडी की निरन्तरता का अनुभव करता है—एक अपूर्ण जीवन की, एक अधूरे कार्य की। और यह सब ब्रह्मराक्षस की निरन्तर संकट की चिन्ता है। उसी ब्रह्मराक्षस के हम सब मुक्तिबोध की तरह शिष्य होना चाहते हैं। मुक्तिबोध ने लिखा है—

> **मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य**
> **होना चाहता**
> **जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य,**
> **उसकी वेदना का स्रोत**
> **संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक**
> **पहुँचा सकूँ।**

(३) **फैंटेज़ी : आत्मविस्तार के लिए रचनाकार की विवेक-यात्रा :** फैंटेज़ी का एक रूप विराट् कल्पना भी है। या यह कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध की लम्बी

की बात का तिरस्कार नहीं करते थे, बल्कि स्वभावतः बाह्य ज्ञान-शून्य रहते थे। कभी-कभी चिन्तन में तल्लीन बैठे-बैठे वे एकाएक इस तरह चौंककर सजग हो उठते थे, मानो अतल-जल में गहरी डुबकी लगाकर अभी-अभी बाहर निकले हों।" शिवपूजन रचनावली ४ (पेज २७६)।

कविताओं में जो विशाल पार्श्व-चित्र उभरता है, उसमें एक विराट् पुरुष, फैंटेज़ी में धीरे-धीरे विकसित होता है, और यह विराट् पुरुष अक्सर कवि की विराट् कल्पना की व्याख्या[१] करता है। मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं का यह प्रथम पुरुष 'मैं', कथा के प्रारम्भ, मध्य और अन्त की तरह भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में, विकसित होता रहता है। अक्सर लोग इस 'मैं' को मुक्तिबोध का आत्म-चरित (सेल्फपोर्ट्रेट) समझ लिया करते हैं और उसकी विराटता से कवि के जीवन के अनेक अर्थ निकाला करते हैं—

मैं ही वह विराट् पुरुष हूँ
सर्वतंत्र, स्वतंत्र, सत्-चित !!
मेरे इन अनाकार कंधों पर विराजमान
खड़ा है सुनील
शून्य
रवि-चन्द्र-तारा-द्युति-मण्डलों के परे तक।

प्रथम पुरुष के अनाकार कन्धों को और उसके विराट् रूप को समझा जा सकता है। यह विराट्ता आत्मपरक भावधारा की स्वच्छन्द उड़ान नहीं है। यह तीव्र मानसिक प्रतिक्रिया के कवि की फैंटेज़ी है। वह आज के व्यक्ति की तरह हृदय में तनाव का अनुभव कर रहा है और इस तनाव की अनुभूति से आज का कवि और व्यक्ति दोनों आत्म-विस्तार चाहते हैं।

मुक्तिबोध उन सजग कवियों में हैं जो ज्ञान की प्रयोगशाला में भी प्रयोगशील हैं और प्रकृति की प्रयोगशाला में भी मार्मिक पक्षों का संवेदनात्मक आकलन तैयार

---

१. तीसरा क्षण

"दिशा और उद्देश्य के मर्म-प्राण को धारण कर फ़ैण्टेज़ी गतिहीन नहीं रह सकती। फ़ैण्टेज़ी गतिहीन स्थिर-चित्र नहीं है। उद्देश्य और उद्देश्य की दिशा के कारण ही वह गतिमय है।...

"महत्त्व की बात है कि ज्यों ही यह फ़ैण्टेज़ी शब्द-बद्ध होने लगती है फ़ैण्टेज़ी का भावनात्मक उद्देश्य या कहिए कि फ़ैण्टेज़ी की प्रधान पीड़ा अपना समर्थन, संरक्षण और पोषण करने वाले अन्य अनेक जीवनानुभावों के तत्त्वों को समेटने लगती है।...

"फ़ैण्टेज़ी के उद्देश्य और दिशा के निर्वाह के लिए कलाकार को भाव-सम्पादन करना पड़ता है, जिससे कि केवल मर्म के अनुकूल और उसको पुष्ट करने वाले स्वर, भाव तथा चित्र ही कविता में आ सकें और इस बीच यदि अन्य अनुकूल मार्मिक अनुभव तैर आये, तो उसे भी फ़ैण्टेज़ी के मर्म की उद्देश्य दिशा में प्रतिपादित कर दिया जाए।...

"मेरा मतलब यह है कि मूल फ़ैण्टेज़ी का मर्म जो सिकुड़ा हुआ एक दर्द था, अब फैलकर एक पर्सपैक्टिव का रूप धारण करने लगता है।...वह पुराना मर्म न रहकर अब नया बन जाता है। उसमें नये मनमस्तत्व आ जाते हैं। शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया के दौरान जब तक उस मर्म में ओज और बल क़ायम है तब तक वह नये तत्त्व समेटता रहेगा। किन्तु जब वह चुक जाएगा तब गति बन्द हो जायेगी; उद्देश्य समाप्त हो जायेगा। कविता वहाँ पूरी हो जानी चाहिए। यदि वह पूरी नहीं हुई, तो मर्म के साक्षात्कार में कहीं कुछ कमी रह गई, दिशा ज्ञान ठीक नहीं रहा है, उद्देश्य में कुछ कमज़ोरी आ गई है ऐसा मानना होगा।"

मुक्तिबोध—'एक साहित्यिक की डायरी'—२८

किया करते हैं। उनकी लम्बी कविता का प्रथम पुरुष आज के तनाव या घिराव की स्थिति में गहरी चुनौती देने वाला सहृदय संवेदनशील वास्तविकता के मार्मिक पक्ष का अध्येता कवि है।

मुक्तिबोध ने निरालाजी की तरह न तो चित्रकूट की दार्शनिक यात्रा की है और न ही पंतजी की तरह अपने मन्तव्य को काव्य-बद्ध किया है। उन्होंने 'सरोज स्मृति' सी मृत्यु पर निराला की तरह कोई आत्मपरक 'एलेजी' भी नहीं लिखी है।

लियोनार्दो द विंची की 'नोट बुक' इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि उसमें चित्रकार ने अपने जीवन की रोजमर्रा की कोई घटना या किसी व्यक्ति का परिचय नहीं लिखा है। मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं और 'एक साहित्यिक की डायरी' में उनका कोई आत्मीय व्यक्ति, मित्र, नारी, साहित्यकार यानी जिस दुनिया में वे रहते थे उसका विवरण या संस्मरण नहीं है। लियोनार्दो द विंची के लिए प्रकृति का विशाल दृश्य केवल सुन्दर वस्तु की तरह नहीं था बल्कि वे प्रकृति की सुन्दरता को देखकर जीवन की गहन मर्म-छवियों का आकलन किया करते थे। वे दृश्यों को देखते थे और उनके भीतरी मन में उसकी मर्म-छवियों का रिकर्ड बनता जाता था, और उनका मस्तिष्क उन दृश्यों का विश्लेषण करता रहता था। इस तरह उनका विवेक-यात्री मन निरीक्षण करता था—प्रकृति का, जीवन की वास्तविकता का—और मार्मिक गहरी दृष्टि से उनका मस्तिष्क प्रकृति में रहते हुए एक नये सौन्दर्य का उद्घाटन करता था। यह उद्घाटित या अभिव्यक्तिगत दृश्य उनकी जीवन-यात्रा का निष्कर्ष था। यह सहज प्रवृत्ति मुक्तिबोध की बहुत कुछ लियोनार्दो द विंची से मिलती-जुलती है। दोनों ही प्रकृति को अपनी दृष्टि से देखते हैं, निरीक्षण करते हैं, विश्लेषण करते हैं और एक निष्कर्ष तक पहुँचते हैं। लियोनार्दो द विंची अपने जीवन के अनुभव 'नोट बुक' में जब-तब लिख लिया करते थे। मुक्तिबोध भी निरीक्षण, विश्लेषण और निष्कर्ष में जिन मर्म छवियों का अनुभव किया करते थे, उन्हें नोट के तौर पर मन में या किसी स्थान पर अंकित कर लिया करते थे। यह रचना-प्रवृत्ति ही उन्हें निराला से भिन्न लेकिन निराला की भूमि पर सर्वथा समर्थ कवि बनाती है।

(४) **'प्रथम पुरुष : विषादाकुल आकृतियाँ और आत्मसाक्षात्कार'** : स्वयं में घनीभूत पीड़ा और चिन्ता और शंका और अन्तर्विरोध यह सब मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया के माध्यम हैं। अनुभूति के तीव्र क्षण मुक्तिबोध को ज़िन्दगी के दलदल में धँस कर मिले हैं। वक्ष तक उनके जीवन में पानी था। लेकिन कीचड़ में धँसकर कमल तोड़ लाने वाला एक लक्ष्य भी, उनके मन में रहा है। यह कमल भीतर के आंतरिक मनोमन्थन के बाद, प्राप्त रचनाकार के आत्मसाक्षात्कारी क्षोभ की फैंटेज़ी है।

मुक्तिबोध अपने अन्तस्थ प्रेरयितृ अनुभव आकलित करते हैं। वे ज़िन्दगी के कचरे में भी ज्ञानात्मक संवेदन खोजते हैं। रात के घने अन्धकार में वे यात्राएँ किया करते हैं और अकसर बेगानों की तरह वे भटका करते हैं। जगजीवन के प्रतिपालन-दायित्व भार से घबराकर वे कभी अँधेरे की अपनी ही आंतरिक अनुभूति से विचलित भी हो जाते हैं। विचलित होने पर वे मन में, रात के घने अन्धकार को और घना

तथा ठोस महसूस करते हैं। और एक ठोस चट्टान अँधेरे की समाज की तलछट से उभरती है। और कवि अँधेरे में चीखती किसी सीटी की आवाज़ और किसी पेड़ के पीछे जलते हुए प्रकाश को देखता है और सहसा अँधेरे की ठोस मूर्ति उसके अन्तर में एक जलती हुई कौंध पैदा कर देती है। प्रतिपालन दायित्व भार की मानवी परम्परा का आदि से अब तक का मृदुल, कर्कश स्वर उन्हें याद आता है, और अपनी पीठ पर, कन्धों पर, उस विशाल ठोस काली पत्थर की आकृति वे महसूस करते हैं। फैंटेज़ी के प्रथम पुरुष को लगता है, भार सहती हुई उसकी पीठ झुक रही है। एक देव आकृति उसे कुचल रही है। रीढ़ में उसके दर्द बढ़ जाता है। पसलियाँ पिरा रही हैं। पाँव में खून जम रहा है। लेकिन एक मन है जो कुचले जाने को अस्वीकार करता है। झुकने को तैयार नहीं होता है। रीढ़ में दर्द महसूस करने पर भी वह दबाव, आंतरिक तनाव और विचलित होने वाले मन का विरोध करता हैं। अँधेरे में उसकी बनाई हुई सारी भारान्वित छायाएँ एक बार उसके मन का द्रोह और उसके अन्तर के क्षोभ को व्यंग्यसे वेधती हैं और हँसती हैं। उसे लगता है कि रात के अँधेरे में छिपी हुई प्रकाश की आकृतियाँ उसके जीवन-कर्तव्यों पर हँस रही हैं। वह महसूस करता है—'जब से जन्मा है, आज तक उसे कष्ट ही मिला है।' और वह व्यंग्य से अपनी चौखटाई देह-मन को देखता है। उसे लगता है कि इसी मन की भारान्वित आकृति ने उसे कष्ट दिया है। वह व्यंग्य और द्रोह से कहता है—

मैं जन्मा जब से इस साले ने कष्ट दिया
उल्लू का पट्ठा कन्धे पर है खड़ा हुआ।

खुद पर व्यंग्य करने के साथ ही उसके अन्तर में प्रश्न कौंध उठता है। और परम्परा का गम्भीर आदेश उसे मिलता है। वह तनकर सीधे खड़ा हो जाता है। उसकी पीठ तन जाती है। उसके स्कन्ध नभोगामी हो उठते हैं—ऊँचे। और एकाएक रात के अँधेरे की वह घनी पीड़ा। वह कठोर काली मूर्ति चिटकने लगती है। और उसे महसूस होने लगता है कि वह देवाकृति में एकाकार हो गया है। नभ उसके हाथों पर आ जाता है। और वह अनाकार सीमा है। शून्य के बुलबुले में यात्रा करते हुए "वेछोर सफर के अँधेरे में बिला बत्ती सफ़र कर रहा है।" तभी उसकी फैंटेसी धुँधली पड़ती है। उसे बीड़ी पीने की तलब लगती है। और प्रथम पुरुष, मुक्तिबोध में विलीन हो जाता है। और चिल-चिलाती सड़क पर मित्रों से गप्प करने वाली मुक्तिबोध की पूर्वाकृति, एक कप गरम-गरम चाय पीना चाहती है—

मूल्यांकन करते एक-दूसरे का
हम एक-दूसरे को सँवारते जाते हैं
वे जगत-समीक्षा करते-से
मेरे प्रतीक रूपक सपने फैलाते हैं
आगामी के।
दरवाज़े दुनिया के सारे खुल जाते हैं
प्यार के साँवले किस्सों की उदास गलियाँ

गम्भीर करुण मुस्कराहट में
अपना डर का सब भेद खोलती है।
अनजाने हाथ मित्रता के
मेरे हाथों में पहुँच ऊष्मा करते हैं
मैं अपनों से घिर उठता हूँ
मैं विचरण करता-सा हूँ एक फैंटेजी में
यह निश्चित है कि फैंटेजी कल वास्तव होगी।

(५) **'जटिल परिवेश और प्रतीक'** : आज की कविता की स्थिति जटिल है। काव्य : एक सांस्कृतिक प्रक्रिया—"आज का कवि अपनी बाह्य स्थिति—परिस्थिति और मनःस्थितियों से न केवल परिचित है वरन् अपने भीतर वह उस तनाव का अनुभव करता है जो बाह्यपक्ष और आत्मपक्ष के द्वन्द्व की उपज है। हाँ, सही है कि यह तनाव विभिन्न क्षेत्रों को—यथा प्रणय-जीवन को, अपूर्तिग्रस्त व्यक्तिमानस को तो कभी-कभी सामाजिक पक्ष को लेकर उत्पन्न होता है। कवि के पास जीवन लहरायित और तरंगायित है। हो यह रहा है कि साहित्य-सृजन के लिए जिस योग्यता और प्रतिभा की आवश्यकता होती है उसकी अवहेलना हो रही है। अपने आसपास के जीवन को अनुभव कर और उसके भीतर अपनी स्थिति को लेकर वह विशेष सुख अनुभव नहीं कर पाता। यह तनाव कभी-कभी आत्मालोचन के स्वर में फूट पड़ता है तो कभी प्रकृति के रमणीय दृश्य में उदास भावों का आरोप करता-सा प्रतीत होता है, तो कभी वह आत्मविश्वास से प्लुत होकर गरज उठता है, तो कभी वह मात्र नपुंसक अहंकार का विस्फोट बनकर प्रकट होता है। कभी आस्था और प्रेम की बात करने लगता है। यह भी होता है कि कवि, अपने मन के भीतर के उस तनाव को सामाजिक प्रश्नों के साथ जोड़ देता है, यहाँ तक कि वह सभ्यता के प्रश्न भी शान से उपस्थित करता है।

संक्षेप में, नई कविता, वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्मचेतस व्यक्ति की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है चूंकि आज का वैविध्यमय जीवन विषम है, आज की सभ्यता ह्रास-ग्रस्त है, इसलिए आज की कविता में तनाव होना स्वाभाविक भी है।

('नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा निबन्ध' : १२ पृ०)

आधुनिक परिवेश और वैज्ञानिक साधन में सामान्यतः नया कवि उलझन महसूस कर रहा है। सीधे योरोप के नये-पुराने काव्य रूपों से प्रभावित होकर बहुत से व्यक्ति उन्हीं काव्य-शैलियों में नये प्रतिमान कायम कर रहे हैं। इनमें जिस सुरियलिस्ट, सिम्बलिस्ट, एक्सप्रेशनिस्ट तथा बीट और ऐंग्री जनरेशन तक योरोप के, विशेष कर फ्रांस, स्पेन, इंगलैंड, अमेरिका जैसे देशों के कवियों का प्रभाव हिन्दी के नये कवियों पर पाया जा रहा है, वह अधिकतर द्वन्द्व रूप में स्थित है।

मुक्तिबोध ने संकेत से अपनी कविता में बहुत से ऐन्द्रिय स्वप्न-प्रतीकों को चित्रित किया है। उनके प्रतीक तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान, गणितशास्त्र, ज्योतिष के हैं, जो जीवन के साहचर्य से बदलते रहते हैं। प्रतीक उनके लिए औदाम्बर, रावण,

एकलव्य की तरह पौराणिक वस्तु नहीं है। "वह एक विराट् रचनात्मक प्रक्रिया में पड़ने वाला ऐसा बिन्दु है, जो किसी पदार्थ को एक निश्चित वस्तु के रूप में परिचित कराता है।" ('कल्पना और छायावाद', पृ० ९७)

मुक्तिबोध की भाषा स्वयं एक रचनात्मक प्रक्रिया है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का योग है।

(६) "आदिम संस्कार और युगीन ट्रैजेडी का वैज्ञानिक अनुशीलन' : बेजुबाँ बेबस, बेखौफ़, स्याह कमज़ोरियाँ, कराह, खुदगर्ज़, संजीदा, भूल-ग़लती, नामंज़ूर खतरे, भटकाव, परित्यक्त सन्देह, पागल से भयानक विकृताकार कृति, अतिरेकवादी पूर्णता, भव्य असफलता, विषादाकुल मन, यानी अगर इस प्रकार के शब्दों की एक सूची तैयार की जाय तो मुक्तिबोध के काव्य में एक दबी हुई व्यथा का पर्यायवाची शब्द-समूह अधिक मिलेगा—

> पिस गया वह भीतरी
> औ' बाहरी दो कठिन पाटों बीच
> ऐसी ट्रैजिडी है नीच।

यह ट्रैजेडी विपदाकुल कवि-हृदय की ही नहीं है। दूसरे महायुद्ध के बाद की ट्रैजिडी ही बड़ी पेचीदा है। मनुष्य में सत्रहवीं शताब्दी तक विज्ञान एक विस्मय या जिज्ञासा पैदा करता था, लेकिन दूसरे महायुद्ध के बाद विज्ञान एक भयानक विराट् आतंक के रूप में परिणत हो गया है। युद्ध में ध्वस्त नगर और प्राचीन इमारतें ही खंडित नहीं हो गईं, बल्कि सामान्य मनुष्य के सारे सम्बन्ध ही छिन्नभिन्न हो गए हैं। धर्म की आंतरिक शांति-निष्ठा का सम्बन्ध टूट गया है। परिवार की संयुक्त साहचर्य-गत भावना खंडित हो गई है और नस्ल-जात-विहीन नगर में एक नयी जातीयता पैदा हुई जो अपने परिवेश में, वैज्ञानिक साधनों के कारण सभ्य या आधुनिक समझी जाने लगी है, लेकिन जिसका मन-प्राण आदिम है। इस आधुनिक परिवेश का दिमागी गुहान्धकार आदिम औरांगउटांग की तरह है, लेकिन पिछली सारे मानवीय सम्बन्धों की स्मृतियाँ उसके मन में, स्वप्न के रूप में हैं। मुक्ति बोध ने इस आधुनिक-आदिम व्यक्ति की ही ट्रैजिडी देखी और लिखी है। उसके भीतर एक गहरी व्यथा है, और स्वप्न के भीतर स्वप्न की परतें हैं। विचारधारा के भीतर विचारधारा है। कथ्य के भीतर अनुरोध है। मस्तिष्क के भीतर मस्तिष्क है, और उसके भीतर एक कक्ष है, और उस कक्ष के भीतर एक कक्ष है, उसके भीतर एक गुप्त-प्रकोष्ठ है, उसके भीतर एक सन्दूक है, सन्दूक के भीतर एक आदिम यक्ष है। और यह सब उस बाहर और भीतर के तनाव को महसूस करने वाले नगर के व्यक्ति की आन्तरिक संस्कृति है। जिस संस्कृति से मुक्तिबोध को आत्म-पीड़ा है। जिस संस्कार से वह शक्ति और भय-भीत है। और एक प्राकृत आदिम नग्न मन उसमें छिपा है। आधुनिक व्यक्ति महसूस करता है, उसकी गर्दन पर सघन अयाल उग आए हैं, शब्दों में जंगलीपन है। वाक्यों में औरांगउटांग के बढ़े हुए नाखून हैं। और सभ्यता के अध्ययन-कक्ष में मुक्तिबोध का सजग-पुरुष, गुच्छेदार मूँछ, बड़े-बड़े दाँत, बौना भाल, झुका माथा देखता है। उसके

स्वप्न के भीतर स्वप्न, विचार के भीतर विचार, मस्तिष्क के भीतर कक्ष, कक्ष के भीतर प्रकोष्ठ, प्रकोष्ठ के भीतर गुहान्धकार है। वेदना से ग्रस्त हो वह अपने ही रूप से डरता है। हाथ में पिस्तौल लेकर वह सारे भीतर के विकृत आकारों को बेध देना चाहता है। वह महसूस करता है गोलियाँ दाग़ दी गई हैं। दूसरे महायुद्ध की बर्बादी का खून फैल गया है। और अध्ययन गृह में लम्बी कविता का प्रथम पुरुष खुद आदिम और आधुनिक सभ्यता पर बहस करता है। विवाद में ग्रस्त उसके पास जन है, उन सबके मन में कोई तल है। और स्वप्न, विचार, गुप्त प्रकोष्ठ के तल में वे अपने अहं को प्रस्थापित करना चाहते हैं।

आधुनिक मन का एकमात्र अहं साथी है। वे उसे ही प्रतिष्ठित करते हैं। आज की ट्रैजिडी के भीतर मुक्तिबोध सघन रहस्यमय आदिम ट्रैजिडी देखते हैं, और उसके भीतर गुप्त ट्रैजिडी है। युगीन सत्य के भीतर सत्य है। जड़ीभूत सौन्दर्य के व्यक्ति अपने लिए आदिम बड़े-बड़े नाखून टाँगे हुए हैं और चुनौती देनेवाला आदिम बाघ-नख अब खुद एक ट्रैजेडी बन गया है।

(७) **'जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि और विश्वचेतस कवि-चरित्र' : मुक्तिबोध ने लिखा है—**

"एक खतरा है जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि का। नयी काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र के कुछ महान् व्यक्ति 'अपनी वर्गीय अभिरुचि के फलस्वरूप' सौंदर्य का जो प्रतिमान हमारे सामने रखते हैं उसमें जब तक व्यापक संशोधन नहीं होगा, तब तक हम अपने ही जीवन अनुभवों का पूर्ण और प्रभावशाली चित्र उपस्थित नहीं कर सकते। काव्यात्मक व्यक्तित्व जो एक बन्द सन्दूक 'क्लोज्ड सिस्टम'' बनाता है ("तुम नहीं व्याप सके, तुममें जो व्यापा है, उसीको निबाहो) जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि ही प्रस्तुत कर रहा है। इस तरह की जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि के फलस्वरूप ही, कुछ साहित्यिक समाजशास्त्री अपने ढर्रे के बाहर के क्षेत्र में प्रचलित नयी काव्य समृद्धि में विद्रूपता के अतिरिक्त कुछ नहीं देखते। यदि हमें वैविध्यपूर्ण, परस्पर द्वन्दमय, मानवजीवन के (अपने अन्तर में व्यापित) मार्मिक पक्षों का वास्तविक प्रभावशाली चित्रण करना है, तो हमें जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि और उसके 'सेंसर' त्यागने होंगे, तथा अनवरत रूप से, अपने ढाँचों और फ्रेमों में संशोधन करते रहना होगा। मनुष्य जीवन का कोई अंग ऐसा नहीं है जो साहित्याभिव्यक्ति के अनुपयुक्त हो। जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि एक विशेष शैली को दूसरी विशेष शैली के विरुद्ध स्थापित करती है।"

(नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध—पृ० ९)

जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि अगर कवि को सीमित बनाती है, उसकी अन्तःचेतना को कुण्ठित बनाती है, उसके व्यक्तित्व को ह्रासशील बनाती है और उसकी जीवन-दृष्टि को विश्वचेतस् बनने से रोकती है और यही मुक्तिबोध का एक सजग, आन्तरिक द्वन्द्व है। और वे अपने साहित्य-चिन्तन में इन जड़ीभूत तत्वों का विरोध करते हैं। लेकिन वे वास्तविक जीवन के मार्मिक पक्षों की उपेक्षा भी नहीं करना चाहते। औरांगउटांग जैसे जड़ीभूतसौन्दर्याभिरुचि के बन्द सन्दूक के सीमित व्यक्तित्व की, वे आन्तरिक व्याख्या करते हैं। यह आन्तरिक व्याख्या, कवि की संस्कृति के तत्वों को विकसित करती

है। इन द्वन्द्वों के चित्रण से मुक्तिबोध अपना अनुभव समृद्ध बनाते हैं। उनका विवेक-यात्री मन तत्व-समृद्धि और तत्व-परिष्कार की समस्या का विश्लेषण करता है।

उन्हीं के शब्दों में—

"आज एक दूसरे ही प्रकार का कवि-चरित्र चाहिए। वह नहीं कि जो निरा कार्यकर्ता है, अथवा केवल चारण है, वह भी नहीं जो आरामकुर्सी पसन्द बुद्धिजीवी हो, वह भी नहीं जो किसी सम्पन्न उच्च-मध्यवर्गीय परिवार में उत्पन्न चित्रकार है, जो चित्रकला के लिए दुनियाभर में अपनी प्रदर्शनियाँ आयोजित करता है। आज ऐसे कवि-चरित्र की आवश्यकता है, जो मानवीय वास्तविकता का, बौद्धिक और हार्दिक आकलन करते हुए सामान्य जनों के गुणों और उनके संघर्ष से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करे, उनके संचित जीवनविवेक को स्वयं ग्रहण करे तथा उसे और अधिक निखारकर कलात्मक रूप में उन्हीं की चीज को उन्हें लौटा दे। सामान्य जनों की अपार आध्यात्मिक और बौद्धिक क्षमता में यदि हमारा विश्वास है, हमारी आशा है तो हम अपने ही पिता के सच्चे पुत्र होंगे। अपने युग की विवेक-चेतना को मूर्तिमान करने का यह कार्य जितना गम्भीर और कठिन है, उतना ही प्रेरणादायक है, क्योंकि उससे तो हम अपने ही जीवन के मूल उत्सों के अमृत-रस का पान करेंगे और अपनी सृजनशील अनुभूति और कल्पना द्वारा उस जीवन की साहित्यिक कलात्मक पुनर्रचना करेंगे कि जो जीवन अपने सारे आलोक में हमें इतना प्रिय है। कवि-चरित्र के विकास का हमारा यह संघर्ष, युग की विवेक-चेतना बनने का हमारा यह मौन-प्रयास अपने आप में आध्यात्मिक महत्व रखता है।"

(नयी कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबन्ध पृ० २१)

आत्मचेतस् और विश्वचेतस् मुक्तिबोध के सारभूत बिंबों, मिथ, सिंबल, मेटाफर, फैंटेज़ी, इमेज, और लीजेंडों की मूल प्रवृत्तियों को वास्तविक जीवन के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। बुद्धि, भावना, और कल्पना आदि का प्रभाव-संगठन उनके आत्मचेतस् मन में किन रचना-प्रक्रियाओं में मूर्तिमान यथार्थ को मनुष्य की अस्तित्व, रक्षा को, व्यक्तिवाद को गहन दण्डकारण्य से निकालकर वास्तविकता की तह में पहुँचाता है, यह सुधी आलोचक ही समझ सकते हैं। अपने आभ्यन्तरिक वास्तव से साक्षात्कार के लिए विविध रूप, बहुमार्गानुसारी प्रयोगों के अनवरत क्रम में एक लम्बा समय गुज़ारकर मुक्तिबोध ने विस्तृत अभ्यान्तर-वास्तव का साक्षात्कार किया है। उनका विवेक-विक्षोभ एक आत्म-साक्षात्कार है। यथार्थ के मार्मिक भाव के तल में वे खुद को देखते हैं—

पाता हूँ निज को खोह के भीतर
विक्षुब्ध नेत्रों से देखता हूँ द्युतियाँ

यही द्युतियाँ एक स्वप्न-कथा हैं। चंबल घाटी के टीले हैं। अन्तःकरण का आयतन है। और बौखलाए हुए जन-संघर्ष की राहों पर ज्वलंत चिन्ह हैं। यह भीतर का शून्य, मुक्तिबोध की कविता में बड़ा पेचीदा है, क्योंकि वह जन-संघर्षों की राहों का एकदम काला, बर्बर, नग्न यथार्थ है।

८. शून्य : संक्रान्ति युग का मर्म

मुक्तिबोध की कविताओं में अँधेरे की स्याही में डूबे हुए देव हैं। पंगु गांधी जी हैं। बिजली का झटका उनसे कुछ कहता है। कहीं से कोई अव्यक्त आकार कुछ संकेत देता है। एकाएक पीछे से किसी अजनबी ने कन्धे पर उसके हाथ रख दिया है। कोई कहीं आत्मोद्बोधमय कोई पद गा रहा है। गहन मृतात्माएँ हर रात जुलूस में चलती हैं। सड़क पर उठ खड़ा कोई शोर है। शायद तालस्तायनुमा कोई आदमी है। रात का पक्षी कहता है, "वह चला गया है, वह नहीं आयेगा, आयेगा ही नहीं।" और यह सब मुक्तिबोध का वास्तविक शून्य है, जिसमें अछोर अँधेरे में बिना बत्ती के, वे मार्मिक अनुभूतियों का स्पर्श कर रहे हैं—

अँधेरे के ओर-छोर टटोल-टटोलकर
बढ़ता हूँ आगे,
पैरों से महसूस करता हूँ धरती का फैलाव,
हाथों से महसूस करता हूँ दुनिया
मस्तक अनुभव करता है आकाश,
दिल में तड़पता है अँधेरे का अंदाज
आँखें ये तथ्य को सूंघती-सी लगतीं,
केवल शक्ति है स्पर्श की गहरी।

मानवी स्पर्श की इस शक्ति में कवि का करुण दायित्वभाव तथा यथार्थ का आतंक है। भय, आतंक, अनिश्चय, जिज्ञासा, कुतूहल, समाधान और दुश्चिन्ता में केवल असन्तुष्ट व्यक्ति ही अपने को निःसहाय अनुभव करता है। इस परिस्थिति में पन्त, नरेन्द्रशर्मा, भगवतीचरण वर्मा और दिनकर नहीं रहे हैं। उन लोगों का मन एक दयनीय चतुरता या प्रभावशाली सुविधा या 'ऐरिस्ट्रोक्रेटिक लिविंग' से दीप्त है।

मुक्तिबोध ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए बताया है कि आज बुजुर्ग श्रद्धास्पद क्यों नहीं रह गये हैं—"आज हालत यह है कि बुजुर्ग भी बालक बनाना चाहते हैं, और चपल चंचलता सूचित करने के लिए उसी तरह की पोशाक भी धारण करते हैं।" (नयी कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबन्ध पृ० ३५)

मुक्तिबोध में गहरा असन्तोष है। उनमें जीवन की गुत्थियों के परस्पर अन्तर्तत्वों को काटती हुई पीड़ा है। एक ट्रैजिडी है। जो असम्भव है उसकी हद का तीव्र सन्ताप है। उनके असन्तोष को युग की सारी समस्याएँ एक सांस्कृतिक माध्यम का रूप देती हैं। उनकी रचनाओं का पूरा वातावरण उत्तेजक और प्रेरक है। यही सांस्कृतिक ट्रैजिडी कभी निराला जी की निजी ट्रैजिडी समझी गई थी। मुक्तिबोध ने अपने परिवार समाज और समय के वास्तविक यथार्थ से आत्मसंघर्ष किया है। अपने हृदय में वे युग की ट्रैजिडी के स्थूल और सूक्ष्म तानेबाने को पहचानते थे। यथार्थ के आनन्द को पहचानने पर ही उन्होंने स्वीकार किया था—"सत्ताधारियों ने, समाज-संचालकों ने, आर्थिक शक्ति से सम्पन्न वर्गों ने, समाज के प्रत्येक स्तर पर प्रकट और अप्रकट, सूक्ष्म और स्थूल भ्रष्टाचार का विधान कर रखा है।" (नयी कविता

पृष्ठ-३६) और स्वीकृति के पीछे गहरी मर्मान्तक चुनौती छिपी हुई है । वे सजग लेखक थे और जीवनभर सौदेबाजी और अवसरवादी समय के आन्तरिक दबाव से संघर्ष करते रहे हैं ।

आज भीड़ और जुलूस से घबराकर कुछ नये लेखक भीड़ और जुलूस के प्रति घृणा भी व्यक्त करने लगे हैं । ये व्यक्तिवादी लेखक हैं जो जड़ीभूतसौदर्याभिरुचि के कारण शून्य या खाली अँधेरे कमरों में भयानक रूप से अन्धकारग्रस्त हैं । मुक्तिबोध ने ऐसे लेखकों को ह्रासग्रस्त कहा है । ये लेखक विचार-विश्लेषण तथा आत्मपरीक्षण में संगठित समाजवादी जीवन पद्धति के विरुद्ध हैं । मुक्तिबोध ने इनकी कटु आलोचना की है और इनके वर्ग-चरित्र का विश्लेषण करते हुए इनकी सूझ-समझदारी को सीमित बताया है ।

सामाजिक अनीति के प्रति असंतोष हर व्यक्ति या रचनाकार में होता है । कुछ अपनी सीमा को लाँघकर पूरी मानव जाति को प्रेरित करते हैं और कुछ अपने संस्कार, पूर्वाग्रह और श्रेष्ठ आदर्शों के घेरे में अनाकर्षक होते जाते हैं । कवि श्री सुमित्रानंदन पंत का अंतर्दर्शन 'लोकायतन' है और अज्ञेयजी की आध्यात्मिक शान्ति की खोज 'अपने अपने अजनबी' है । और यही पहनावा 'उर्वशी' के कामाध्यात्मी कवि रामधारीसिंह 'दिनकर' का भी है । तथा इसी युग में 'सामर्थ्य और सीमा' की वाढ़ में डूबे हुए श्री भगवतीचरण वर्मा के चरित्र भी नियतिवादी हैं । पन्तजी की भंगिमा में, नरेन्द्र शर्मा ने भी पुनुरुत्थानवादी आध्यात्मिक निष्क्रियता का दर्शन 'द्रौपदी' और 'धर्मराज' में इसी युग में किया है । मैं नहीं जानता (पर मुक्तिबोध इनकी असफलताओं को पहचानते थे) इनमें से कौन जीवन जलाकर, जीवन देकर या खरीदकर या जीवन का साक्षात्कर किसी सांस्कृतिक शक्ति को निर्मित कर सका है ? पर मुक्तिबोध अपनी पूर्व अक्षमताओं को त्यागकर 'लघु' जीवन में विकसित होते गए हैं । उनमें आज का गहरा आवेश और गहरी असन्तोष की संवेदनात्मक क्षमता है । उनका व्यक्तित्व रुद्ध-बद्ध और शिथिल कभी नहीं रहा । उनके सामने एक तात्विक राष्ट्रीय असन्तोष विकसित और शक्तिशाली हुआ । स्वतन्त्रता के बाद—देश की आर्थिक असमानता का असन्तोष, कार्य करने के बाद निरर्थकता का आघात, अरक्षा का भय, सहकर्मियों में आपसी संशय, पूर्व राजनैतिक कार्यों के खोखलेपन का खतरा, बड़ी मानवीय क्षमता (गांधी, नेहरू) या उनके व्यक्तित्व से अलगाव का बोध—यह सब केवल एक पीढ़ी या एक उम्र के लेखकों का ही असन्तोष नहीं था, बल्कि आत्मविश्लेषण करने वाली समग्र सजग जातीयता का आत्म-संघर्ष था, जिसका अर्थ होता है—'कुछ न कर पाने की विवशता' । और यह विवशता ही मुक्तिबोध का मर्म है । पिछली 'स्नॉबरी' को, संशयवाद को, धार्मिक भीरुता को और मानसिक तनाव की बेचैनी को अपना समझकर—विस्मय से मुक्तिबोध ने 'आउट-डेटेड' घोषित कर दिया था । वे लेखक रहकर आत्मसम्मान की ज़िन्दगी जीना चाहते थे । उन्होंने धोखा, उपेक्षा और सामाजिक आघात को झेलकर विशद, मार्जित, और उदार सामाजिक क्रान्तिकारी असन्तोष का मर्म हमें सौंपा है । उनकी एक-एक लम्बी कविता एक-एक द्वन्द्वस्थिति का महाकाव्य

है, जिसमें—"एक लिरिसिज़्म है, एक यथार्थप्रवण रूमानी किस्म की कल्पनाशीलता है, एक आवेश है और अन्त में आत्मालोचन है।" (नयी कविता पृ० ११६) वे यह मानकर चलते थे कि "चेतना को अधिकाधिक यथार्थसंगत बनाने के लिए, अतिशय संवेदनशील, जिज्ञासु तथा आत्मनिरपेक्ष मन की आवश्यकता होती है।" (पृ० ११७) और मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया का यही मर्म है। वे प्रबुद्ध और सक्रिय जीवन की नवीन विराट अनुभूति के जीवंत कवि हैं। निराला ने शायद भविष्य की ही फैंटेज़ी लिखी थी—

'आये अभ्यन्तर संयत चरणों से नव्य विराट'

और वह संयत, विराट, नव्य-काव्य हमारे सामने है। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में !

डॉ० रवीन्द्र भ्रमर

हम विषपायी जनम के

स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (१८९७-१९६४) की अब तक की अप्रकाशित काव्य-कृतियों का संग्रह-ग्रन्थ, भारतीय ज्ञानपीठ ने उनकी चौथी पुण्यतिथि (२९ अप्रैल, १९६४) के अवसर पर हम विषपायी जनम के नाम से प्रकाशित किया है। ग्रन्थ की सम्पूर्ण पृष्ठ संख्या २०+६४५ रुपये है। श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन द्वारा लिखित 'समर्पण' शीर्षक प्रस्तावना के अतिरिक्त, समस्त ग्रन्थ छः खण्डों में विभक्त है। प्रत्येक खण्ड स्वतः कवि द्वारा पूर्वनियोजित एक स्वतन्त्र काव्य-संग्रह है अर्थात् 'हम विषपायी जनम के' नामक एक ही मंजूषा में स्वर्गीय नवीनजी के छः कविता-संग्रह सहेज-सँवारकर रखे हुए हैं।

संग्रह-ग्रन्थ का नामकरण कविवर नवीन के निम्नलिखित दोहे के प्रथम चरण को लेकर किया गया है :

"हम विषपायी जनम के, सहैं अबोल, कुबोल;
मानत नैंकु न अनख; हम जानत आपुन मोल।"

इस छन्द के माध्यम से नवीनजी के संघर्षशील एवं साधनारत व्यक्तित्व की कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है। अपने सामाजिक और साहित्यिक दोनों ही परिवेश में, वे एक महान् पुरुष थे। देश, जाति, समाज और साहित्य के लिए उन्होंने जितना कुछ किया, जो कुछ दिया वह सब हमारे लिये बहुत आदरणीय और अनुकरणीय है।

बात इसी शताब्दि के पूर्वार्ध की है, कुछ-कुछ उत्तरार्ध की भी ! महात्मा गांधी के नेतृत्व, स्वाधीनता-आन्दोलन और स्वतन्त्रता-प्राप्ति का इतिहास बिलकुल ताज़ा है अभी। आज़ादी के लिए प्राणोत्सर्ग का त्योहार मनानेवाले क्रान्ति-वीरों की उत्साह-उमंगपूर्ण वाणी की अनुगूंज अब भी जहाँ-तहाँ सुनाई पड़ जाती है। एक

विप्लव-गीत नवीनजी का भी है जो उन दिनों लोगों की ज़बान पर था :

> **"कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये,**
> **एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये,**
> **प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि-त्राहि स्वर नभ में छाये,"**

तो, कल की व्यतीत हुई इस अवधि में जिन्होंने नवीनजी को देखा-सुना, उनका सम्पर्क-सान्निध्य जिन्हें प्राप्त हुआ, वे उनके विषय में भलीभाँति जानते हैं। वे सचमुच नवीन थे, नितान्त अद्भुत और मौलिक व्यक्ति ! बाहर से फक्कड़, लापरवाह, मस्तमौला और भीतर-भीतर से दृढ़, उग्र तथा कोमल भी। उन्होंने स्वाधीनता-संग्राम में सम्पूर्ण निष्ठा के साथ भाग लिया, वर्षों तक बन्दी-जीवन की यन्त्रणाएँ भोगीं किन्तु चरित्र की दृढ़ता के कारण उस कृपाण-पंथ से विचलित न हुए। स्वाधीनता-प्राप्ति के उपरान्त उन्होंने किसी पद और प्रतिष्ठा के लिए कोई ललक नहीं व्यक्त की। यह उनके फक्कड़पन और मस्ती का उदाहरण है। एम० पी० वे अवश्य हुए, मृत्युपर्यन्त रहे, किन्तु वे मन्त्री या राज्यपाल भी हो सकते थे, पर वे वैसा चाहते तब न ! उन्होंने तो पद-प्रतिष्ठा से नहीं, प्रेम से यारी की थी। शायद, प्रेम ही उनके जीवन का मूलमन्त्र था। उनके जीवन और कृतित्व को देखने से विदित होता हैं कि उन्होंने सबसे प्रेम किया; निश्छल, उन्मुक्त और उदार प्रेम जिसकी परिधियाँ बहुत व्यापक और विशाल रही हैं। उसके मध्यवर्ती बिन्दु पर तो एक लाजवन्ती, सुकुमार एवं अनन्त शोभामयी प्रिया की प्रतिमा प्रतिष्ठापित है किन्तु उसके इर्द-गिर्द जो परिधियाँ बनती हैं वे क्रमशः मानवता, समाज, देश और विश्वात्मा का संस्पर्श करती हैं। 'हम विषपायी जनम के' की काव्यकृतियाँ समग्र रूप से नवीनजी के ऐसे महिमा-मण्डित व्यक्तित्व का दर्शन कराती हैं। और, जैसा कि श्री जैनेन्द्रकुमार ने कहा है—"इससे (इस काव्य-ग्रन्थ के माध्यम से) आप देखेंगे कि पूरा-का-पूरा व्यक्ति इसमें चला गया है" (ज्ञानपीठ पत्रिका, जून १९६४, पृ० २८)।

संग्रह-ग्रन्थ के सम्पूर्ण प्रभाव के सम्बन्ध में एक और बात है जो उल्लेखनीय है। अन्तर्वर्ती दोनों फ़ोल्डरों पर दी हुई प्रकाशकीय विज्ञप्ति में कहा गया है कि इस संग्रह का महत्त्व काव्य के अतिरिक्त उपन्यास तथा इतिहास के रूप में भी आँका जा सकता है। विज्ञप्ति बहुत सोच-समझकर लगाई गई है। नवीनजी ने इस शताब्दी के अब तक के इतिहास-युग को अपनी ऊर्जस्वी चेतना में समाहित कर लिया था। सामाजिक शोषण और अन्याय, सांस्कृतिक नवजागरण और स्वाधीनता-संग्राम एवं हमारे काव्यसाहित्य की विकासोन्मुख रचना-प्रक्रिया की उथल-पुथल उनकी संवेदना में समवेत भाव से ध्वनित हुई। अतएव, उनके कृतित्व में उस सबका प्रतिफलन अनिवार्य था। प्रस्तुत संग्रह-ग्रन्थ के मूल्यांकन में प्रक्षेपित इतिहास-रस की बात को इसी अन्तर्वर्ती सन्दर्भ में ग्रहण करना चाहिए। उपन्यास यह यूँ कि इसकी अनेक वर्णनात्मक लम्बी रचनाओं में वैयक्तिक संस्मरणों के सतरंगे तन्तुजाल की बुनावट है। छोटी रचनाओं में भी व्यक्तिमन का कुछ ऐसा एकान्तिक उद्घाटन है कि कुल मिलाकर हम एक चरित्र, एक कथानायक की उपलब्धि करते हैं। संग्रह की

पहली रचना से ही एक अंश लीजिए :

"ओ बयालीसवें पत्थर की, मेरी उत्सुक झुटपुटी सांझ !
है स्तब्ध आज इस जीवन की मादक गम्भीर मृदंग, झांझ;
गाये हैं मैंने गीत कई, रोने रोये हैं कई-कई,
हर सुबह और हर सांझ उठी हैं दिल में टीसें नयी-नयी,
क्यों देखूँ मैं पीछे मुड़कर, जीवन का ऊसर, विशद क्षेत्र,
हे सांझ ! आज आगे को हैं, मेरे ये उत्सुक युगल नेत्र ।"

कविता के क्षेत्र में नवीनजी १९१७ ई० के आसपास आये किन्तु उनकी काव्य-कृतियां बहुत विलम्ब से प्रकाशित हो पाईं। उनका पहला संग्रह 'कुंकुम' १९३६ ई० में आया। तदुपरान्त चौदह वर्षों का सुदीर्घ अन्तराल रहा। फिर १९५१ ई० में 'अपलक' और 'रश्मिरेखा', १९५२ ई० में 'क्वासि' और 'विनोबा-स्तवन' तथा १९५७ ई० में 'उर्मिला' (खण्डकाव्य) नामक कृतियाँ एक क्रम से प्रकाशित हुईं। १९६४ ई० में प्रकाशित प्रस्तुत संग्रह-ग्रन्थ की छहों काव्यकृतियाँ उन सबसे सर्वथा भिन्न हैं :

(१) सिरजन की ललकारें, (२) नवीन दोहावली, (३) यौवन मदिरा, (४) प्रलयंकर, (५) स्मरणीय दीप, (६) मृत्युधाम ।

'सिरजन की ललकारें' चालीस कविताओं का संग्रह है जिसका नामकरण 'सिरजन की ललकारें मेरी' शीर्षक-रचना के आधार पर किया गया है। लगभग चालीस पृष्ठों की यह लम्बी रचना गांधीवादी दर्शन एवं क्रान्तिवादी विचारधारा के पारस्परिक द्वन्द्वभाव पर आश्रित है और गांधीजी के आदर्शों की पक्षधर। एक और रचना 'आये नूपुर के स्वन झन-झन' जिसके आधार पर नवीनजी ने इस संग्रह-खण्ड को 'नूपुर के स्वन' का वैकल्पिक शीर्षक दिया है, लौकिक शृंगार-भावना के अलौकिक उन्मेष के कारण महत्त्वपूर्ण है :

"जब सप्तपदी पूरी होगी, जब लुप्त द्वैत दूरी होगी,
जब पिय गलबहियाँ डालेंगे, जब उनकी मंजूरी होगी,
तब हम बन उनके नूपुर स्वन, गूँजेंगे झन-झन झनन-झनन !"

इस संग्रह की रचनाएँ, कुल मिलाकर, कविवर नवीन के वैचारिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक एवं उद्‌बोधनमय भाव-स्वर को ध्वनित करती हैं।

'नवीन-दोहावली' के उन्नीस शीर्षकों के अन्तर्गत संकलित रचनाएँ एक भिन्न प्रकार के काव्यसामर्थ्य का बोध कराती हैं। हिन्दी कविता के आधुनिक विकास-युग को निष्ठापूर्वक जीनेवाला यह समर्थ कवि पुराने ढर्रे की दोहाशैली में ऐसी वागर्थ सम्पन्न रचनाएँ कर सकता है ! खड़ी बोली की कुछ रचनाओं को छोड़कर अधिकांश में इनकी भाषा कनौजी-ब्रज है। भाव-सामग्री की दृष्टि से ये शृङ्गार-क्षेत्र में संचरित हैं। कुछ शीर्षकों के अन्तर्गत अध्यातमदर्शन एवं उद्‌बोधनपरक रचनाओं का भी चयन है। पुराने ही नहीं, नये काव्य-रसिकों के लिए भी कविवर नवीन कृत ये 'नावक के तीर' कुतुहल, आनन्द एवं रसोद्रेक का विषय हो सकते हैं :

(१) "छिन डोले-डोले फिरैं, पुनि छिन में सकुचात,
कहौं कहा ? नैनान की, बड़ी अनोखी बात ।"

(२) "झीनी चादर ओढ़ि कै मत सोवहु सुकुमारि,
अँग-रँग छलक्यौ जात है रंजित हैं दिसि चारि ।"

(३) "हंसा उड़े अकास में, पै नहिं छूट्यौ द्वन्द्व,
मन अरुझान्यौ ही रह्यौ, मानसरोवर फन्द ।"

'पावसपीड़ा' शीर्षक तीसरे संग्रह के अन्तर्गत 'विप्रलम्भ शृंगार-प्रधान लघु-प्रेम कविताएँ' संकलित हैं जो संख्या में १११ हैं। 'स्मरणदीप' नामक पाँचवें संग्रह में भी प्रेमानुभूतिपूर्ण वियोगपरक ४५ रचनाओं का चयन है। नवीनजी मुख्यत: 'प्रणय' के कवि रहे हैं। इत दोनों संग्रहों में उनके प्रणयीमन की प्यास और पीड़ा का अच्छा उद्घाटन हुआ है। प्रेम की संयोग-स्मृति, वियोग-वेदना, मनुहार और प्रतीक्षा आदि वृत्तियों के रूपांकन में उनकी प्रतिभा सहज-सरस भाव से द्रवित हुई है। इसी वर्ग में कुछ उस कोटि की रचनाएँ भी हैं जिनके आधार पर डॉ० बच्चनसिंह ने कविवर नवीन को 'हालावाद' (?) का आदिप्रवर्त्तक कहा है। 'साकी' शीर्षक रचना का निम्नलिखित छन्द लीजिए :

"कूज़े-दो-कूज़े में बुझने वाली मेरी प्यास नहीं;
बार-बार 'ला-ला' कहने का समय नहीं अभ्यास नहीं !
ऐसी गहरी, ऐसी लहराती ढलवा दे गुल्लाला !
साक़ी ! अब कैसा विलम्ब ? ढरका दे अंगूरी हाला ।"

'प्रलयंकर' नामक चौथे संग्रह में राष्ट्रीयता एवं सामाजिक क्रान्ति आदि विषयों से सम्बद्ध ५५ ओजपूर्ण रचनाओं का चयन है। स्वर्गीय नवीनजी ने एक ओर तो अपनी त्याग-तपस्या से देश की स्वाधीनता के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान किया और दूसरी ओर अपनी कवि-सुलभ भावुकता एवं विचारशीलता के शुक्ति-स्वाति संयोग से देश के अभ्युत्थान एवं नवनिर्माण के स्वप्न सँजोये। स्वदेश की स्वस्थ परम्पराओं को उन्होंने विरासत के रूप में अंगीकार किया किन्तु उसकी जर्जर रूढ़ियों तथा शोषण एवं अनीतिमूलक परिपाटियों के विरुद्ध उन्होंने पूरे कण्ठ से आवाज़ उठाई। इस विशिष्ट सन्दर्भ में वे 'प्रगतिवाद' के साक्षी-कवि सिद्ध हुए हैं। प्रस्तुत संग्रह-खण्ड की 'नरक-विधान', 'जूठे पत्ते' एवं 'ओ मजदूर किसान उठो' इत्यादि रचनाएँ उनकी प्रगतिशील चिन्ता-धारा का प्रतिफलन हैं। मज़दूर-किसानों को दासता और शोषण के ख़िलाफ़ उद्बुद्ध एवं जागृत करते हुए वे कहते हैं :

"सुलगा दो निज अन्तर्ज्वाला, विकट लपट लम्बी धधके,
होवे भस्म दासता, शोषण, ऐसी यह होली भभके !
हो जाओ तुम मुक्त, कि बिहँसें ये सब तारागण नभ के;
दुर्निवार तुम, सदा मुक्त तुम, करो विजय के गान, उठो;
उठो, उठो ओ नंगो भूखो, ओ मजदूर किसान, उठो ।"

छठा, अन्तिम काव्य-संकलन है 'मृत्युधाम', जिसमें मृत्यु-विषयक उन्नीस

रचनाएँ सँजोई गई हैं। मृत्यु की पीड़ा, रहस्यात्मकता एवं तज्जन्य दार्शनिक चिन्तना इन रचनाओं का उपजीव्य है। आधुनिक काव्य-साहित्य में इस कोटि की रचनाएँ नहीं के बराबर हुई हैं, अतएव इनका मूल्य और महत्त्व द्विगुणित हो उठा है। एक बात और ! कविवर नवीन ने इन रचनाओं में जीवन-विषयक तथाकथित विरक्ति और असारता का उतना नहीं, जितना कि तद्विषयक आसक्ति और रति का दर्शन प्रस्तुत किया है :

"ख़ूब जानता हूँ मृत्यु जीवन की एकता मैं
ख़ूब पहचानता हूँ सम्भ्रम के छल-छन्द,
ख़ूब जानता हूँ माया मोहिनी के हाव-भाव
विभ्रमकरण मानता हूँ सब भव बन्ध,
किन्तु अनजान प्राण अपनों को जाते देख,
बरबस हा-हाकार करते हैं मूढ़ मन्द,
मोह मैं कहूँ ? या इसे मानव-स्वभाव कहूँ ?
मरण-बिछोह से क्यों होता हिय खण्ड-खण्ड ?"

जून, १९६४ ई० में दिल्ली के भारती साहित्य मन्दिर से प्रकाशित 'हिन्दी के आधुनिक कवि : द्विवेदीयुग से नयी कविता तक' नामक अपनी एक आलोचनात्मक पुस्तक में, कविवर नवीन के सम्बन्ध में विचार करते हुए, मैंने उन्हें 'छायावाद' से भिन्न कोटि के कवियों में स्थान दिया है और निवेदन किया है कि उन जैसे स्वच्छन्द प्रकृति वाले कवि को किसी वाद-विवाद के दायरे में नहीं बाँधा जा सकता, कि वे वाद-विमुक्त कवि हैं। 'हम विषपायी जनम के' में संकलित कविताओं के भाषा-शैली-शिल्पगत मूल्यांकन के सिलसिले में मुझे मेरी उक्त स्थापना फिर याद आती है। डॉ० हरिवंशराय 'बच्चन' कविवर 'नवीन' को छायावाद के बीच में स्थान दिलाना चाहते हैं। एतदर्थ, वे 'छायावाद' की परिधि को व्यापक करने की कांक्षा व्यक्त करते हैं (ज्ञानपीठ पत्रिका, जून १९६४, पृ० ३०)। किन्तु मेरी विनम्र धारणा है कि नवीनजी के लिए छायावाद की परिधि तो व्यापक की जा सकती है लेकिन वैसा करने से स्वयं नवीनजी का व्यक्तित्व संकुचित हो जायेगा। वे रीतिकलीन कौशल और शृंगार के कवि हैं। वे द्विवेदीयुगीन अभिधा और इतिवृत्तात्मकता के कवि हैं। छायावाद की रोमानियत और अलंकृति उनमें पूरी मात्रा में हैं। प्रगतिवादी विचारणा, आक्रोश और परदुख कातरता का उनके यहाँ अभाव नहीं है। विभिन्न प्रकार की काव्य-शैलियों एवं भाषा के अनेक पुराने तथा ग्रामीण रूपों को लेकर उन्होंने प्रयोग भी ख़ूब किये हैं। भाषा, छन्द और अलंकारादिक काव्य के बाह्य उपकरणों की उन्होंने कभी परवाह नहीं की। रचनागत ये उपादान तो उनकी बाँकी भाव-भंगिमा उनके प्राणों की ऊर्जा के अनुगत रहे। अतएव, उन्हें मन की मौज और मस्ती का कवि कहना अधिक न्यायसंगत प्रतीत होता है :

"हमरे साजन की अजब अदा, भोला-भाला जग क्या जाने ?
हमरे साजन हैं अलबेले, हमरे साजन हैं मस्ताने !"

स्वाधीनता के उपरान्त, हिन्दी में कविता के अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। 'हरी घास पर क्षण भर' (१९४९ ई०), 'धूप के धान' (१९५५ ई०), 'अन्धायुग' (१९५५ ई०), 'उर्वशी' (१९६१ ई०), 'लोकायतन' (१९६४ ई०) इत्यादि कृतियों का अपना अलग-अलग मूल्य और महत्त्व है। किन्तु, 'हम विषपायी जनम के' नामक प्रस्तुत-संग्रह की महिमा कुछ न्यारी है। स्वर्गीय नवीनजी के व्यक्तित्व और कृतित्व की मूल्यवान धरोहर के रूप में समस्त हिन्दी-संसार इसका समादर करेगा।

डॉ० बेचन

अज्ञेय के दो काव्य-संग्रह 'हरी घास पर क्षण भर' और 'अरी ओ करुणा प्रभामय'

अज्ञेय के दो काव्य-संग्रहों 'हरी घास पर क्षण भर' और 'अरी ओ करुणा प्रभामय' के बीच एक दशक का अन्तराल है। इस एक दशक की हिन्दी कविता की प्रगति को शायद दोनों काव्य-संग्रहों को दो सीमारेखा मान लेने पर समझने में आसानी हो सकती है। गत एक दशक अर्थात् १९४९ और १९५९ (जो क्रमशः दोनों काव्य संग्रहों का प्रकाशन काल है) के बीच जो युग बीता उसमें दो प्रकार की कविताएँ लिखी जाती रहीं। एक वर्ग पूर्णतः आधुनिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रयोग करता हुआ मात्र कलात्मक रचना की करुण अभिव्यक्ति पर जोर देता रहा है, किन्तु दूसरा वर्ग सदैव अचेतन व्यक्तित्व की जनतान्त्रिक मानसिक चेतना को उभारने में आस्था रखता रहा है, जिसका निकटतम सम्बन्ध समाजवादी यथार्थवाद (Socialistic Rialism) से है।

इस दशक का साहित्यिक इतिहास गणतन्त्रोत्तर हिन्दी कविता का इतिहास माना जाएगा, क्योंकि १९४७ ई० में आजादी मिलने के बाद भी कई एक महत्त्वपूर्ण छोटे-बड़े परिवर्तन भारतीय जीवन में हुए। हमारे आर्थिक और सामाजिक मानमूल्यों में भी परिवर्तन आए, जिसका प्रभाव साहित्यिक चिन्ता पर भी पड़े बिना नहीं रह सकता है। यह बात दूसरी है कि राष्ट्रीयता की चेतना का स्पर्श एवं गणतन्त्र की स्थापना के बाद भी गहरी राष्ट्रीय-भावना का परिचय अज्ञेय की कविताओं में परिलक्षित नहीं होता। फलतः काव्य के वे मानदण्ड, जो अज्ञेय के काव्य में स्वतन्त्रता के पूर्व दिखाई पड़े वे इस काल में भी मौजूद रहे और अज्ञेय के परवर्ती कवियों ने, जिन पर अज्ञेय का गहरा प्रभाव है, उनके इस जीवनदर्शन और काव्यशिल्प का भी काफ़ी अनुकरण किया। यह बात दूसरी है कि इन कवियों ने अज्ञेय के इस अनुकरण को अस्वीकारने के लिए 'नयी कविता' का नारा लगाया और अज्ञेय के 'प्रयोगवाद' से

अपने को भिन्न मनवाने का प्रयास किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अज्ञेय को भी इन नये कवियों के नयेपन का नारा अच्छा नहीं लगा था, और उन्होंने बड़ा मीठा व्यंग्य (पालिश्ड सेटायर) 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में संग्रहीत तीन कविताओं (नया कवि : आत्म स्वीकार, नये कवि से, नया कवि : आत्मोपदेश) में किया था—

"आ, तू आ,
हाँ, आ,
मेरे पैरों की छाप-छाप पर रखता पैर,
मिटाता उसे,
मुझे मुंह भर-भर गाली देता
ठोकर मार मिटाता अनगढ़
(और अवांछित रखे गए !) इन
मर्यादा-चिह्नों को
आ तू आ।"[1]

संकलन में आने के पूर्व इन कविताओं का प्रकाशन 'कल्पना' मासिक-पत्र में क्रमशः उत्तर-प्रत्युत्तर के क्रम में हुआ था। कई नये कवियों ने अज्ञेय को उत्तर देने की धृष्टता भी की थी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी-जगत् ने इन नये कवियों के इस उत्तर को बड़ा हास्यास्पद समझा था। अज्ञेय ने नये कवियों को बड़े मार्मिक शब्दों में सम्बोधित किया था, जिसे शायद इन नयों ने अज्ञेय का अहं माना था। अज्ञेय की कविताओं में प्रत्येक कवि की तरह अहं है, किन्तु अज्ञेय ने उसका सर्वाधिक संस्कार किया है और सही अर्थ में टी० एस० इलियट की इस वाणी को सार्थक किया है कि "कविता भावों का उन्मोचन नहीं है, वल्कि भावों से मुक्ति है : वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं, बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है।"[2]

नये कवियों पर सर्वाधिक प्रभाव एकमात्र अज्ञेय का रहा है। प्रथम तार सप्तक के कवि अथवा उसके परवर्ती एवं समकालीन कुछ और अन्य कवियों को छोड़कर शेष सभी नयी कविताओं के तरुण कवियों की रचनाएँ अज्ञेय के विषय और शिल्प का चर्चित-वर्णन है। चाहे वह जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, राजेन्द्र किशोर, लक्ष्मीकान्त वर्मा, कुँवर नारायण, दुष्यन्त कुमार, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, श्रीकान्त वर्मा, विजयदेव नारायण साही, अजित कुमार, शान्ता सिन्हा, वचनदेव कुमार, श्यामसुन्दर घोष, रणवीर सिन्हा, नर्मदेश्वर प्रसाद आदि की रचनाएँ ही क्यों न हों।

अज्ञेय का व्यक्तित्व मूलतः कवि व्यक्तित्व है। उनका कवि उनके गद्य पर हावी रहा है, इसीलिए उनका गद्य बड़ा मोहक लगता है। शेखर : 'एक जीवनी', 'नदी के द्वीप', 'अपने-अपने अजनबी', 'अरे यायावर रहेगा याद', 'एक बूंद सहसा उछली', 'आत्मनेपद', 'बावरा अहेरी', 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये', 'आँगन के पार द्वार' आदि पुस्तकों के नामकरण उसी काव्यात्मक भावुकता का परिचय देते हैं। यदि ऐसा गुण

१. अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० २७।
२. त्रिशंकु पृ० ३६।

उनमें नहीं होता तो अज्ञेय को अपने साहित्य के मोहजाल में पाठकों को फँसा रखने की शक्ति नहीं आ पाती। यही कारण है कि उनके पात्र रवीन्द्र नाथ, डी० एच० लारेंस आदि की कविताओं को समय-असमय उद्धृत करते हुए थकते नहीं। जैनेन्द्र की रचनाओं में भी कवित्वशक्ति का यही इन्द्रजाल है, जिससे वे इतनी प्रसिद्धि के अधिकारी बने। इसके समर्थन में अभी कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित जैनेन्द्र के एक काव्य-संग्रह का उल्लेख भी किया जा सकता है। इसी सन्दर्भ में भगवतीचरण वर्मा ने अपने प्रथम उपन्यास 'चित्रलेखा' की प्रसिद्धि का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि मैं पुनः चित्रलेखा की टक्कर का कोई उपन्यास इसलिए नहीं लिख सका कि उसमें उपन्यास और काव्यत्व का मिश्रण है। It is a quear combination of poetry and fiction and I think it is this that has given the novel immense prestige. With advancing years and the accumulation of experience, the novelist in me has made the poct recede. Today I am unable to inject the poetic strain into my fictional works, and this is why I can not write another "Chitralekha".[1] ठीक यही बात अज्ञेय के पूरे साहित्य पर घटित होती है।

हिन्दी में सबसे पहले लोगों ने शेखर की रचना के बाद ही अज्ञेय को स्वीकारा। निश्चय ही इसमें उनके कवि व्यक्तित्व का ज़्यादा हाथ है। छायावादोत्तर कवियों की रोमांटिक बौद्धिकता (बौद्धिक रोमांस) के प्रतिनिधि कवियों में अज्ञेय का नाम अग्रणी है। अज्ञेय ने हिन्दी कविता के क्षेत्र में सर्वाधिक पाश्चात्य प्रभाव को लेकर प्रवेश किया। डॉ० रामविलास शर्मा ने अज्ञेय को डी० एच० लारेंस, आन्द्रेजीद और टी० एस० इलियट का समाहार माना है।[2] स्वर्गीय नलिन विलोचन शर्मा अज्ञेय पर फ्रायड, लारेंस, कोनराड, हेवलाक एलिस, क्राफ्ट एबिंग आदि का प्रभाव मानते थे। 'अरी ओ करुणा प्रभामय' की भूमिका में कवि ने इन आलोचकों को लक्ष्यकर लिखा है—"हिन्दी के प्राध्यापन-रत आलोचक ऐसा कहते आये हैं और अब स्वयं लेखक की स्वीकारोक्ति का प्रमाण भी दे सकेंगे।" इसमें तनिक सन्देह की बात नहीं कि इसीलिए अज्ञेय ने भारतीय चिन्ताधारा को छोड़कर अपने साहित्य में प्रभावाभिव्यक्ति प्रस्तुत की है, जो उस समय नया लगा। अज्ञेय इस प्रभाव को स्वीकार भी करते हैं। 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में अज्ञेय जापानी कविताओं से खूब प्रभावित हुए। जापानी कविताओं का अनुवाद करते-करते उन्हें मौलिक कविताओं की प्रेरणा भी मिली है। उनके जीवन-दर्शन पर भी जापान के बौद्ध सम्प्रदाय की विचार और साधना पद्धतियों का प्रभाव पड़ा है। अज्ञेय ने स्वयं लिखा है कि प्रस्तुत संग्रह में अनुवादों को छोड़कर अन्य अनेक कविताओं में भी पूर्व के (और पश्चिम के भी क्यों नहीं हैं) प्रभाव मिलेंगे।" इसीलिए उनका काव्य तत्कालीन नवयुवक कवियों को बड़ा प्रभावोत्पादक और आकर्षण लगा। विशेषरूप से उन वर्गों के कवियों को अज्ञेय की करुणा, दुःख,

---

1. Illustrated Weekly of India, Oct. 18, 1964.
२. हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव, पृ० २७६।

वेदना और बौद्धिकता ने प्रभावित किया, जो पूर्णतः पश्चिम के मनोविज्ञान का आधार लेकर मात्र कलात्मक रचना की करुण अभिव्यक्ति पर ज़ोर देते हैं।

अज्ञेयवादी नये कवियों को अज्ञेय की तरह जनवादी युग और जनवाद से भय लगता है। अज्ञेय कहते हैं—

> "और न सहसा चोर कह उठे मन में
> प्रकृतिवाद है स्खलन
> क्योंकि युग जनवादी है।"[1]

इसी प्रकार की अभिव्यक्ति कवि दस साल बाद भी करता है—

> "अच्छी कुंठा-रहित इकाई,
> साँचे-ढले समाज से,
> अच्छा
> अपना ठाठ फकीरी
> मंगनी के सुख साज से।"[2]

कवि मानव-जीवन को प्रवाहमान धारा न मानकर एक द्वीप मानता है, यह 'द्वीप' वैयक्तिक कुण्ठा (व्यक्तिवाद) का प्रतीक है। मानव का ध्येय यह नहीं है—

> "किन्तु हम हैं द्वीप।
> हम धारा नहीं हैं।
> स्थिर समर्पण है हमारा।"[3]

अभिजात्य संस्कार ने अज्ञेय को मानव की सामूहिक शक्ति का घोर विरोधी बना लिया है। "किन्तु आज के समाज में परम्परा और मर्यादाविहीन मजदूर ही क्रान्ति का अग्रदूत बन सकता है। शिष्टवर्ग "भग्नदूत (१९३३ में प्रकाशित अज्ञेय का काव्य-संग्रह) है। इस पृष्ठभूमि में यह आश्चर्य की बात नहीं कि अज्ञेय संस्कृति के अमरीकी व्यापारियों से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं और उनके स्वर-में-स्वर मिलाकर उसे संस्कृति की स्वाधीनता कहते हैं।"[4] इसीलिए अज्ञेय अपने को आदमी नहीं करमकल्ला बना देना चाहते हैं—

> "अल्ला रे अल्ला
> होता न मनुष्य में, होता करमकल्ला।
> रूखे कर्म जीवन से उलझता न पल्ला।
> चाहता न नाम कुछ
> माँगता न दाम कुछ
> करता न काम कुछ, बैठता निठल्ला—
> अल्ला रे अल्ला।" (हरी घास पर क्षण भर, पृ० ४२)

---

१. हरी घास पर क्षण भर, पृ० ६०।
२. अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० १६।
३. हरी घास पर क्षण भर, पृ० ६५।
४. नया हिन्दी साहित्य : एक भूमिका, पृ० २००।

यह अज्ञेय की घोर प्रतिक्रियावादी दृष्टि है, जो मानवीय आस्था को मोथरा बनाती है। आगे जाकर अज्ञेय का पलायनवाद और उभरा है, जिसने आनेवाली पीढ़ी के अधिकांश कवियों की कविताओं को पुंसत्वहीन बना दिया—

आत्मा बोली :
सुनो छोड़ दो यह असमान लड़ाई ?
लड़ना ही क्या है चरित्र ? यश जय है ?
धैर्य पराजय में—यह भी गौरव है !

(हरी घास पर क्षण भर, पृ० ५४)

'हरी घास पर क्षण भर' और 'अरी ओ करुणा प्रभामय' के बीच अज्ञेय के दो काव्य-संग्रह 'बावरा अहेरी' एवं 'इन्द्र धनु रौंदे हुए ये' प्रकाशित हुए। 'अरी ओ करुणा प्रभामय' के बाद भी अज्ञेय का एक काव्य-संग्रह 'आँगन के पार द्वार' ६१ में प्रकाशित हुआ। इन संग्रहों को देखने से बिलकुल स्पष्ट है कि अज्ञेय एक सृजनशील रचनाकार हैं, जिनकी काव्य-रचना कभी बन्द नहीं रही।

'हरी घास पर क्षण भर' में चालीस कविताएँ संग्रहीत हैं। इस पुस्तक का नाम सुनकर हठात् वाल्ट ह्विटमन की काव्य-पुस्तक (Leaves of grass) (घास की पत्तियाँ) का स्मरण हो आना स्वाभाविक बात है। हरी घास पर क्षण भर से लेकर अब तक अज्ञेय के काव्य पर ह्विटमन और लारेंस का गहरा प्रभाव पड़ा है। यह संग्रह अज्ञेय के सम्पूर्ण काव्य साहित्य में एक मोड़ (turning point) के रूप में है। अज्ञेय द्वारा लिखी गई इस पुस्तक की छोटी-सी भूमिका से इन बातों की पुष्टि हो जाती है। इस संग्रह से पूर्व अज्ञेय का 'इत्यलम्' (अन्त) प्रकाशित होता है। लोगों ने अज्ञेय के उस काव्य-संग्रह को उनकी अन्तिम नीरस काव्य-रचना माना—शायद प्रयोगिक काव्य का अन्तिम नीरस प्रतिनिधि काव्य-संग्रह। इन बातों का विरोध करते हुए अज्ञेय कहते हैं, इस संग्रह में "गीतात्मक कविताओं का कथन ही है।"—ह्विटमन ने भी 'लीव्स आफ ग्रास' की भूमिका में यही कहा था—"My poems when complete should be a unity, in the same sense flat......a perfect musical composition is."[1]

ह्विटमन की शिल्पचातुरी का प्रभाव अज्ञेय ने ग्रहण किया अवश्य किन्तु उन्होंने ह्विटमन की तरह कभी अपने को राष्ट्रीय कवि बनाने की कोशिश नहीं। ह्विटमन कवि को केवल कल्पनालोक का स्वप्नद्रष्टा नहीं मानता था, बल्कि वह उन्हें "The arbiter of the diverse, the equaler of his age" मानते थे। ह्विटमन को अपनी धरती, जनता और संस्कृति से प्यार था जिसकी चर्चा बराबर उनकी कविता में आयी है। विषय और काव्यादर्श के क्षेत्र में अज्ञेय ने ठीक इसके विपरीत कार्य किया। फिर भी ह्विटमन की बहुत-सी विशेषताओं का प्रभाव इन पर पड़ा। सेक्स के सम्बन्ध में अज्ञेय ने उन्हीं मान्यताओं की अभिव्यक्ति की, जिसे ह्विटमन ने स्वीकारा

1. Leaves of grass—Walt Whitman ; Eurasia Publishing House Ltd., New Delhi-1.

था। होमोसेक्स की उत्कंठा अज्ञेय के शेखर में भी जाग्रत होती है। और वह शशि के अतिरिक्त 'कुमार' को भी चाहने लगता है। ह्विटमन पर 'होमोसेक्सुएलोटी' का बड़ा गम्भीर आरोप लगा था। सेक्स और प्रेम को जिस प्रकार ह्विटमन ने और लारेंस ने मानव के लिए मुक्त माना उसी तरह अज्ञेय ने भी। उसने यह भी माना कि मानव को किसी सिद्धान्त, स्कूल या वाद से बंधा नहीं रहना चाहिए; मनुष्य को हवा की तरह मुक्त रहकर प्रकृति का आनन्द लेना चाहिए। अज्ञेय "हरी घास पर क्षण भर" में यही plead करते हैं।

आओ बैठें
इसी ढाल की
हरी घास पर
माली चौकीदारों का यह समय नहीं है,
और घास तो
अधुनातन मानव-मन की भावना की तरह
सदा बिछी है—हरी न्योतती
कोई आकर रौंदे।
आओ, बैठो।
तनिक और सटकर, कि हमारे बीच
स्नेह का व्यवधान रहे, बस,
नहीं दरारें सभ्य शिष्ट जीवन की।

इस संग्रह में अज्ञेय की एक ऐसी कविता है, जिसके नाम पर उन्होंने १९५२ में प्रकाशित अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'नदी के द्वीप' का नामकरण किया। इसी संग्रह की 'दूर्वाचल' कविता की अन्तिम पंक्ति 'अरे यायावर रहेगा याद ?' के आधार पर १९५३ में प्रकाशित अज्ञेय के भ्रमण-वृत्तान्त 'अरे यायावर रहेगा याद ?' का नामकरण किया गया।

जिस प्रकार ह्विटमन के प्रभाव से परिपूर्ण 'हरी घास पर क्षण भर' है, उसी प्रकार जापानी साहित्य से प्रभावित 'अरी ओ करुणा प्रभामय' है। सन् १९५० में अज्ञेयजी ने जापान की यात्रा की थी। वहाँ के साहित्य का बड़ा गहरा असर उन पर पड़ा।[1] इस संग्रह में ज्यादातर कविताएँ जापान की 'हाइकू' पद्धति पर हैं। इन कविताओं की व्याख्या के लिए कवि ने तीन रचनाएँ प्रस्तुत की हैं—पहली रचना पुस्तक की भूमिका है और दो रचनाएँ 'आत्मनेपद' में संग्रहीत है, जिनके शीर्षक हैं 'प्रतीक और सत्यान्वेषण' और 'थिर हो गयी पत्ती'। 'थिर हो गयी पत्ती' में 'चिड़िया की कहानी' शीर्षक कविता का उदाहरण देकर 'हाइकू' पद्धति की सार्थकता सिद्ध की गई है। 'प्रतीक और सत्यान्वेषण' में कवि ने संग्रह की रचनाओं के प्रतीकों, विशेष रूप से 'मछली' के प्रतीकों के प्रयोग का विश्लेषण किया है।

पूरे संग्रह में एक सौ ग्यारह कविताएँ संग्रहीत हैं, जिसमें उल्लेख्य हैं नये कवियों

---

१. आत्मनेपद, पृ० ५२

के नाम लिखी गई तीन कविताएँ और 'साम्राज्ञी का नैवेद्य दान'। नये कवियों के नाम लिखी गई कविताओं को हिन्दी कविता का ऐतिहासिक दस्तावेज कहा जा सकता है। 'साम्राज्ञी का नैवेद्य दान' कलात्मकता की दृष्टि से हिन्दी की दस श्रेष्ठ कविताओं के साथ संकलित की जा सकती है। नैवेद्य के रूप में साम्राज्ञी का आत्मसमर्पण जापान की एक ऐतिहासिक घटना पर आधारित होकर भी बड़ी करुण कृति हैं, जिसमें जापान की साम्राज्ञी कोमियो प्राचीन राजधानी नारा के बुद्ध मन्दिर में जाते समय असमंजस में पड़ गई थी कि चढ़ाने को क्या ले जावें और फिर रीते हाथ गयी थीं—

हे महाबुद्ध !
मैं मन्दिर में आयी हूँ,
रीते हाथ :
फूल मैं ला न सकी।
ओरों का संग्रह
तेरे योग्य न होता।

इस संग्रह में जगह-जगह बुद्ध की करुणा और प्रभा के दर्शन हो जाते हैं, भले वह जापानी या जैन प्रभाव ही क्यों न हो।

अज्ञेय के दोनों काव्य-संग्रह हिन्दी कविता के मील स्तम्भ हैं। 'हरी घास पर क्षण भर' जिन दिनों प्रकाशित हुआ हिन्दी में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का संघर्ष तेज किया जा रहा था। अज्ञेय उस समय प्रयोगवाद के पुरोहित माने जा रहे थे और बिहार में उस नकेन का प्रपद्यवाद चल रहा था। अज्ञेय ने अपनी कविताओं के द्वारा anti-rationalism का मसीहा बनना चाहा, जिस anti-rationalism का आन्दोलन विदेश में १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उभरा था। ह्विटमन ने भी अपनी कविताओं में इसका नारा बुलंद किया था। 'हरी घास पर क्षण भर' 'ऐंटी रेशनलिज्म' का पूर्ण परिपाक है। इस 'ऐंटी रेशनलिज्म' का प्रभाव नई हिन्दी के कविता के कवियों पर भी खूब पड़ा है।

डॉ० सियाराम तिवारी

'प्यासा निर्झर'

'प्यासा निर्झर' में कवि का चिन्तन, उसकी अनुभूति और उसका पर्यवेक्षण, सब कुछ है। काव्य-प्रेरणा के जितने उत्स हैं, सबकी विविधरंगी छटा यहाँ पाठक को मुग्ध करती है। कवि का चिन्तन उसे प्रकाश देता है। उसकी अनुभूति से वह भीगता तथा उसके पर्यवेक्षण से चमत्कृत होता है। पिछले संकलनों के विपरीत 'प्यासा निर्झर' में कवि ने अपने और अपनी कविता के विषय में काफी सोचा है। संग्रह के आरम्भ में यदि वह 'कविता शब्द-विलास न हो' (कामना, पृ० ११) की कामना करता है तो

अन्त में 'शब्द न हो आभरण' और 'शब्द बने आचरण' (शब्द-फूल, पृ० २३४) की घोषणा कर पूर्व-व्यक्त कामना की पुष्टि तो करता ही है, कवि के आचरण और कर्म में सामंजस्य का भी सन्देश देता है। स्मरणीय है कि 'भूमिका' में उसने कवि के भाव-विचार और आचरण के बीच बढ़ते हुए व्यवधान की शिकायत की है। 'प्यासा निर्झर' (पृ० १७) शीर्षक कविता में, जिसके आधार पर संग्रह का नामकरण हुआ है, कवि ने बड़े ही दृढ़ स्वर में अपना परिचय दिया है—

चरणचिह्न जिस प्रभा पुरुष के अगम गगन के तारे,
पहुँच नहीं पाता मन जिस तक, नयन ज्ञान के हारे,
मैं उस प्रभु की द्रवित दया का दृग-जल बिन्दु अमर हूँ !

इन पंक्तियों में कवि की आस्तिकता का बोध है। यह परिचय का एक पहलू है। उसी कविता में 'जग की रुदन-बीन पर मुखरित मौन भीड़ का स्वर हूँ' कह-कर वह मूक उत्पीड़ितों की वाणी भी बन जाता है। अन्यत्र उसने कहा भी है कि 'कला उसी की जिसके माथे पर श्रम-सीकर' (मेरी कविता, पृ० १३) और 'वेश्यालय नहीं कला, देवलाय पावन है। सामंती सभा नहीं, जनता का आँगन है' (चलचित्र-विधा, पृ० १३३)। अर्थात् 'मेरे लिए एक आशा है, कृपा ईश की सदा अकारण' (आस-विश्वास, पृ० १३०) कहकर भी न तो कवि रहस्यवादी हो जाता है और न भक्त बल्कि अपने को 'शूलपाणि का शूल' बताकर इस बात का संकेत देना चाहता है कि वह नव निर्माण के लिए ध्वंस भी करने को प्रस्तुत है। तात्पर्य यह है कि वह ईश्वर का भरोसा नहीं छोड़ता तो इस कारण निष्क्रिय भी नहीं हो जाता। इस तरह कवि की आस्तिकता अन्धविश्वास का रूप नहीं लेती, वह बुद्धिसंगत विश्वास का रूप धारण कर उसे प्रेरणा देती है।

'ज्यों ही खिड़की खोली' (पृ० ४१) में कवि ने अपनी मनोभूमि के तीसरे पहलू को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। प्रथम में उसने कहा है कि 'मन की चित्तर-सारी' से वह निकल आया है तो दूसरे में वह कहता है कि 'अब लहरने हहरने की गयी वेला। बहुत दिन मैं प्राण-मन खेल खेला !' इन पंक्तियों से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह कि कवि आत्मकेन्द्रित व्यक्तिवादी न रहा और दूसरी यह है कि अब वह बौद्धिकता की भूमि पर खड़ा है। 'मिट्टी और फूल' काव्य-संग्रह के 'निवेदन' में उसने कहा था कि 'मैं मन की दुर्बलताओं का कवि हूँ' कदाचित् इसीलिए 'प्यासा निर्झर' में बुद्धि के आग्रह की घोषणा करनी पड़ी है।

कवि अपने से परे जब ध्यान ले जाता है तो वह संसार, भाग्य और मनुष्य के विषय में सोचता है। इनमें भी संसार की असारता का वर्णन करने वाली कविताएँ अधिक हैं। संसार को नाटक बताकर, संसार में सबको एकाकी समझकर, यह बताकर कि इस संसार से फिर वहाँ चले जाते हैं जहाँ से लौटते नहीं तथा यह कहकर कि समय के सिवा अन्य सभी के खेल खत्म हो जाते हैं, कवि चर्वित चर्वण ही करता है। भाग्य, माया आदि से सम्बन्धित कविताएँ भी इसी प्रकार की हैं। भाग्यवाद पर विचार करते हुए कवि ने एक नयी बात कही है। संसार में कोई ऐसा कार्य नहीं है जिसका

सारा श्रय एक ही प्राणी या एक ही वस्तु को हो । अनेक जीवों और अनेक वस्तुओं के सहयोग से कोई एक कार्य सम्पन्न होता है । किन्तु भाग्यवाद के कारण यह सामूहिक कर्म टुकड़ों में विभाजित हो गया—'कर्म सामूहिक' हुआ, शतखंड बनकर भाग्यवाद' (विवाद, पृष्ठ २७) । कवि पौरुष का उद्घोष करता है, पर अन्त में भाग्य के सामने झुक जाता है ।

अहंकार यदि न हो अहंकारी के मन का मान,
द्वन्द्व-युद्ध या द्वन्द्व-प्रणय का हो कैसे गुण गान ?

—लौह कर्म, पृ० ३८

लिखनेवाला कवि यह भी लिख जाता है—

बुझकर जल उठने तक रहता अहंकार का साथ,
किन्तु पुनः तपना कुटना-पिटना विधना के हाथ । —उपरिवत्

यही कारण है कि पौरुष के ज्वलनशील कवि के रूप में नरेन्द्र शर्मा का व्यक्तित्व नहीं उभरता । यह भाग्यवादिता 'प्रवासी के गीत' से ही चली आ रही है । आश्चर्य यह है कि बुद्धिवाद का आग्रह दिखाकर भी कवि भाग्यवाद का पल्ला नहीं छोड़ता !

इन चिंतनपरक कविताओं को भी कवि ने शुष्क नहीं होने दिया है । इसके लिए उसने कल्पित कथा का आश्रय लिया है और किसी पात्र के द्वारा अपना निष्कर्ष कहला दिया है । इससे ये कविताएँ बौद्धिकता से बहुत-कुछ बच सकी हैं । 'विवाद' शीर्षक कविता इसका अच्छा उदाहरण है ।

चिन्तन के साथ-साथ कवि का अनुभूति-पक्ष भी पुष्ट है । 'प्यासा निर्झर' में इसके तीन आयाम हैं—आध्यात्मिक, युगीन और राष्ट्रीय । पीछे हम देख चुके हैं कि कवि ने अपनी काव्य-चेतना के मूल में ईश्वरीय प्रेरणा को स्वीकार किया है । 'भूमिका' में उसने कहा भी है—"इस प्रकार कविता अविभक्त, अद्वैत और परिपूर्ण का प्रसाद है, जिसे विभक्त, द्वैत-दग्ध और अपूर्ण व्यक्ति सदा सिरमाथे लेता है ।" सामान्य रूप से सभी कवियों के लिए यह बात सही है या नहीं, यह विवाद का प्रश्न हो सकता है, पर इस कथन को कवि की कविताओं के लिए लागू कर देखना अनुचित नहीं होगा । कवि की आध्यात्मिक अनुभूति विश्वास का रूप नहीं ले सकी है, वह स्फुरण की अवस्था में ही है । 'कैसे कह दूँ, वह नहीं, जिसे मैंने न कभी देखा, न छुआ ?' (सीधी रेखा, पृ० १३७) से जहाँ यह स्पष्ट होता है कि वह अभी शंका की स्थिति को पार नहीं कर सका है वहाँ जब उसे 'देखा मैंने न भवेश, किन्तु उसके बिन सम्भव कैसे ?' (उपरिवत्) कहते हुए पाते हैं तो लगता है कि वह तर्क से अपने को संतोष दे रहा है । इस प्रसंग में 'युगल किशोर' (पृ० ४५) कविता ध्यातव्य है जहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की अनुभूति ने विश्वास का रूप ग्रहण कर लिया है—

केन्द्र-परिधि-सम्बन्ध हमारा अन्तरंग-बहिरंग यथा;
आदि-अन्त वह, मैं तो केवल मध्य भाग की खंडकथा !

....

नहीं, नहीं; निरपेक्ष नित्य वह निर्विकल्प परिपूर्ण स्वयम् !

इन पंक्तियों में विश्वास की दृढ़ता भी झलक रही है।

विश्वास की यह दृढ़ता इसलिए प्राप्त हो सकी है कि कवि माया के जाल को अनुभव करने लगा है। साथ ही, माया के चक्र से मुक्त होने की आकुलता भी वह प्रकट करता है—'मैं माया के आवर्तन पर कब तक भटकूं, मन ?' (मन, पृ० २६।) अतः वह मिट्टी की माया त्यागकर अंश को अंशी से मिलने के लिए उत्साहित करता है—

> उड़ चल अब दूर कहीं, हंसावर प्राणों के !
> ....
> धरती का सदय हृदय अंतरिक्ष-वासी है,
> जिसका तू अंश, धरा उसकी ही दासी है !
> मिट्टी की माया तज, मायावर प्राणों के !
>
> —हंसावर प्राणों के, पृ० २१

पर मिट्टी की माया को त्यागने वाला कवि धरती से उदासीन नहीं है। वह पूछता है—'आयेंगे आकाश पुरुष कब मिट्टी का तन धारे ?' (आकाश पुरुष, पृ० ३१)। इसीलिए एक ओर यदि उसमें अध्यात्म-बोध है तो दूसरी ओर युग-बोध भी है। युग-बोध की कविताएँ 'प्यासा निर्झर' में किसी एक प्रसंग की कविताओं से बहुत कम नहीं हैं। कवि कभी तो आधुनिक वैज्ञानिक युग से पहले की बात याद करता है जब मनुष्य का जीवन ही सर्वप्रमुख था (मन मारे जीना, पृ० ८७) तो कभी इस वैज्ञानिक युग की आध्यात्मिक व्याख्या करता है (दिवानापन, पृ० ३४)। विज्ञान की देनों का जनसाधरण के भी जीवन में जो प्रवेश हो रहा है तथा उसके फलस्वरूप प्रकृति का रहस्य मनुष्य के लिए खुलता जा रहा है, उसके दृष्टिकोणों में परिवर्तन होता जा रहा है, उसका एक बड़ा साफ चित्र 'युग बदला' (पृ० ११) में आया है—

> खलिहान खेत में खड़ा हुआ वह नया कृषक,
> बिजली का खंभा गाढ़ रहा जो बिना हिचक !
> अभिमंत्रित मन्त्रशक्ति से अब तू भी न झिझक,
> विद्युत् के अश्वारोही का कर अभिनंदन !

किन्तु इसी कविता में जब कवि कहता है 'श्रम रंक नहीं रह गया, न अब विज्ञान राव' तो इस पर प्रतीति नहीं होती। विज्ञान ने तो वस्तुतः श्रम की प्रतिष्ठा छीन ली है। 'पत्थर की दीवारों से' (पृ० ७४) में कवि ने बहुत ही ठीक कहा है—

> जो न हिलाते हाथ, उन्हीं के
> हाथ लगी जीवन-पूँजी !
> टक्कर खाते हैं मेहनतकश,
> शक्कर खाते हैं मूजी !

इसलए 'पत्थर की दीवारों से' और 'विना आकाश के' (पृ० १५९) में कवि ने यंत्रमय नगर-जीवन से पलायन की कामना की है।

कवि की अनुभूति का तीसरा पक्ष राष्ट्र से सम्बन्ध रखता है और यह बहुत

ही पुष्ट है । कवि की राष्ट्रीय चेतना अत्यन्त तीव्र है और उसने स्वातन्त्र्योत्तर भारत को बहुत ठीक-ठीक पहचाना है । स्वतन्त्रता-संग्राम में जिन कवियों ने अपनी कविताओं की आहुति दी थी, उनमें से सबको (जिनकी राष्ट्रीयता की पूँजी चुक नहीं गयी !) स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद निराशा होने लगी । 'आओ, हथकड़ियाँ तड़का दूँ, जागो रे नतशिर बंदी' (प्रभात फेरी) के गायक कवि को भी स्वाभाविक निराशा हुई है । सर्व-प्रथम तो उसे देश के विभाजन से ही पीड़ा हुई (बनो निर्दय, पृ० ११०) । फिर, जब वह खण्डित भारत पर दृष्टि डालता है, तो वहाँ भी उसे घोर निराशा ही हाथ लगती है, क्योंकि 'अँगरेज देश से गये, देश से गया नहीं अँगरेजीपन' और 'शासक-शासित, पोषित-शोषित का लगा हुआ अब भी ताँता' (भारत-जन के प्रति, पृ० १५३) । देश से अँगरेजीपन कैसे जाए, शासक-शासित का भेद कैसे मिटे, शोषण कैसे समाप्त हो ? भारत के नेता तो अभिनेता बने हुए हैं—

जन-मन का सच्चा मित्र आज, कहलाता है अव्यवहारी;
थी जिनकी कलम किराये की, वह बने हुए हैं अधिकारी;

× × ×

दो मेरे सेवक को वेतन, दो मुझको अपना तन-मन-धन !
दो धन्यवाद हम दोनों को, इसलिए कि तुम अबतक निर्धन,
धनिकों का वर्ग बहुत छोटा, तुम छोटे बनने से बचना !

× × ×

है मेरा कितना बड़ा त्याग, सोचो कि त्याग भी त्याग दिया !
जनरंजक राजा बनकर ही त्यागी क्या राघव ने न सिया ?
जनरंजन के हित नेता को अभिनेता आज पड़ा बनना !

नेता-अभिनेता, पृ० १५५

इस कविता में कवि ने भारत के राजनीतिक नेताओं का बड़ा यथार्थ चित्र खींचा है ।

किन्तु भारत की दुर्दशा की ऐसी तीव्र अनुभूति रखनेवाला कवि जिसने 'प्रभात फेरी' में एक बार हुंकारा था 'अविनाशी की आशा मिथ्या, स्वयं समर्थ बनो, बन्दी', आज देश की अखण्डता के लिए दयामय से प्रार्थना करने लगा (बनो निर्दय, पृ० ११०) और भारत की दुःख-निशा के एक-न-एक दिन बीत जाने की अकर्मण्यतापूर्ण आशा लगाकर बैठ गया । (निराशा और आशा, पृ० २१५)

चीन के आक्रमण से कवि स्वभावतया ही विचलित हुआ है । 'गहरे घाव' (पृ० २२२) उसकी गहरी प्रतिक्रिया का उदाहरण है । 'बनें हम गांधी से चाणक्य' (गहरे घाव) --कवि का यह सन्देश प्रेरणा देता है और—

माता का यह लाल शत्रु का काल बनेगा·
सीमाओं की ढाल, अचल दिग्पाल बनेगा;
बदला लेगा रिपु से अपमानित भारत का,
शुभ्र हिमालय फिर भारत का भाल बनेगा !

—माता और शिशु, पृ० २३१

—कवि की इस घोषणा से बड़ा बल मिलता है।

प्रकृति-कविताओं में 'प्यासा निर्झर' का कवि छायावाद से आगे नहीं आ सका। प्रकृति में चेतन सत्ता की अनुभूति (कौन वह किशोरी, पृ० १८५), उसे मन के भावों से रंजित करके देखने की प्रवृत्ति (चाँद, पृ० ८१), उद्दीपन के रूप में उसका उपयोग (पल्लव-दल सुकुमार, पृ० १८२), उसके साथ सम्बन्ध-स्थापन (मेघ, पृ० १४७) और अन्त में, उसकी शरण में जाने की कामना (ज़ंगल, पृ० १२५), ये सब छायावादी प्रभाव के द्योतक हैं।

'प्रवासी के गीत' में भी कवि ने प्राकृतिक रहस्यवाद का समारम्भ किया था (द्रष्टव्य, अठारहवाँ गीत), किन्तु उस समय कवि ऐहिक प्रेम में इतना विभोर था कि उसका निर्वाह नहीं कर पाया और ऐहिक सौन्दर्य की तीव्र अनुभूति में वह खो गया। 'प्यासा निर्झर' में, जब वह ऐहिक प्रेम-जाल से मुक्त हो चुका है, उसकी प्रकृति-सौन्दर्य की रहस्यात्मक अनुभूति अकुण्ठित रह पायी—

परिक्रमा कर रहा किसी की
मन बन चाँद और सूरज;
सिंधु किसी का हृदय-दोल है,
देह किसी की है भू-रज !
मन को खेल खिलाता कोई
निशि-दिन छाया-छल में !

—साँझ, पृ० १२६

'प्यासा निर्झर' में 'प्रवासी के गीत' का कवि अनुपस्थित नहीं है। आरम्भ में नरेन्द्र शर्मा प्रेम के गीतकार रहे हैं, अतएव 'प्यासा निर्झर' में भी कतिपय प्रेम-गीत दीख जाते हैं। पर 'प्यासा निर्झर' के प्रेम-गीतों में भावुकता और आवेश के स्थान पर बौद्धिकता और संयम है। 'आज लजाओ मत सुकुमारी' (प्रभात फेरी) गानेवाला कवि 'अब भी व्यर्थ है यह लाज सुरभित श्वासवाली' (मुद्रित दृग तुम्हारे, पृ० १८७) गाता है किन्तु दोनों के स्वर में जो सूक्ष्म अन्तर है, वह निस्सन्देह कवि की मानसिक स्थिति के परिवर्तन की सूचना देता है।

कवि ने पौराणिक-ऐतिहासिक आख्यानों को भी अपनी कविताओं का उपजीव्य बनाया है। उसने उन कथाओं से अपने विचारों की अभिव्यक्ति का काम लिया है। कवि की विशेषता इस बात में है कि उसने विचारों को प्रधान नहीं होने दिया है, प्रधान कथा ही है। ऐसे प्रयास में प्रायः देखा जाता है कि पौराणिक कथा का कोमल तन्तु विचारों के प्रस्तर-भार से टूट जाता है। 'प्यासा निर्झर' के कवि ने इस दुर्बलता से सदा अपने को बचाये रखा है। कवि ने पौराणिक चरित्रों और कथाओं का अपनी अभिव्यंजना-शैली में भी प्रचुर उपयोग किया है—

नारायण नित रहें सारथी नर के कर में रास न हो—कामना, पृ० १०

× × ×

पलक पोंछने को लालायित आँचल है कृष्ण का—प्यासा निर्झर, पृ० १७

प्राणों का अभिमन्यु घिर गया, था प्रवेश का ज्ञान निपट !
यह काया ही चक्रव्यूह, आया प्राणों का अन्त निकट !

—पंख मोम के, पृ० १२७

आदि । इस विधान से एक लाभ यह भी हुआ है कि सांस्कृतिक वातावरण घनीभूत हो गया है ।

'प्यासा निर्झर' की 'भूमिका' में कवि ने कहा है—"पाठक और कवि, कवि के भाव-विचार और आचरण, जीवन और काव्य के बीच बढ़ते हुए व्यवधान की वर्तमान अवस्था में व्यवस्था की बड़ी आवश्यकता है ।" सचमुच ही आज साहित्य में ये तीन खाइयाँ हैं । यदि तीसरी खाई मिट जाए—जीवन और काव्य के बीच की दूरी न रहे तो पहली खाई स्वतः मिट जाती है—पाठक और कवि के बीच का व्यवधान समाप्त हो जाता है । और, दूसरी खाई मिट जाती है—कवि के भाव-विचार और आचरण में ऐक्य हो जाता है—तो महान् कवि उत्पन्न होते हैं । 'प्यासा निर्झर' के पाठकों को इस बात में कोई सन्देह न रहेगा कि यहाँ जीवन और काव्य के बीच की खाई पट गई है । प्रस्तुत संग्रह की एक सौ चौंतीस कविताएँ विगत दस वर्षों में लिखी गई हैं । इस अवधि में भारत और किंचित् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी जो उथल-पुथल हुई है, उसकी धड़कन यहाँ सुनी जाती है ।

यदि विश्व में जन-बल के जागरण पर उसका ध्यान गया है (श्रमिक, पृ० १४९) तो स्वातंत्र्योत्तर भारत की गतिविधि (राष्ट्रीय प्रसंग में इसका विवेचन किया जा चुका है) का भी निरीक्षण किया है । निराला की मृत्यु पर उसने आँसू बहाया है (दिवंगत निराला के प्रति, पृ० १७१)तो विनोबा का अभिनन्दन किया है(विनोबा, पृ० १७४) और चीन के नृशंस आक्रमण पर भी आक्रोश प्रकट किया है ।

निष्कर्षतः 'प्यासा निर्झर' का कवि न तो बिलकुल आत्मनिष्ठ व्यक्तिवादी है और न पूर्णतः बहिर्निष्ठ वैतालिक । इसीलिए वह भावुक है, चिन्तक है, परिवेश के प्रति जागरूक और प्रबल सामाजिक चेतना का कवि है । वह वाद-विशेष के घेरे से निकलकर कविता की प्रकृत भूमि पर खड़ा है । कवि की पिछली रचनाओं के सिंहावलोकन से एक तथ्य पर ध्यान जाता है । 'प्यासा निर्झर' में 'शूल-फूल' (सन् १९३४) से लेकर 'द्रौपदी' (सन् १९६०) तक की तमाम प्रवृत्तियों का समाहार हो गया है; ऐसी स्थिति तब आती है जब कवि अपने विकास के चरमोत्कर्ष से उतरने लगता है । इस तरह 'प्यासा निर्झर' नरेन्द्र के कवि-जीवन का चतुर्थाश्रम है ।

इस निष्कर्ष के बाद लौटकर 'प्यासा निर्झर' की भाषा पर दो शब्द कह देना अनुचित नहीं होगा । इस संग्रह की भाषा में भावनामयी साधारणता न होकर चिन्तनमयी परिनिष्ठितता है । कविता की प्रवृत्ति में बौद्धिकता के प्रश्रय का प्रभाव भाषा पर स्पष्ट रूप से पड़ा है—'प्रवासी के गीत' वाली तरलता के स्थान पर भाषा का वह ठोस रूप दिखाई देता है, जो गद्य में ही शोभनीय है । ऐसा होने पर भी भाषा की प्रशंसनीय सफाई यहाँ द्रष्टव्य है । कवि की इस तेरहवीं कृति में वर्तनी की विकृतियाँ खटकती हैं, यद्यपि 'भूमिका' में उसने इसका उल्लेख कर संकोच को छिपाने का प्रयास किया है ।

डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव

अंधा-युग

धर्मवीर भारती का यह काव्य-नाटक आज से दस वर्ष पूर्व लिखा गया था—तब से उसका मूल्यांकन कई दृष्टियों से किया गया। मूल्यांकनकर्त्ताओं ने मुख्यत: कृति के माध्यम से युद्ध-सभ्यता के साथ उत्पन्न होने वाली संक्रमण-स्थिति एवं विसंगति की आधुनिक प्रतीकात्मकता की जाँच की और फिर उसकी काव्यात्मक विशेषताओं या रंगमंचीय विशेषताओं को पहचानने का प्रयत्न किया। किसी ने उसमें 'अच्छी कविता' खोजने की कोशिश की और किसी ने उसमें 'अच्छा नाटक'। निराशा जब-तब दोनों को ही हुई। कठिनाई यह है कि बहुत कुछ सम्पूर्ण काव्य-कृति के रूप में भारती ने इसकी रचना की है। इसमें वे प्रश्न उठाए गए हैं जो आधुनिक जीवन की विसंगतियों को एक विराट ऐतिहासिक सन्दर्भ में उद्घाटित करते हैं और इसके रूपात्मक गठन में नाटकीयता का सम्यक् निर्वाह करने की कोशिश भी की गई है। इसकी कथा महाभारत के उत्तरार्द्ध की है और निरी ऐतिहासिकता तक इसकी प्रतीकात्मक व्याप्ति सीमित नहीं है। भारती आधुनिक संवेदनाओं के कवि हैं अत: उन्होंने समकालीन मूल्यगत संघर्ष-संक्रमण पर पुराण-कथा का आरोप मात्र करके छुट्टी लेने की चेष्टा नहीं की है। उन्होंने अपनी सृजन-प्रक्रिया में युद्ध सभ्यता के समस्त संघातों (मानवीय वृत्तियों, स्थितियों, मर्यादाओं के आपसी द्वन्द्वों) को स्वत: झेलने या भोगने की कोशिश भी की है। इसीलिए उनकी प्रस्तावना को रूमानी कवि का भावावेश कहकर टालना कठिन है—"पर एक नशा होता है—अन्धकार के गरजते महासागर की चुनौती स्वीकार करने का, पर्वताकार लहरों से खाली हाथ जूझने का, अनमापी गहराइयों में उतरते जाने का, और फिर अपने को सारे खतरों में डालकर आस्था के, प्रकाश के, सत्य के, मर्यादा के कुछ कारणों को बटोरकर, बचाकर, धरातल तक ले आने का—इस नशे में इतनी गहरी वेदना और इतना तीखा सुख घुला-मिला रहता है कि उसके आस्वादन के लिए मन बेबस हो उठता है! उसी की उपलब्धि के लिए यह कृति लिखी गई।"

रवीन्द्रनाथ ने धृतराष्ट्र-गांधारी-संवाद में धृतराष्ट्र को मोहान्ध बताया था। भारती ने एक युग को ही 'अन्धायुग' बताया है। अन्धायुग कवि के सामने एक जीवन-संकट के रूप में आता है पर सब मिलाकर वह एक अन्तराल है—स्थितियों, मनोवृत्तियों, आत्माओं की विकृति से जर्जर एक अन्तराल। कोई बहुत पतली मर्यादा की डोरी (और वह भी दोनों पक्षों में उलझी) भविष्य को बचाने के लिए कृतसंकल्प है। कृति की 'स्थापना' के रूप में पहले उद्धृत पंक्तियाँ साभिप्राय हैं। इनमें कवि की उस स्थापना की प्रतिध्वनि है जिसे लक्ष्यकर उसने उसी सन्दर्भ में आगे लिखा है—"एक स्थल पर आकर मन का डर छूट गया था। कुण्ठा, निराशा, रक्तपात, प्रतिशोध, विकृति, कुरूपता, अन्धापन, इनसे हिचकिचाना क्या! इन्हीं में तो सत्य के दुर्लभ कण

छिपे हुए हैं तो इनमें क्यों न निडर धसूँ !" भारतीय मूलतः रूमानी संस्कारों के कवि हैं पर उनका यह काव्य-प्रयोग एक भिन्न दिशा में है। इसीलिए उनके लिए यह एक अभिशप्त भूमि है, पर हमारे युग की चुनौती है कि हम उसे झेलें; उसका साक्षात्कार करें।

'अंधा-युग' पाँच अंकों का काव्य नाटक है जिसकी कथा कौरवों की अंतिम पराजय-संध्या से प्रारम्भ होकर कृष्ण की मृत्यु और उसके बाद अंधा-युग की परिकल्पना में समाप्त होती है। नाटक में तीन अंकों के बाद एक अन्तराल है। अंकों के शीर्षक घटनासूचक होते हुए भी गहरी प्रतीकात्मकता से संपृक्त हैं, कौरव नगरी, पशु का उदय, अश्वत्थामा का अर्द्धसत्य, पंख पहिए और पट्टियाँ, विजय : एक क्रमिक आत्महत्या तथा प्रभु का अवसान। लेखक के ही शब्दों में "ये छः शीर्षक कथा विकास तथा मानवीय मर्यादा की सापेक्ष स्थिति को सूचित करते हैं।"[1] सबसे पहले 'स्थापना' एवं अन्त में 'समापन' है जो नाट्य-परम्परा के अनुरूप ही है।

प्रथम अंक में धृतराष्ट्र, विदुर, गांधारी, याचक और दो प्रहरी आते हैं। प्रहरियों की कल्पना ग्रीक कोरस के निम्न-वर्गीय पात्रों के आदर्श पर है। पहले अंक के आरम्भ में कथा-गायन की योजना है जो लोक नाट्य-परम्परा से गृहीत है। कथा-गायन में ही कहा गया है—

अन्धों से शोभित था युग का सिंहासन
दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा
दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन
......
यह महायुद्ध के अंतिम दिन की संध्या
है छाई चारों ओर उदासी गहरी
कौरव के महलों का सूना गलियारा
हैं घूम रहे केवल दो बूढ़े प्रहरी

धृतराष्ट्र को महायुद्ध की पराजय-संध्या में ही बोध होता है कि सत्य उनकी 'वैयक्तिक सीमाओं के बाहर भी' होता है। यहीं एक बिन्दु पर है गांधारी की कटुता :

धर्म किसी ओर नहीं था लेकिन
सब ही थे अन्धी प्रवृत्तियों से परिचालित

और यहीं विदुर का भय :

क्षमा करो प्रभु
यह कटु अनास्था भी
चरणों में स्वीकार करो !

दूसरे अंक के आरम्भ में संजय का असमंजस-भरा प्रवेश है—प्रेत ध्वनियों के बीच। यहीं अश्वत्थामा की मनोग्रन्थियों की अभिव्यक्ति मिलती है :

---

१. नयी कविता : २। सम्पादक : डॉ जगदीश गुप्त

मैं क्या करूँ
मातुल !
मैं क्या करूँ
बध मेरे लिए नहीं रही नीति
वह है अब मेरे लिए मनोग्रन्थि

युयुत्सु, जो दुर्योधन का बन्धु होकर भी पांडवों का पक्षधर हुआ, कृष्ण जो निःशस्त्र होकर युद्ध-संचालन करते रहे और गांधारी के शाप से जिनकी मृत्यु हुई, वे अगले अंकों में आते हैं। अन्तराल में वृद्ध याचक का प्रवेश है। कृष्ण के बधकर्त्ता को (जिसे भागवत में जरा नाम दिया गया है) भारती ने वृद्धयाचक की प्रेतकाया मान लिया है। अन्तराल में प्रेतलोक-सा वातावरण कल्पित है जिसमें वृद्ध याचक आकर अनुभव करता है कि

यह युग एक अन्धा समुद्र है
चारों ओर से पहाड़ों से घिरा हुआ
और दर्रों से
और गुफाओं से
उमड़ते हुए भयानक तूफान चारों ओर से
उसे मथ रहे हैं···
······
मैंने अपनी प्रेत शक्ति से
सारे प्रवाह को
कथा की गति को बाँध दिया
और सब पात्र अपने स्थान पर स्थिर
हो गए हैं
क्योंकि मैं चीर-फाड़कर हरेक की आन्तरिक असंगति
समझना चाहता हूँ

यहाँ कवि ने आधुनिक जीवन-मूल्यों के विघटन, संक्रमण, क्षोभ, उसकी समस्त विसंगतियों को अनेक सशक्त काव्यबिम्बों द्वारा व्यक्त करने की कोशिश की है। यह समूचा ही खण्ड एक लम्बी कविता की तरह लगता है जिसमें कवि विभिन्न मूल्यों की पारस्परिक विसंगति को पाठक तक पहुँचाना चाहता है। अंधा-युग के कवि ने एक प्रतीकात्मक कौशल से युयुत्सु, संजय और विदुर को छाया-रूप में उतारना चाहा है। इसी अंश में युयुत्सु, संजय और विदुर समस्त मूल्यहीनता के लिए अपने को उत्तरदायी मानते हैं और विदुर के स्वर में जैसे पहली ही बार प्रभु (कृष्ण) के प्रति सन्देह उत्पन्न होता है—

क्योंकि लगता है कि मेरे प्रभु
उस निकम्मी धुरी की तरह हैं
जिसके सारे पहिए उतर गए हैं

> **और जो खुद घूम नहीं सकती**
> **पर संशय पाप है और मैं पाप नहीं करना चाहता !**

प्रत्यक्ष है कि पात्रों की आंतरिक असंगति की व्याख्या करते हुए लेखक यहाँ एक समूचे युग की विसंगति को एक वृहत्तर सन्दर्भ में चित्रित करना चाहता है। इसलिए इस कृति में पात्रों के गहरे चरित्रांकन का आग्रह है और नयी अर्थव्यंजना के सहारे कवि ने नाटकीयता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण दृष्टिक्रम पर बल दिया है। संजय का यह आत्मकथन—

> **कैसा यह शाप मुझे व्यास ने दिया है**
> **अनजाने में**
> **हर संकट, युद्ध, महानाश, प्रलय, विप्लव के बावजूद**
> **शेष बचोगे तुम संजय**
> **सत्य कहने को**

भारती के इस विश्वास को सिद्ध करता है कि 'व्यास नयी हिन्दी कविता के भावबोध के निकट पड़ते हैं।'

समापन के कथा-गायन में कृष्ण की मृत्यु के बाद 'अन्धायुग' की स्थापना है—

> **उस दिन जो अन्धायुग अवतरित हुआ जग पर**
> **बीतता नहीं रह-रहकर दोहराता है**
> **हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं-न-कहीं**
> **हर क्षण अँधियारा गहरा होता जाता है।**

सब मिलाकर देखा जाय, तो लगेगा कि जटिल नाट्यगर्भित घटनाओं-विचारों के इस काव्य-नाटक में केवल शंकाएँ उठाई गई हैं—सन्देह या प्रश्न उठाए गए हैं। सम्भवतः यही कृतिकार का अभीष्ट भी है। इसीलिए अपनी व्याख्याओं में उसने लिखा है कि प्रश्न और समाधान में मानवीय आचरण विभाजित नहीं किया जा सकता। वह एक सम्पूर्ण एवं अविभाज्य इकाई है। इस दृष्टिक्रम में सन्देह की भी एक सार्थक मूल्यवत्ता है। अन्तराल-खण्ड में, युयुत्सु, संजय, विदुर आदि के सन्देहात्मक वक्तव्य हमारी मानवीय स्थिति की निर्मम आलोचना करते हैं।

'अन्धा-युग' के संवाद मुक्त छन्दों में हैं और उनका रेटारिक नाटकीयता से अधिक वर्णनात्मक पर बल देता है। प्रचलित नाटकीयता को अविकल अपना लेने से इसके काव्यात्मक विधान को शायद अधिक ही हानि पहुँचती। इन संवादों में गहरी प्रयोजनीयता, प्रतीकात्मक अर्थों के सम्प्रेषण की क्षमता एवं व्यंग-क्षमता है। निश्चय ही, काव्य-नाटक के रूप में, 'अन्धा-युग' भारती की एक विशिष्ट कृति है। कवि की आधुनिक संवेदनीयता ने उसे और भी महत्त्वपूर्ण बना दिया है। उसकी साहित्यिक सीमाएँ एक साहित्यिक परम्परा की सीमाएँ हैं, जिसमें काव्य एवं नाटक दो विधाओं का संगठित कलात्मक सामंजस्य अभी तक निर्मित या निर्धारित नहीं हो पाया है।

डॉ० शिवनाथ

'चारु चन्द्रलेख'

: १ :

जिन हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कुछ वर्षों पूर्व 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखकर--और अनन्य पद्धति से लिखकर—हिन्दी : उपन्यास-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है, 'चारु चन्द्रलेख' उन हजारीप्रसाद द्विवेदी का दूसरा उपन्यास है। उनका यह उपन्यास मानों कह रहा है हिन्दी वालों से—"देखो 'एकमेवाद्वितीयम्' न समझना, जानो कि 'द्वितीयमेवाद्वितीयम' है।" यह सच है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में जिस तरह के उपन्यास लिखे गए हैं उनमें 'बाणभट्ट की आत्मकथा' अद्वितीय था और वर्तमान समय में जिस तरह के उपन्यास लिखे जाते हैं उनमें भी यह 'चारु चन्द्रलेख' अद्वितीय है। इन ग्रन्थों को सहानुभूत्या पढ़ने के बाद भी यदि इस उक्ति के सम्बन्ध में किसी का भिन्न मत हो तो वह वस्तु, नेता, रस (लक्ष्य) और रचनाशैली की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास साहित्य की छानबीन कर जाय। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की भाँति 'चारु चन्द्रलेख' भी आत्मकथा ही है—सातवाहन की आत्मकथा वाली शैली इसमें भी है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रथम उपन्यास की तरह; उसी की तरह इसमें भी 'कथा-मुख' और 'उपसंहार' हैं। 'चारु चन्द्रलेख' को कोई 'सातवाहन की आत्मकथा' कह सकता है। लेखक ने यह नाम नहीं दिया, शायद दोनों उपन्यासों के नामों को एकदम अलग-अलग और स्पष्ट रहने देने के लिए।

व्यक्ति-प्रधान निबन्ध, दो उपन्यास तथा गवेषणा, आलोचना सम्बन्धी साहित्य प्रस्तुत कर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह प्रमाणित कर दिया है कि उनमें विशुद्ध साहित्य रचनाशक्ति और पांडित्य का अद्भुत सम्मिश्रण है, जो सम्मिश्रण आज की बुद्धि की पिसौनी के जमाने में विरल है; जब कि थीसिसों का जमाना है, इस पर दावा यह कि लिखेंगे थीसिस और कहेंगे कि आलोचना लिखी है, आलोचक हूँ—जैसे स्कॉलर और क्रिटिक में कोई अन्तर ही न हो। सब धान बाईस पँसेरी। आश्चर्यम्, महदाश्चर्यम्। आलोचक तो अपने समाज तथा जीवन-दर्शन के आधार पर, कभी-कभी अतीत के साहित्य-दर्शन की छानबीन कर भी नये-नये साहित्य-सिद्धान्त स्थिर करेगा और विशुद्ध साहित्य के माध्यम से उनके व्यवहार-पक्ष का भी दर्शन करेगा। थीसिस वाले तो ऐसा करते नहीं। वे तो अतीत साहित्य के आधार पर विषय विशेष का संग्रह, सजाव करते हैं, आलोचनात्मक दृष्टि उपस्थित करने में डरते हैं—परीक्षक का भय जो रहता है। ध्यान रहे, इससे हिन्दी साहित्य की विशुद्ध आलोचनाशक्ति मारी गई है, मारी जा रही है। अस्तु, हजारीप्रसाद द्विवेदी में विशुद्ध साहित्य-रचनाशक्ति तथा पांडित्य का अद्भुत सम्मिश्रण है। किन्तु कथन किसी को ऐसा नहीं लगता कि उनकी विशुद्ध साहित्यिक रचनाएँ पांडित्य से बोझिल हैं ? अध्ययनेन परिचीयते न तु रागानुराग विह्वलतया।

: २ :

हजारीप्रसाद द्विवेदी के जिस पांडित्य की बात कही गई है उसका परिचय उनके द्वारा 'चारु चन्द्रलेख' के कथासूत्रों को संग्रह करने में ही मिलता है। इसके कथा-सूत्र प्राचीन भारतीय साहित्य से आहृत हैं और "प्राचीन साहित्य में जहाँ कहीं भी इस कथा से मिलते-जुलते अंश मिल सके हैं" उन्हें 'परिशिष्ट' में संगृहीत किया गया है (अ० १०१ और देखें पृ०५; ४३९-४१)। सन्देह नहीं कि उपन्यास की कथा अथवा वस्तु के आहरण मात्र में कम विद्वत्तापूर्ण अध्यवसाय नहीं किया गया है।

'चारु चन्द्रलेख' में भारत के मध्ययुगीन इतिहास के सत्य और अधिक स्थलों पर इस सत्य की अनुचारिणी कल्पना के आधार पर कथा का ताना-बाना बुना गया है। वस्तुसंघटना की पद्धति में ऐसा सत्य और ऐसी कल्पना ही सजा लेने के बाद उनमें पात्रों के क्रियाकलाप की रंगीनी भरी गई है। तात्पर्य यह कि वस्तुकल्पना कर लेने के बाद उसके अनुकूल पात्र कल्पना की गई है। इसे दूसरी तरह कहें, तो कहेंगे कि वस्तु में पात्रों के अभाव की प्रवृत्ति ही प्रधान है। वैसे, कुछ स्थलों पर ऐसा भी बोध होता है कि पात्रों के लिए वस्तु की कल्पना की गई है। वस्तु, तब पात्र की कल्पना का भी कारण है। वह यह कि लेखक मध्ययुग के इतिहास के सत्य और संस्कृति के सारतत्त्व की अभिव्यक्ति को ही लक्ष्यैक होकर उपस्थित करना चाहते हैं। कहना तो यह चाहिए कि उक्त युग की संस्कृति की अभिव्यक्ति ही उनका परम उद्देश्य है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वे अल्पतः इतिहास के सत्य और अभूततः इतिहासाधृत कल्पना का सहारा लेते हैं। वे मध्ययुग की धर्मसाधना की संस्कृति की व्याप्ति के चित्र प्रधानतः आँकना चाहते हैं। इस युग की धर्मसाधना की संस्कृति आँकते समय भी उनकी दृष्टि मुख्यतः वज्रयानी सिद्धों तथा नाथपंथी योगियों की तन्त्र-मन्त्र साधना, अभिचार आदि की साधना और उसकी सिद्धि सम्मुख रखने की है। इन दो साधनाओं के प्रसंग में इनके छोटे-मोटे सम्प्रदायों; शाक्त; शैव; भागवत साधनाओं के रूप को उपस्थित करने में भी वे संलग्न हुए हैं। शाक्त, शैव साधना के कुछ छोटे-मोटे सम्प्रदायों की साधना भी ग्रन्थ में चित्रित है। जैन-साधना का उल्लेख भी अन्य साधनाओं के प्रसंग में हुआ है। भागवत धर्म साधना में प्रधानतः कृष्ण-भक्ति का सविस्तार प्रवाह ग्रन्थ में नाना प्रसंगों में बहता है। तात्पर्य यह कि भारत की मध्ययुगीन धर्मसाधना का पूरा रूप 'चारु चन्द्रलेख' में अंकित है। किन्तु, यह कहना अधिक समुचित है कि प्रधानतः वज्रयानी सिद्धों तथा नाथपंथी योगियों की तन्त्र-मन्त्र आदि की साधना को सामने रखना ही ग्रन्थ का परम लक्ष्य है। इसीलिए सीदी मौला, अघोरवज्र, गोरक्ष-नाथ आदि हमारे लिए अपने गुण, कर्म, स्वभाव से सम्पन्न हो अय्यारी, जासूसी उपन्यासों के पात्रों के समान उपस्थित होते हैं। आज हम इनके गुण, कर्म, स्वभाव पर विश्वास नहीं कर सकते, यदि हमारा विश्वास मध्ययुगीन तन्त्र-साधना और सिद्धियों पर न हो तो। किन्तु सत्य तो यह है कि ऐसी साधनाओं और सिद्धियों को रूपायित करने के लिए ही लेखक ग्रन्थ में लक्ष्यैक दृष्टि हैं। इसी कारण उक्त प्रकार के पात्र जब अपनी साधना तथा सिद्धि का विवरण-विवेचन करते हैं तब उपन्यास में निबन्ध-

प्रवन्ध का तत्व जुड़ जाता है, उसमें थीसिस का मजा मिलने लगता है।

मेरा खयाल है कि 'चारु चन्द्रलेख' की रचना का जो लक्ष्य—मिशन—है उसे उपस्थित करने के लिए वस्तु की ऐसी ही संघटना के हेतु लेखक बाध्य हुए हैं कि कई प्रसंग अय्यारी-जासूसी उपन्यासों के प्रसंगवत् हो गए हैं। यदि ऐसा न किया गया होता तो ये प्रसंग सम्पूर्णतः थीसिस हो जाते।

'चारु चन्द्रलेख' का यह लक्ष्य क्यों है? इसलिए कि लेखक मध्ययुगीन समस्त धर्म-साधनाओं का और प्रधानतः सिद्धों की तन्त्र-साधना और नाथपन्थियों की योग-साधना का आस्वाद हमें साहित्य के रूप और रस के माध्यम से कराना चाहते हैं। बात यह है कि हजारीप्रसाद द्विवेदी मध्ययुगीन समस्त कर्म-साधनाओं के निपुण और सफल गवेषक हैं। वस्तुतः यही उनका अपना प्रधान तथा विशेष विषय है। और इस विषय की गवेषणा की उपलब्धि वे विशुद्ध साहित्य के माध्यम से प्रकट करने की चेष्टा करना चाहते हैं। इस गवेषणा की उपलब्धि वे कई पात्रों के मुख से कई स्थलों पर करते हैं। यह उपलब्धि प्रधानतः तन्त्र-साधना तथा योग-साधना की टीका के रूप में अभिव्यक्त है। सिद्धियों के सम्बन्ध में गोरक्षनाथ का मत है:

"सिद्धियों के नाम पर अत्यन्त निचली श्रेणी की कामुकता को उत्तेजना दी जा रही है।" (पृ० १६२)।

वे ही वैयक्तिक साधना की टीका यों करते हैं; "सारे संसार को भूलकर अपनी मुक्ति की चिन्ता करना सबसे बड़ी माया है।" (पृ० १६१)

सिद्धों की वैयक्तिक साधना की टीका मैनसिंह भी करता है। (पृ० २४६)

चन्द्रलेखा के पत्र में वर्णाश्रम धर्म पर सिद्धियों के कुप्रभाव का उल्लेख है:

"सिद्धियों के पीछे पागल बनने की इस हवा ने वर्णाश्रम धर्म को भ्रष्ट कर दिया है।" (पृ० १५७)

मध्य युग में प्रचलित सभी साधनाओं के साधक (पृ० ३३७) अमोघवज्र ने सिद्धियों के प्रति समाज के आकर्षण तथा इस पर उनके प्रभाव का सविस्तार वर्णन किया है:

"सिद्धियों के पीछे पागल बने लोगों ने देश को निर्वीर्य और कामी बना दिया है। माया को पराभूत करने का ढोंग रचने वाले लोग माया के सबसे मजबूत वाहन सिद्ध हुए हैं। काम-क्रोध को शत्रु घोषित करने वाले उनके क्रीतदास सिद्ध हुए हैं। सारा समाज पाखण्ड और मिथ्याचार से अभिभूत हो गया है।...मैं समाज-चित्र के परिष्करण को मान देने लगा हूँ।...ऐसे नेता के सन्धान में घूमते-फिरे हैं जो समाज-चित्त को स्फूर्ति दे सके और इन वैयक्तिक साधनाओं की माया झाड़ सके।" (पृ० ३३८)

"इन धार्मिक संघटनों में और कुछ चाहे हो, धर्म नहीं है। धर्म मुक्ति-दाता है। धार्मिक संघटन बन्धन है।" (पृ० ३०७)

यह राजा का वचन है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मध्ययुगीन धर्मसाधना का अध्ययन नाना दृष्टियों से

किया है और इस अध्ययन की उपलब्धि का सारभूत तत्व इस प्रकार नाना पात्रों के मुख से प्रकट है ।

: ३ :

भारतीय मध्ययुग के इतिहास की एक और विशेषता रही है और वह है उस युग का वीरत्व । इस वीरत्व के सूत्रों से भी कथा गूँथी गई है और ये सूत्र यथावसर उभर भी आते हैं । किन्तु, ये मात्र सहायक हैं मध्ययुगीन धर्म-साधनाओं के रूपों में रंग भरने के लिए । मध्य युग का रूप खड़ा करने के लिए अन्य साधनों का भी उपभोग किया गया है । सभा तांत्रिक तथा कृच्छ साधना के वर्णन; नाथपंथी योगियों के आविर्भाव; इतिहास तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों के वर्णनयुक्त उल्लेख; प्राचीन साहित्य की उद्धरणी; प्राचीन नाना शास्त्रों, विशेषतः ज्योतिष, सामुद्रिक, शकुन विद्या, आदि के उल्लेख उपन्यास को मध्ययुग के वातावरण से आच्छादित किए रखते हैं । उपन्यास में मध्ययुगीन वातावरण को बनाए रखने के लिए कथा मंथर गति से चलती है । कहीं वह स्थानीय ब्यौरे उरेहती है (डॉ० भैयाताल, 'कुमार-सम्भव' के रचनास्थल वट-वृक्ष, आदि के प्रसंग); कहीं वह पात्रगत शील, स्वभाव, रूप को उभारती है (धीर शर्मा, विद्याधर भट्ट, अलहना बघेला, मैनसिंह आदि के प्रसंग) । कथा अपने परिवेश में आए सब-कुछ को कहती-सुनती, देखती-दिखाती चलती है । इसीलिए प्राकृतिक परिवेश के संश्लिष्ट चित्रण में भी वह रमती चलती है—प्रधानतः आलंकारिक पद्धति से । लेखक कहीं भी जल्दी में नहीं है । उपन्यास के वातावरण में अथवा इसके वातावरण को बनाने में सबको स्थिर, गम्भीर होकर, मंथर होकर वह देखता-दिखाता चलता है। उपन्यास के लक्ष्य पर दृष्टि रखकर यदि विचार किया जाय तो मुझे 'चारु चन्द्र-लेख' मुख्यतः वातावरण-प्रधान उपन्यास जान पड़ता है ।

: ४ :

वस्तुगत कथा का विकास तथा विस्तार कौतूहलपूर्ण है । कथा में आश्चर्य, औत्सुक्य एवं कौतूहल पाठक के लिए ही नहीं है, पात्रों के लिए भी है । चन्द्रलेखा के जन्म तथा उसकी प्राप्ति की कथा; उसके द्वारा राजा से अपने पूर्व तथा वर्तमान जन्म की कथा; मैना के पाने की कथा, आदि इसके प्रमाण हैं । उक्त कथाओं द्वारा पाठक ही आश्चर्य-औत्सुक्य में नहीं पड़ता, राजा तथा मैना को भी इनका बोध होता है । वस्तु में आईं कथाओं को जोड़ने में लेखक ने पूरी कुशलता का परिचय दिया है। यह कुशलता कम उपन्यासकारों में दिखाई पड़ती है । चाहे पास में आने वाली कथाएँ हों, चाहे दूर में आनेवाली, वे अपनी-अपनी शृंखला से ऐसी समुचित रूप से जुड़ी हैं कि जोड़ का अनुभव नहीं होता । ये कथाएँ कहीं-कहीं स्वप्न, कल्पना, मूर्च्छागत चेतनाबोध, शकुन-अपशकुन, भविष्यत्वाणी, ज्योतिष, किन्हीं अलौकिक तत्त्वों आदि से भी और पत्र आदि द्वारा भी जुड़ी हैं । उपन्यास में घटना-सूत्रों का अम्बार लगा है, किन्तु ये यथायथ रूप से प्रस्यूत हैं । कथा कहने की पद्धति ऐसी है कि आगे की कथा के लिए कौतूहल-औत्सुक्य बराबर बना रहता है ।

जहाँ बीहड़तम स्थलों पर भी कथा के पात्र अचानक आ मिलते हैं वहाँ अय्यारी-

जासूसी उपन्यासों का मजा भी आ जाता है।

सभी पात्र, चाहे वे छोटे हैं, चाहे बड़े, अपनी-अपनी विशेषताओं से युक्त हैं। सभी पात्रों का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व है। वे अपनी-अपनी वेश-भूषा द्वारा भी अपना अलग व्यक्तित्व धारण करते हैं और अपने-अपने शील-स्वभाव द्वारा भी। इस प्रकार आंतर्बाह्य दोनों व्यक्तित्वों में वे अपनी-अपनी विशेषताएँ प्रकट करते हैं। धीर शर्मा (पंडित, वाचाल), विद्याधर भट्ट (विचित्र गंभीर कूटनीति), बोधा (विद्याधर भट्ट के अनुरूप शिष्य), चन्द्रलेखा (दो नाव पर पाँव), राजा (शूर, उदारपति का पछतावा), अलहना बघेला (रजपूती की आन), मैनसिंह (= मैना। बुद्धि, सेवा, साहस, रण कौशल, पृ० २२७), नाटी माता (भक्ति), सीदी मौला (अलौकिक सिद्धियों के अनुभवी), आदि सभी पात्र हजारों के बीच अपने-अपने रूप, शील, स्वभाव द्वारा अलग खड़े दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार ग्रन्थ में चरित्र अथवा शील-कल्पना कौशलपूर्ण है। काफी सम्बुद्धिपूर्वक इन सबकी रचना की गई है। प्रत्येक पात्र का रूप, गुण, कर्म, स्वभाव सारी बारीकियों सहित अंकित है।

'बिना कहे आगे नहीं बढ़ेंगे'---का जो व्रत लेखक ने लिया है उसके कारण प्रत्येक पात्र के प्रायः सभी स्थितियों में पड़े उसके रूप का वर्णन वे करते चलते हैं। चन्द्रलेखा का रूप वर्णन करते वे नहीं अघाते। नारी के बत्तीसों लक्षणों से युक्त वह पार्वती (विद्याधर भट्ट) है; त्रिपुरा सुन्दरी (नागनाथ) है; दुर्गा (धीर शर्मा) है। रूप वर्णन की शैली संस्कृत-वाली प्राचीन है, किन्तु अलंकार-कल्पना नवीन एवं मौलिक। नाटी माता के शरीर की वर्णना है :

> "उनका शरीर छन्दों से बना जान पड़ता था। मानों अनुप्रासों से कसकर, संगीत से ढालकर, यमकों से सँवारकर, उपमानों से निखार कर, तालों से बाँधकर, यतियों से शासित कर इस मनोरम आकर्षक शरीर को स्वयं छन्दोदेवता ने बनाया हो। उनके प्रत्येक पद निक्षेप में ताल चरण चूमते थे, प्रत्येक पदोत्थान में चारियाँ निछावर जाती थीं—जितनी ही गठित उतनी ही संयत। उनके शब्द नाप-तोलकर स्पष्ट उच्चरित हुए थे। प्रत्येक स्वर, प्रत्येक व्यंजन उचित मात्रा में, उचित स्वराघात के साथ ऐसा सधा हुआ निकल रहा था कि मैं अवाक् भाव से केवल सुनता जा रहा था। क्या शिक्षा ने ही रूप धारण किया है, वाग् देवी ने ही प्रत्यक्ष विग्रह धारण किया है, व्याकरण विद्या ही अवतरित हुई है?" (पृ० १८०)।

: ५ :

उपन्यास के वातावरण में मध्ययुग है, इतने विवरण-विवेचन के पश्चात् इस सम्बन्ध में सन्देह का अवकाश नहीं रह जाता। इसमें भी सन्देह का अवकाश नहीं है कि उपन्यास की वस्तु के अनुसार सभी पात्र, जो सम्बुद्धिपूर्ण हैं, मध्ययुग के आर्यावर्त को शत्रु से और उसके समाज को नानाविध कलुष से मुक्त करने की आप्राण-चेष्टा में हैं। इसीलिए पात्र हैं तो मध्ययुग के किन्तु विचारधारा उनकी ध्वनित-प्रतिध्वनित

होती है, आधुनिक युग के भारत में भी। सच तो यह है कि सातवाहन और चन्द्रलेखा और उनके आगे-पीछे घिरे रहने वाले सहायक पात्र जन-जागरण के लिए अपना सब कुछ स्वाहा करना चाहते हैं—कर देते हैं। यहीं 'चारु चन्द्रलेख' मध्ययुग का होकर आज का भी है और हमारा प्रेरणा केन्द्र हो सकता है। राजा सातवाहन और रानी चन्द्रलेखा इस प्रकार मध्ययुग के होकर भी जनजागरण में लगते हैं। चन्द्रलेखा तान्त्रिक सिद्धि—कोटि वेधी सिद्धि—के लिए इसी कारण लपकी है कि इसे पा लेने पर वह सामान्य जन का उपकार कर सकेगी।

प्रसंग शत्रु को देश से बाहर निकालने का आता है, तब विद्याधर भट्ट ललकारते हैं :

> "...संसार में जहाँ कहीं भी दरिद्रता है, रोग है, शोक है, अभाव है उसके उन्मूलन के लिए कटिबद्ध हो जाओ।" (पृ० ७७)।

वीरों को उद्बुद्ध करने के बाद अन्त में राजा से चन्द्रलेखा कहती है :

> "मैं तुम्हारे पीछे प्रजावर्ग को संगठित करने के लिए प्रयत्न करने जा रही हूँ।" (पृ० १००)।

वह ऐसा इसलिए करना चाहती है कि प्रजा युद्ध और हार-जीत को दो राजाओं के बीच हुई मानती है। वह इनके युद्ध को, इनकी हार-जीत को अपना युद्ध, अपनी हार-जीत नहीं मानती। इस प्रकार राजा के देश से अपने को विच्छिन्न समझती है। शत्रु को देश से निकाल देने के पश्चात् चन्द्रलेखा की प्रेरणा से राजा भी जनपद को उद्बुद्ध करने में लगना चाहते हैं। वे कहते हैं :

> "हम लोगों ने साधारण प्रजा के साथ एकमेल हो जाने का व्रत लिया है।" (पृ० १०५)।

उपन्यास में कुछ उक्तियाँ तो वर्तमान भारत पर हूबहू चस्पा होती हैं। राजा से अमोघवज्र कहते हैं :

> "भारत वर्ष की असंख्य छोटी इकाइयाँ अपने को खण्ड-विदीर्ण करती जा रही हैं।...हमारी सामाजिक संहति दुर्बल है, विच्छेद-परम्परा प्रबल है, क्षुद्रता का बोध भयंकर है।" (पृ० ३४२)।

विद्याधर भट्ट से सीदी मौला देश की परिस्थिति के सम्बन्ध में कहते हैं कि यह नाश के किनारे खड़ा है—भेद-बुद्धि और स्वार्थ से अन्धा होकर। ऐसी स्थिति में वे इसकी रक्षा का उपाय यों बतलाते हैं :

> "इस देश को वही बचाएगा जिसके पास सहज जीवन का कवच होगा, सत्य की तलवार होगी, धैर्य का रथ होगा, साहस की ढाल होगी, मैत्री का पाश होगा, धर्म का नेतृत्व होगा।' (पृ० २४८६)

इस प्रकार अनेक स्थलों पर वर्तमान भारत की कई समस्याओं और उनके समाधान का प्रतिबिम्ब 'चारु चन्द्रलेख' में है, जिससे इसकी उपयोगिता वर्तमान काल को भी बाँधे है।

मानव जीवन और समाज के कुछ स्थायी मूल्य होते हैं, जो हमारे हृदय

भाव नाना स्थितियों में पड़ उन्हें लेकर चलते हैं, जिससे हम उठते भी हैं और गिरते भी। साहित्यकार अपनी रचना को स्थायित्व देने के लिए उन मूल्यों को भी उसमें सजाकर रखता है। 'चारु चन्द्रलेख' में ये भी सजकर आए हैं। ये इसे वर्तमान में ही न रखकर भविष्य में भी ले जायँगे।

: ६ :

यदि जयशंकर 'प्रसाद' के नाटक काव्य हैं तो हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्म-कथा', 'चारु चन्द्रलेख' भी काव्य ही हैं। काव्य को चाहिए क्या? रूप के चित्र और उनमें भावों के रंग। और काव्य को काव्य बन जाने के लिए चाहिए यह कि रूप के चित्र वाणी की तूली से ऐसे आँके गए हों कि मोटी-महीन रेखाओं के साथ वह अपने परिवेश-सहित पूरा हो तथा उसमें भावों के समुचित रंगों का भराव उसे रंगीनी देकर—रूप और भाव मिलकर—मन की आँखों के सामने रूप-मय भाव अथवा भावमय रूप या चित्र इस प्रकार खड़ा कर दे कि वे आँखें उसे देखते-देखते उसमें रम जायँ। इस रमण को चाहे जो कह लें—रस कह लें, आनन्द कह लें, सौन्दर्य-बोध कह लें। 'चारु चन्द्रलेख' में ऐसे रूपमय भाव अथवा भावमय रूप—चित्र अपनी जगह पर खोजे कहीं भी मिल जायँगे। इसीलिए यह काव्य है।

डॉ० मनोहर काले

'रस-सिद्धान्त'[1] : एक अभिनव पुनराख्यान

जैसे-जैसे भारत के प्राचीन साहित्य, शास्त्र और कलावशेषों का अनुसन्धान हो रहा है वैसे-वैसे भारतीय मनीषियों की प्रखर मेधा और अतल-स्पर्शिनी प्रज्ञा का सुदृढ़ प्रमाण मिलता जा रहा है। भारतीय विद्वानों ने दर्शन, ज्योतिष, गणित, खगोल आदि विषयों तथा ललित कलाओं के विकास में अपने सीमित साधनों से जो सूक्ष्म अनुसन्धान किये थे वे आज के युग में भी मानव-प्रतिभा को हतप्रभ करने में सक्षम हैं। इन्हीं विषयों में भारतीय काव्यशास्त्र भी अपना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, जिसका संस्कृत के मेधावी आचार्यों ने डेढ़-दो हजार वर्षों तक पर्याप्त सूक्ष्म, गम्भीर एवं व्यापक दृष्टिकोण से अध्ययन किया था। फलस्वरूप वे काव्यशास्त्र के क्षेत्र में चिरन्तन एवं सार्वभौम काव्य-सिद्धान्तों की प्रतिष्ठापना कर सके थे, उनमें रस-सिद्धान्त का स्थान सर्वोपरि रहा है।

इधर संस्कृत भाषा के ह्रास और अपभ्रंश-देशी भाषाओं तथा उनके साहित्य के विकास के परिणामस्वरूप संस्कृत साहित्यशास्त्र का अध्ययन कुण्ठित हो गया था। भाषा के अतिरिक्त इस देश की राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियाँ भी इसके लिए पर्याप्त सीमा तक उत्तरदायी थीं। परन्तु इस देश में स्वाधीनता-आन्दोलन का शंखनाद गूँजते ही यहाँ के कलाकारों, कवियों और समालोचकों में भी प्राचीन गौरव की पुनः प्रतिष्ठापना की भावना जागृत हो उठी। स्वदेशाभिमान और राष्ट्रीय गौरव की पुनः प्रतिष्ठापना से प्रेरित होकर ही हिन्दी-मराठी तथा अन्य कतिपय भारतीय भाषाओं के समीक्षकों ने प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों का सूक्ष्म अध्ययन-अनुसन्धान आरम्भ किया है।

हिन्दी में सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। परन्तु परिस्थितियों, युग-सीमाओं और साधनों के अभाव में उनका अध्ययन काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक व्यापक, गम्भीर और सर्वाङ्गपूर्ण नहीं हो सका था। फिर भी रस और समालोचना के क्षेत्र में उनके मौलिक चिन्तन से हिन्दी-काव्य-शास्त्र और गौरवान्वित हो गया है। शुक्लजी के उपरान्त डॉ० नगेन्द्र ने अत्यन्त संतुलित और वैज्ञानिक पद्धति से भारतीय काव्यशास्त्र के रस, रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि काव्य-सिद्धान्तों की व्यापक धरातल पर मीमांसा करके उनके पुनराख्यान और पुनर्मूल्यांकन का प्रयत्न किया है। प्रस्तुत लेख में इनके नवीनतम ग्रन्थ—'रस-सिद्धान्त' की उपलब्धियों का समीक्षण कर उनके योगदान का मूल्यांकन करना मेरा प्रयोजन है।

'रस-सिद्धान्त' में कुल छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में 'रस' शब्द के अर्थ-विकास की गम्भीर खोज की गई है। मूलतः रस वनस्पतियों का द्रववाचक रहा, लक्षणा से आस्वाद बना, सोमरस के आस्वाद में आनन्द, मस्ती, तन्मयता के गुण थे,

---

१. ले० डॉ० नगेन्द्र।

अतः पुनः लक्षणाव्यापार से ही यह आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द का एक ओर प्रतीक बना तो दूसरी ओर 'वाग्रस' या 'काव्यरस' का भी वाचक बन गया। परन्तु जहाँ तक 'रस' के शास्त्रीय अर्थ या पारिभाषिक अर्थ--स्थायिसंचारीमूलक रस के अर्थ—का सम्बन्ध है वह डॉ० नगेन्द्र की धारणा में ईसा की चौथी-पाँचवीं शती पूर्व से लेकर दूसरी-तीसरी शती पूर्व तक निश्चित हुआ होगा। इस मत की पुष्टि में इन्होंने वात्स्यायन के कामसूत्र को प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया है। और 'रस' के अर्थविकास की गहराइयों में जाकर इन्होंने इसी आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'नाट्यशास्त्र' के आविर्भाव से पूर्व रस का (काव्य) शास्त्रीय अर्थ सुनिश्चित हो चुका था। 'रस' के अर्थ-विकास के इस रोचक और मूलगामी अनुसन्धान के उपरान्त प्रथम अध्याय में ही 'रस-सम्प्रदाय का इतिवृत्त' लिखते समय डॉ० नगेन्द्र ने डॉ० शंकरन और पं० बलदेव उपाध्याय के अभिमतों की समीक्षा की है और इनसे भिन्न अपना स्वतन्त्र मत इस रूप में व्यक्त किया है कि रस का मूल स्रोत रामायण, महाभारत आदि नहीं थे वरन् कामशास्त्र था। 'रस-परम्परा का नीति-धर्मपरक रामायण-महाभारत की अपेक्षा आमोद-प्रधान प्रेमाख्यानों तथा कामसूत्र आदि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था और सम्भावना यही है कि शास्त्ररूप में कामसूत्र ही इसका आधार-स्रोत था।' अतः इनकी मान्यता में रस-परम्परा अथर्ववेद के शृंगारपरक (अभिचार) यन्त्रों से आविर्भूत होकर लौकिक प्रेम-कथाओं, कामसूत्रों तथा नाट्यकला से संवर्द्धन-प्राप्त करती हुई भरत के पूर्ववर्ती आचार्यों की वाणी में ईसा के जन्म से पूर्व निश्चित रूप से प्रस्फुटित हो चुकी थी।

प्रस्तुत 'रस-उत्स' के अनुसन्धित रूप में मत-भिन्नता की पूरी-पूरी सम्भावना है। वात्स्यायन के कामसूत्र की अपेक्षा यज्ञ की उत्सव-विधि में ही रस का उद्गम खोजना अधिक संगत प्रतीत होता है। भरत ने रस तत्व को स्पष्टतः अथर्ववेद से गृहीत माना है। वैदिक युग के इतिहास और तत्कालीन गाथाओं पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि नाट्यशास्त्र में निरूपित देवताओं और यज्ञ-विधियों का स्वरूप वैदिक गाथाओं के पर्याप्त अनुरूप है। यज्ञ-वेदी के चारों ओर देव-दैत्य-असुर-गान्धर्व आदि एकत्रित होते थे, सोमपान करते थे, नृत्य-पाठ्य (ऋग्वेद से) अभिनय (यजुर्वेद से) संगीत (सामवेद से) में तल्लीन रहते थे। इन सबका समवेत प्रयत्न यज्ञ-मंडप में ही कालान्तर में अभिनयमूलक कलात्मक रस का रूप ग्रहण कर गया। शृङ्गार रस की उत्पत्ति के प्रसंग में भरत ने स्पष्ट लिखा है कि वह 'पुरुष-प्रमदाओं की सहायता से तथा गान्धर्व काव्य के निषेवण से उत्पन्न किया जाता है।' वैदिक गाथाओं में स्पष्ट लिखा है कि गन्धर्व लोग अत्यन्त शृंगारप्रिय थे, अतः उनके काव्य नारी-सौन्दर्य के चित्रण से परिपूर्ण थे और ये नाट्य-रस की निष्पत्ति में सहायक बनते थे। कालान्तर में यज्ञ-मण्डप में 'नाट्य-रस' की निष्पत्ति के बिना भी गान्धर्व-काव्य पढ़े जाते रहे होंगे और उनके पठनमात्र से 'रस-निष्पत्ति' मानने की प्रवृत्ति सम्भवतः चल पड़ी हो। 'काव्यरस' से पूर्व 'नाट्यरस' की स्थिति थी। इसका ज्वलन्त प्रमाण नाट्यशास्त्र ही है। इसमें भरत मुनि ने आठों रसों के स्वरूप को और उनकी निष्पत्ति-प्रक्रियाओं को

विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि के माध्यम से ही समझाया है परन्तु काव्य का कोई एक उदाहरण प्रस्तुत करके उसमें रस की स्थिति नहीं दिखाई है जबकि अलंकार-छन्द आदि के प्रसंग में वे काव्य के उदाहरणों से अपनी बात स्पष्ट करते रहे। परन्तु कालान्तर में जब 'काव्यरस' की कल्पना बद्धमूल होने लगी तब अभिनव-मम्मट आदि ने काव्यगत श्लोकों को रसों के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। अतः नाट्य-रस—काव्यरस—सहृदयगत रस : यह विकास-क्रम मानना ही अधिक समीचीन लगता है। मराठी के प्रख्यात समीक्षक श्री दि० के० बेडेकर ने तो यज्ञ, देवासुर-संग्राम और उनके द्वन्द्व में ही सर्वप्रथम रस की उत्पत्ति मानी है।

रस-धारा के उत्स का अथर्ववेद और 'कामसूत्र' में अन्वेषण करने के उपरान्त डॉ० नगेन्द्र ने ईसा की पहली शती से सत्रहवीं शती तक के काव्यशास्त्र को १. ध्वनिपूर्ववर्तीकाल (ई० शती १-२ से ८वीं शती तक) २. ध्वनिकाल (९वीं से ११वीं के मध्य तक) और ३. ध्वनिपरवर्तीकाल (११वीं के उत्तरार्ध से १७वीं के अन्त तक) में विभक्त करके प्रत्येक काल के योगदान का पृथक्-पृथक् मूल्यांकन किया है। 'ध्वनि-पूर्ववर्तीकाल' में इनकी मान्यता में दो प्रमुख धाराएँ काव्यशास्त्र में प्रवहमान थीं—एक रस-विरोधी, जिसमें भामह, दण्डी, वामन, उद्भट और रुद्रट अन्तर्भूत होते हैं तो दूसरी रसवादी, जिसमें लोल्लट, श्रीशंकुक और रुद्रभट्ट आते हैं। रस-विरोधी आचार्यों की दृष्टि अधिक वस्तुपरक थी, वे देह-सौष्ठववादी थे अतः वे काव्यशास्त्र में अलंकारों के माध्यम से शब्दार्थगत चमत्कार की ही प्रतिष्ठा कर रहे थे। परन्तु रसवादी आचार्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में भरत के रस-सिद्धान्त की व्याख्या में समकालीन दार्शनिक दृष्टिकोणों का आश्रय ले चुके थे और रस के भावाश्रित तथा 'आस्वाद्य' स्वरूप का गम्भीर विवेचन करने में प्रवृत्त हो गये थे। इसके उपरान्त 'ध्वनिकाल' (८५० ई० से १०५० ई० तक) आता है, जो वास्तव में 'रस-सिद्धान्त' का 'स्वर्णयुग' है। क्योंकि इसमें भट्टनायक, भट्टतोत, अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनंजय और महिमभट्ट ने प्रत्यक्ष रूप से रस-सिद्धान्त का मण्डन किया तथा क्षेमेन्द्र ने रसाश्रित औचित्य के रूप में इसकी गौरव-प्रतिष्ठा की। भोज समन्वयवादी थे और कुन्तक ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना करते हुए भी रस के प्रति सम्मान का भाव दर्शाया था। इस प्रकार यह युग 'रस' तत्त्व को ही मूर्धाभिषिक्त करने में एक प्रकार से संलग्न था। किन्तु 'ध्वनि-परवर्तीकाल' में चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं—ध्वनिवादी या रस-ध्वनि-वादी (इसमें मम्मट, हेमचन्द्र पण्डितराज जगन्नाथ आदि अन्तर्भूत हैं), अलंकारवादी (इसमें रुय्यक, जयदेव, अप्पय दीक्षित आदि आते हैं), शुद्ध रसवादी (रामचन्द्र-गुणा-चन्द्र, विश्वनाथ, भानुदत्त आदि) तथा कविशिक्षात्मक (अमरचन्द, देवेश्वर आदि)। इस प्रकार डॉ० नगेन्द्र ने ईसा की पहली शती से १७वीं शती तक व्याप्त 'रस-सम्प्रदाय' का इतिवृत्त अत्यन्त स्वच्छ, सप्रमाण और अन्तर्विश्लेषात्मक पद्धति से प्रस्तुत किया है और परिणामतः अनेक मौलिक तथ्य उभरकर सामने आये हैं।

इसके उपरान्त १७वीं शती से १९६४ तक आधुनिक भारतीय भाषाओं में उपलब्ध संस्कृत काव्यशास्त्र के विवेचन-विश्लेषण का इतिवृत्त प्रस्तुत किया गया है।

फलतः हिन्दीतर भारतीय भाषाओं में भी रस-सिद्धान्त की व्याप्ति और लोक-प्रियता की पुष्टि हो गई है। भारतीय भाषाओं में रस-सिद्धान्त का अध्ययन विशेषतः मराठी और हिन्दी में ही व्यापक रूप में उपलब्ध होता है। इनके अतिरिक्त बंगला, तेलुगु, कन्नड, मलयालम, गुजराती आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी रस-सिद्धान्त का अध्ययन किया गया है। इन विभिन्न भाषाओं के प्रमुख लेखकों, उनकी रचनाओं और उनके प्रतिपाद्य का निरूपण कर इसी तथ्य की परिपुष्टि की गई है। इस प्रकार लगभग दो हज़ार वर्ष के 'रस सिद्धान्त' के इतिवृत्त का समाहार करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है: 'वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र का पर्यालोचन करते हुए किसी भी प्रबुद्ध आलोचक को अनायास ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका मेरुदण्ड रस-सिद्धान्त ही है। उसमें इतनी क्षमता है कि प्रत्येक युग तथा प्रत्येक देश के साहित्य का मार्मिक मूल्यांकन हो सके।' इस प्रकार प्रथम अध्याय में 'रस-सम्प्रदाय' का व्यापक इतिवृत्त प्रस्तुत करके 'रस तत्त्व' के सैद्धान्तिक चिन्तन-विवेचन के लिए सुदृढ़ पृष्ठभूमि तैयार की गई है।

दूसरे अध्याय में 'रस की परिभाषा', 'रस का स्वरूप' और 'करुण रस का आस्वाद' ये तीन प्रमुख प्रकरण हैं। अभिनवगुप्त के प्रभाव से रस की परिभाषा और स्वरूप के विषय में संस्कृत काव्यशास्त्र में लगभग एक हज़ार वर्ष तक एकांगी दृष्टिकोण ही प्रवृत्त रहा, जिसके अनुसार रस एकान्ततः विषयिगत और आनन्द रूप में ही मीमांसित होता रहा। परन्तु अभिनवगुप्त-पूर्ववर्ती युग में विशेषतः भरत-भामह के युग में रस का विषयगत स्वरूप भी विद्यमान था—डॉ० नगेन्द्र ने इसका भी नवीन अनुसन्धान और आख्यान किया है। इन्होंने रस के परम्परागत आनन्दस्वरूप की पुष्टि केवल परम्पराभुक्त तर्कों या युक्तिप्रमाणों से नहीं की वरन् भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिकों एवं साहित्य-मर्मज्ञों की मान्यताओं का सुदृढ़ आधार ग्रहण कर उसका पुनर्मूल्यांकन भी किया है। 'काव्यास्वादन-समुद्‌भूत आनन्द' ऐन्द्रिय-मानसिक आनन्द है, आत्मिक आनन्द है, कल्पना का आनन्द है अथवा एक अत्यन्त विलक्षण आनन्द है, इसकी गम्भीर मीमांसा करके इन्होंने अपना स्वतन्त्र अभिमत भी व्यक्त किया है कि यह आनन्द ऐन्द्रिय अनुमति से अधिक शुद्ध-परिष्कृत और बौद्धिक अनुभूति से यह अधिक सरस होता है। काव्यानुभूति को सामान्यतः आनन्दमयी अनुभूति स्वीकार करने के उपरान्त यह प्रश्न सहज ही उठता है कि करुण रस के आस्वाद में दुःखानुभूति सुखानुभूति या आनन्द में कैसे परिणत हो जाती है। दो-ढाई हज़ार वर्ष से प्राच्य और पाश्चात्य मनीषी इस प्रश्न के साथ जूझते आये हैं और इसके हल में बीसियों सिद्धान्त अनुसन्धित किए गये हैं, परन्तु इसका कोई अकाट्य और सर्वमान्य समाधान अब तक उपलब्ध नहीं हो सका है। अतः डॉ० नगेन्द्र की धारणा में इस समस्या का समाधान किसी एक सिद्धान्त में ही ढूँढ़ने की अपेक्षा अनेक सिद्धान्तों में निहित महत्त्वपूर्ण सत्यांशों के आधार पर उपलब्ध किया जाना चाहिए। फलतः इन्होंने भारतीय और पाश्चात्य मनीषियों की एतद्विषयक धारणाओं का विस्तृत विवेचन-विश्लेषण किया है। अन्त में इन्होने अपना स्वतन्त्र अभिमत भी प्रतिष्ठित किया है, जिसका सारांश यह है कि

दुःखानुभूति को सुख में परिणत करने में मूलतः कवि-व्यक्तित्व और उसकी भावन-प्रक्रिया ही कारणीभूत होते हैं।

रस के विषयगत और विषयिगत इन दोनों स्वरूपों की स्थिति संस्कृत काव्य-शास्त्र में विद्यमान थी। परन्तु काव्यशास्त्र के 'स्वर्णकाल' में 'रस-निष्पत्ति' के अन्तर्गत विषयिगत रस की मीमांसा विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं की पृष्ठभूमि के आधार पर बहुत विस्तार से की गई। परिणामतः भरतमुनि के रंगमंचीय वस्तुपरक रस के दृष्टि-कोण का अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने एकान्त आत्मपरक रस के दृष्टिकोण से विवेचन-विश्लेषण किया। यहाँ तक कि भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक आदि की धारणाएँ जो मूल भरत मत के अधिक निकट थीं, शैवाद्वैतवाद के आवरण में प्रस्तुत कर नितान्त अग्राह्य सिद्ध कर दी गई। इस ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में डॉ० नगेन्द्र ने भरत, भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक, भट्टतौत, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों की 'रस-निष्पत्ति' की मान्यताओं का दार्शनिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से सूक्ष्म विश्लेषण कर प्रत्येक आचार्य की मान्यता में निहित शक्ति-सीमाओं का विवेचन किया है। फलतः 'रस-निष्पत्ति' के विषय में अभिनवगुप्त-प्रचारित अनेक भ्रान्तियों का निराकरण हो गया है।

वैसे डॉ० नगेन्द्र अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को ही रस-निष्पत्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त मानते हैं, परन्तु दार्शनिक आवरण को हटाकर विशुद्ध साहित्यिक धरातल पर विचार किया जाए, तो यह भी पर्याप्त सत्य है कि काव्य-साहित्य मानव-मन में केवल पूर्वस्थित भावनाओं की ही अभिव्यक्तिमात्र नहीं करता वरन् नवीन भावना-निर्मिति में भी वह अत्यन्त सक्षम होता है : उदाहरणार्थ देशभक्ति की भावना को ही लिया जा सकता है।

रस के विषयगत और विषयिगत स्वरूपों की तात्त्विक भिन्नता को ध्यान में रखने के कारण ही इस अध्याय में 'रस का स्थान' प्रकरण अत्यन्त रोचक बन गया है, क्योंकि इससे रस की नाट्यगत, काव्यगत तथा सहृदयगत स्थिति और स्वरूप को पृथक्-पृथक् रूप में समझने में पूरी-पूरी सहायता मिलती है। वस्तुतः संस्कृत काव्य-शास्त्र की रस-चर्चा की जटिलता और दुरूहता रस की इन तीन पृथक्-पृथक् स्थितियों को दर्शन का अतिरिक्त आधार लेकर समीकृत करने का ही दुष्परिणाम है। विषयिगत रस-स्वरूप की मीमांसा में डॉ० नगेन्द्र ने कवि-व्यक्तित्व का आन्तरिक विश्लेषण कर उसके मूलभूत अस्तित्व को महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया है, परिणामतः इसी अध्याय में 'साधारणीकरण' के प्रसंग में भी वे परम्परा-भिन्न नव-चिन्तन की ओर उन्मुख हो सके हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में तथा हिन्दी में भी काव्य-वर्णित विभावानुवादि से प्रेक्षक के साधारणीकरण तथा तादात्म्य को सिद्ध करने के प्रयत्न में अनेक असंगतियाँ और भ्रान्तियाँ उद्भूत होती रहीं। अतः इनकी मान्यता में काव्य-वर्णित बहुविध आलम्बन-आश्रय और उनकी परस्पर-विरोधी भावनाओं से साधारणीकरण मानने की अपेक्षा मूलतः कवि-व्यक्तित्व और उसके द्वारा मूल प्रेषणीय संवेद्य भाव से ही प्रमाता का साधारणीकरण मानना अधिक समीचीन होगा।

चौथा अध्याय 'भाव-विवेचन' और रस-संख्या-निर्धारण से सम्बद्ध है। मराठी

के काव्यशास्त्रज्ञों ने भरत-निरूपित ८ स्थायी भावों तथा ३३ संचारीभावों की मकडूगल, थावलस, लांग-जेम्स आदि मनोविज्ञानिकों के अनुसन्धान का आश्रय लेकर 'स्थिरवृत्ति' (सैंटिमैंट), 'मूलवृत्ति' (इन्स्टिंक्ट) 'मनोभावना' (इमोशन) आदि से साम्य-वैषम्यमूलक विस्तृत अध्ययन किया है। इस अध्याय में डॉ० नगेन्द्र ने भी पाश्चात्य मनोविज्ञानिकों के नवीनतम अनुसन्धानों और विचारों का विश्लेषण करते हुए स्थायी-संचारी भावों का उनके साथ तुलनात्मक अध्ययन किया है। वस्तुतः पाश्चात्य मनोविज्ञान में ही आज तक भावनाओं के वर्गीकरण, संख्या और स्वरूप-निर्धारण में कोई शाश्वत और अन्तिम सत्य उपलब्ध नहीं किया जा सका है, फिर भरत मुनि-निरूपित स्थायी-संचारी भावों के वर्गीकरण और संख्या-निर्धारण को ही अन्तिम सीमा-रेखा माना जा सकता है ? अतः डॉ० नगेन्द्र ने अन्त में अत्यन्त उपयुक्त निष्कर्ष निकाला है कि संस्कृत के स्थायी-संचारी भावों का वर्गीकरण और संख्या-निर्धारण न तो अत्यन्त अटूट और शाश्वत सत्य है और न नितान्त अमनोवैज्ञानिक, अनर्गल या कपोल-कल्पित।

इसी प्रकार रस-संख्या के निर्धारण का प्रश्न भी इनकी मान्यता में गौण ही है। फिर भी इन्होंने हिन्दी-मराठी के काव्यशास्त्रज्ञों द्वारा नवोद्भावित प्रकृतिरस, देश-भक्तिरस, क्रान्तिरस, उद्वेगरस, उदात्तरस, प्रक्षोभरस आदि की शास्त्रीय और व्याव-हारिक दोनों ही दृष्टियों से समीक्षा की है। इनकी अपनी मान्यता में परम्परागत नौ रसों के अतिरिक्त उनमें वत्सल भाव और भक्ति को मिलाकर अधिक-से-अधिक दस-ग्यारह रसों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की जानी चाहिए, क्योंकि ये ही प्रमुख स्थायी मनोभाव हैं, जिनका मानव-जीवन के आधारभूत मनोवेगों से सम्बन्ध है।

डॉ० नगेन्द्र की यह मान्यता कि रस-संख्या का प्रश्न गौण है उपयुक्त है; परन्तु उपयुक्त नवोद्भावित सभी रसों की स्वतन्त्र सत्ता का प्रत्याख्यान उपयुक्त नहीं लगता। वस्तुतः जब रस-संख्या-निर्धारण पर विचार किया जाता है तो समीक्षक की दृष्टि अपेक्षाकृत विषयपरक बन जाती है। यदि रस का तात्पर्य एकान्ततः विषयिगत आनन्दास्वाद लिया जाय तो तत्त्वतः रस एक ही होगा। अतः रस-संख्या के निर्धारण में भावनामूलक विषयपरक दृष्टि अपनाये बिना गत्यन्तर नहीं है। मानव की मूलभूत वृत्तियों की संख्या भी १५-२० तक पहुँच चुकी है। यदि मानव की मूलभूत ८-१० वृत्तियों को ही एकांततः रस-संख्या-निर्धारक तत्त्व मान लें तो भावनामूलक काव्य-विषयपरक दृष्टि की एकांत उपेक्षा हो जाती है और वीभत्स तथा रौद्र जैसे रसों का रस-संख्या में अडिग स्थान बना रहता है, भले ही काव्य में इनका चित्रण नगण्य हो। दूसरी ओर प्रकृति का स्वतन्त्र एवं व्यापक चित्रण भी रस-संख्या में कहीं स्थान पाने का अधिकारी नहीं बनता। अतः रस-संख्या-निर्धारण में मूलभूत मनोवृत्तियों के आधार को ध्यान में रखने के साथ-साथ अन्य अमूलभूत भावनाओं की व्यापक परिपुष्टि और व्यापक चित्रण को भी दृष्टि में रखना अत्यन्त अनिवार्य है। तभी भक्तिरस, प्रकृतिरस, उदात्तरस, उद्वेगरस आदि के स्वतन्त्र अस्तित्व पर सहानुभूति से विचार हो सकेगा। वस्तुतः कोई भी भावना, चाहे वह मूलभूत है, साधित अथवा नव-निर्मित है, यदि

कवि-प्रतिभा अपने विराट उपादानों से उसे रस दशा तक पहुँचाने में सक्षम है तो उस भावना को रस-रूप में स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इससे रस-सिद्धान्त की विवृति होगी और कवि-प्रतिभा को नवीन रस-सृष्टि की प्रेरणा मिलेगी।

पाँचवाँ अध्याय 'रसों का परस्पर सम्बन्ध', अंगी-रस, 'रस-भंग' और 'रसाभास' के विवेचन से सम्बद्ध है। वस्तुत: एक रस से दूसरे रस के विरोध या अविरोध की कल्पना भरतयुग में नहीं थी, क्योंकि भरत की दृष्टि विषयगत या वस्तुनिष्ठ रस पर केन्द्रित थी। रस-विरोध की कल्पना रस के विषयिगत बनते ही 'ध्वनियुग' से आरंभ हुई है। इस युग में रस की काव्यगत और सहृदयगत स्थिति का सुन्दर मूल्यांकन किया गया है, परिणामत: काव्य-वर्णित रसों में मित्र-अमित्र रसों की कल्पना एकदम अग्राह्य प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इससे काव्य-निर्मिति-प्रक्रिया और काव्यास्वाद-प्रक्रिया का संश्लिष्ट विवेचन हो सका है। इसकी सहायता से एक ओर कवि को काव्य-रचना प्रक्रिया की जानकारी मिलती है तो दूसरी ओर प्रमाता का काव्यास्वाद के स्वस्थ दृष्टिकोण का स्वरूप भी समझ में आ जाता है। संस्कृत के आचार्यों ने इसी दृष्टिकोण से अंगी रस, रस-विघ्न और रसाभास का विवेचन-विश्लेषण किया है। शेक्सपियर के नाटकों में भयानक और हास्य, करुण और श्रृंगार की युगपत् विवक्षा रस में बाधक न होकर साधक क्यों हो जाती है ? इसका उत्तर डॉ० नगेन्द्र की मान्यता में संस्कृत आचार्यों द्वारा रस-परिहार के प्रसंग में विवेचित 'बाध्यत्वेन कथन' आदि तत्त्वों में मिल जाता है। रस-विघ्नों के विवेचन प्रसंग में भी कवि की दृष्टि से तथा सहृदय की दृष्टि से इनका पृथक्-पृथक् मूल्यांकन करके इन्होंने उपयुक्त निष्कर्ष निकाला है कि 'वास्तव में रसानुभूति की बाधा के दो कारण होते हैं—अभिव्यक्ति की विकलता और अनुभूति की विकलता। पहला कवि का दोष है और दूसरा सहृदय का। अत: व्यावहारिक दृष्टि से रस-विघ्नों की विषयगत और विषयिगत दोनों ही आधारों पर समीक्षा होनी चाहिए।

संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रसाभास' के विवेचन में विशेषत: 'श्रृंगार-रसाभास' के प्रसंग में 'अनौचित्य' को मूलभूत कसौटी ठहराकर प्राय: इसी के आधार पर सर्वत्र निर्णय देने का प्रयत्न किया गया है। डॉ० नगेन्द्र ने आचार्य जगन्नाथ के औचित्य के दृष्टिकोण का पुनराख्यान करते हुए इसके आधारभूत दो तत्त्वों—लोकस्वभाव और लोकव्यवहार का क्रमश: प्रकृति और नीति से सम्बन्ध दर्शाकर यह स्पष्ट किया है कि 'प्रकृति और नीति के द्वन्द्व से जीवन का विकास होता है—प्रकृति को नीति से संयम और नीति को प्रकृति से संगति प्राप्त होती है। भारतीय रस-सिद्धान्त इन दोनों के इस समन्वय को स्वीकार कर चलता है और दोनों के विरोध को काव्यास्वाद में बाधक मानता है। रसाभास-कल्पना का आधार यही है और यह कल्पना रस-सिद्धान्त को स्थायी नैतिक मूल्यों की आधारभूमि पर प्रतिष्ठित कर देती है।' किन्तु फिर भी काव्य-वर्णित प्रसंगों में अस्वाभाविकता और अनैतिकता का निर्णय देने में समीक्षकों को बड़ी सावधानी और सतर्कता से काम लेना चाहिए अन्यथा एकांत साम्प्रदायिक भावना के आश्रय से रसाभास के विषय में दिये गये निर्णय पूर्वग्रह-दूषित

होंगे। इनकी स्वतन्त्र मान्यता में रसाभास-निर्णय में कवि के मूल संवेद्य और प्रेषणीय भावों को भी ध्यान में रखना चाहिए तथा 'रसाभास' को अप्रत्यक्ष रसानुभूति मानना चाहिए न कि बाधित या दूषित रसानुभूति।

इस ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में 'रस-सिद्धान्त की शक्ति और सीमा' की अत्यन्त विशद समीक्षा की गई है। प्रस्तुत अध्ययन वस्तुतः इस सम्पूर्ण ग्रन्थ की शक्ति का और साथ ही सीमा का भी सही-सही प्रतीक बन गया है। इस अध्याय की सबसे बड़ी शक्ति इस तथ्य में निहित है कि 'रस' को चिरंतन, सार्वभौम मूल्यांकन तत्व के रूप में आरम्भ में जो उद्घोषित किया गया था उसे सप्रमाण सिद्ध कर दिखाया गया है। प्रथम अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि अन्य काव्य-सिद्धान्तों से रस-सिद्धान्त की तुलना की गई है और इनकी सापेक्षता में रस-सिद्धान्त की महत्व-प्रतिष्ठा की गई है। तदनन्तर पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रचलित सभी प्रमुख वादों—अभिजात्यवाद, स्वच्छन्दतावाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद आदि वस्तु (भावना-विचार) प्रधान तथा अभिव्यंजनावाद, प्रभाववाद, प्रतीकवाद आदि रूप प्रधानवादों—के आधार पर रस-सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए इनसे साम्य-वैषम्यमूलक गम्भीर अध्ययन किया गया हैं। इससे रसतत्व की महनीयता सप्रमाण सिद्ध हो जाती है। प्रस्तुत व्यापक अध्ययन से एक तथ्य और अधिक उभरकर हमारे सामने आ जाता है कि भारतीय काव्यशास्त्र काव्य की वस्तु (भाव-विचार) और आकार (शब्द, रूप और रचना) के तात्त्विक चिन्तन में पाश्चात्य मनीषियों के युग-युगीन चिन्तन से किसी भी दृष्टि से हीनतर नहीं है वरन् उससे गहन-गम्भीर और अधिक उदात्त ही है। वस्तुतः भारतीय काव्यशास्त्र की, विशेषतः रस-सिद्धान्त की गौरव-प्रतिष्ठा का यह चरम बिन्दु है। प्रस्तुत अध्यायगत डॉ० नगेन्द्र का अध्ययन इस चरम बिन्दु तक पहुँचने का अत्यन्त समर्थ प्रयत्न है।

इस प्रयत्न में कुछ सीमाएँ भी उभर आयी हैं। वस्तुतः काव्य हो चाहे अन्य कोई भी कला हो उसके विवेचन-विश्लेषण में हमें तीन तथ्यों की ओर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है : एक है निर्मित प्रक्रिया, दूसरी है आस्वाद प्रक्रिया और तीसरी है मूल्यांकन प्रक्रिया। रस-तत्त्व के दो हज़ार वर्षों के विकास का इतिहास यह स्पष्ट करता है कि रस का स्वरूप कभी भी एक जैसा नहीं रहा, उसका सम्बन्ध कभी तो निर्मित-प्रक्रिया से था जैसे कि भरत युग में, और कभी आस्वाद-प्रक्रिया से जैसे कि अभिनवगुप्त युग में। आज हम उसे मूल्यांकन प्रक्रिया से भी संबद्ध कर देना चाहते हैं। निर्मित, आस्वादन और मूल्यांकन में तत्त्वतः भिन्नता होती है। प्रथम प्रक्रिया का प्रत्यक्ष सम्बन्ध कलाकार से होता है, द्वितीय का प्रमाता से और तीसरी का समीक्षक से। निर्मित-प्रक्रिया से सम्बद्ध सभी तत्त्वों को आस्वाद से सम्पृक्त कर मूल्यांकन करना पूर्णतः संगत नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि निर्मिति-प्रक्रिया से सम्बद्ध अनेक भारतीय काव्य-सिद्धान्तों (अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि) और अनेक पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों (अभिव्यंजनावाद, प्रभाववाद, प्रतीकवाद आदि) का अवमूल्यांकन हो गया है। दूसरी ओर आस्वाद और मूल्यांकन में भी भिन्नता होती

है । रसास्वाद में एकांततः आत्मपरक दृष्टि होती है । अपनी ही अस्मिता का भोग अधिक होता है, परन्तु मूल्यांकन में वस्तुपरक दृष्टि अधिक होती है । रसास्वाद में अनुकूल तत्त्वों के आस्वाद पर ही दृष्टि अधिक केन्द्रित रहती है जबकि मूल्यांकन में अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों ही तत्त्वों का ग्रहण प्रायः अपेक्षित होता है । रसास्वाद में आस्वाद्य वस्तु के विश्लेषण के लिए अवकाश ही नहीं होता जबकि मूल्यांकन में उसका विश्लेषण ही प्रमुख स्थान ग्रहण करता है । रसास्वाद में सापेक्षिक दृष्टि का अभाव होता है और मूल्यांकन में सापेक्षिक एवं तुलनात्मक दृष्टि को प्रायः प्रश्रय मिलता है । रसास्वाद में एकांततः 'आस्था' अपेक्षित होती है जबकि मूल्यांकन में 'सद्-असद् विवेक' अधिक सहायक होता है । इतनी भिन्नता होते हुए भी इन दोनों में अन्योन्याश्रयत्व है । रसास्वाद से मूल्यांकन में सहायता मिलती है और मूल्यांकन से रसास्वाद में । सैद्धान्तिक चिन्तन की दृष्टि से हमें यह स्पष्ट निर्णय देना होगा कि रस-तत्त्व का सम्बन्ध मुख्यतः किस प्रक्रिया से है ।

रसतत्त्व को काव्य की निर्मिति, आस्वादन और मूल्यांकन प्रक्रियाओं से सम्बद्ध कर देने से उसकी व्यापकता और सार्वभौमिकता तो सम्भवतः सिद्ध हो जायेगी । परन्तु रसतत्त्व की यह व्यापकता व्यापकता के लिए ही बनी रहेगी, व्यावहारिक दृष्टि से इसकी उपयोगिता कुछ सीमित ही रहेगी । उदाहरणार्थ, दार्शनिकों ने ब्रह्म की व्यापकता सप्रमाण सिद्ध कर दी है कि वह इस भौतिक जगत् के निर्माण, विकास और प्रलय सभी स्थितियों में व्याप्त है । इस भौतिक जगत् के स्वरूप को ब्रह्ममय मानना दार्शनिक दृष्टि से भले ही सत्य हो, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से एकान्त सत्य नहीं है । आख़िर इस भौतिक जगत् के निर्माण-विकास में मानव के योगदान का स्वतन्त्र मूल्य और अस्तित्व है । इसी प्रकार काव्य-सृजन और उसके मूल्यांकन में भी रस की व्याप्ति एक सीमित आशय से ही ग्रहण करनी चाहिए । क्योंकि केवल अमूर्त रागात्मिका वृत्ति ही तो काव्य नहीं है, उसमें कल्पना, विचार और शैली का योग भी प्रायः नितांत अनिवार्य है ।

इसी अध्याय में इन्होंने रस के वस्तुनिष्ठ, भावनिष्ठ और आनन्दनिष्ठ स्वरूपों का विवेचन कर अपने व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया है और इसी कारण वे रस-सिद्धान्त पर उठाये गये दर्जनों उग्र आक्षेपों का निराकरण करने में समर्थ हो सके हैं । रस-सिद्धान्तगत आक्षेपों का सयुक्तिक निरसन करने में इन्होंने शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक तथ्यों का सुदृढ़ आधार लिया है । अन्त में रस-सिद्धान्त को मानव की शाश्वत रागात्मिका वृत्ति और अधिक स्पष्ट तथा व्यापक रूप में कहें तो विशाल मानवतावाद की चिरंतन भूमि पर प्रतिष्ठित करके डॉ० नगेन्द्र ने प्रत्येक काल के सर्जनात्मक साहित्य का और उसकी प्रत्येक विधा का मूल्यांकन करने में अत्यंत समर्थ साहित्य-सिद्धान्त के रूप में इसका पुनराख्यान किया है । इसी कारण इनका यह अध्ययन आज से लगभग एक हज़ार वर्ष पूर्व हुए आचार्य अभिनवगुप्त और उनके द्वारा प्रस्तुत रस के गम्भीर पुनराख्यानात्मक अध्ययन की स्मृति दिला देता है और इन्हें भी उन्हीं की परम्परा में सुप्रतिष्ठित करने को बाध्य-सा कर देता है ।

नवल किशोर

'कलम का सिपाही'[1]

प्रेमचन्द-जैसा महनीय कथाकार हिन्दी में हुआ—यह हमारे गर्व का स्वाभाविक विषय है। अपनी शक्तिशाली कलम से वह आजीवन हर अन्याय के विरुद्ध अपने देश के अवाम के पक्ष में विद्रोह के स्वर बुलन्द करता रहा; दुनिया के महान् मानववादी लेखकों की जमात में वह प्रतिष्ठित हो चुका है और उसकी ख्याति उसकी अपनी भाषा और उसके अपने देश की सीमाओं के बाहर भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। कितने खेद की बात है कि आलोच्य कृति के पूर्व उसकी जीवनी को प्रस्तुत करने का कोई महत् प्रयास (लघु चेष्टाओं के महत्व को मैं कम नहीं कर रहा हूँ) हम नहीं कर पाए। अमृतराय ने प्रेमचन्द की जीवनी की रचना कर न केवल एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति में योग दिया है, अपितु एक ऐसी कृति भी हिन्दी के जीवनी-साहित्य को दी है, जो कुछ खामियों के बावजूद कलात्मक प्रतिमानों की दृष्टि से एक उच्च कोटि की वस्तु है। हिन्दी का जीवनी-साहित्य बहुत सम्पन्न नहीं है, 'प्रेमचन्द कलम का सिपाही' उसकी एक उल्लेखनीय उपलब्धि है और साथ ही गत कुछ वर्षों की साहित्यिक कृतियों में विशेष महत्व के ग्रन्थों में उसका नामोल्लेख किया जा सकता है।

पुत्र होने के नाते जीवनीकार को अपने पिता के निजी जीवन की जहाँ गहरी जानकारी थी, वहीं यह सम्बन्ध उसके मार्ग की सबसे बड़ी बाधा भी बन सकता था। उसने इस काम को तभी उठाया है जब उसे विश्वास हो गया कि वह 'अलग हटकर, थोड़ा निरपेक्ष होकर' इस व्यक्ति को देख सकता था। लेकिन अमृतराय ने तटस्थ रहने की चेष्टा कुछ अधिक ही की है, जिससे जीवनी अधिकांश में वस्तुपरक होकर ही रह गई है। पुत्र होने के नाते ही लेखक से यह भी अपेक्षा थी कि आत्मीय सम्बन्धों से रंजित अति मार्मिक जीवन-छवियों का समावेश जीवनी में हो, पर ऐसा कम हुआ है।

जीवनी साहित्य की कोई आसान विधा नहीं है। जीवनीकार का कार्य इतिहासकार की भाँति केवल किसी के जीवन की घटनाओं का सिलसिलेवार वर्णन-भर कर देना नहीं है, उसे घटनाओं को पुनः एक जीवित संदर्भ देकर चरित्र-नायक के विशिष्ट व्यक्तित्व को अवतरित करना होता है। अतः जीवनीकार भी एक कथाकार है, फर्क इतना ही है कि उसका चरित-नायक उसके 'दिमाग की उपज' नहीं होता, 'हाड़-मांस का एक पुतला' होता है, जो 'इस धरती पर डोल चुका है और समय की पगडंडी पर अपने निशान छोड़ गया है।' लेखक को उसे 'मारने-जिलाने' और 'मनचाहे तोड़ने-मरोड़ने' की आजादी नहीं होती और न 'घटना-प्रसंगों के आविष्कार' की कोई छूट उसे मिलती है। जीवनी और उपन्यास के बीच इस तरह एक अनुल्लंघ्य अन्तराल है, फिर भी यह जीवनी जो उपन्यास की तरह दिलचस्प बन सकी है तो उसका अतिरिक्त

---

१. कलम का सिपाही : ले० अमृतराय : प्र०, हंस प्रकाशन

श्रेय भी लेखक को मिलना चाहिए। प्रेमचन्द के जीवन को फिर से सम्मूर्त करने के प्रयत्न में लेखक को बहुत बड़ी सीमा तक सफलता मिली है।

प्रेमचन्द को डायरी या जर्नल लिखने की आदत न थी और न वे पत्रों को सँभालकर रखते थे, अतः जीवनी-लेखक उस सुविधा से वंचित रहा, जो सामान्यतः जीवनी-लेखन में मिलती है। कुछ चिट्ठियाँ भाग्यवश बच गईं (जिनमें बहुत सारी 'ज़माना' के सम्पादक मुंशी दयानारायण निगम को लिखी गई थीं) और इनका उपयोग लेखक ने बखूबी किया है। लेकिन उसे एक बहुत बड़ी सुविधा सुलभ थी—प्रेमचन्द पर लिखे गए बीसियों संस्मरणों की निधि उसके सामने थी और इस निधि के उपयोग में अमृतराय ने पूर्ण विदग्धता का परिचय दिया है। यथावसर संस्मरण-लेखकों की ज़बानी ही पूरे प्रसंगों को उभारा गया है।

लेखक के पूर्व-पुरुषों के साधारण उल्लेख से जीवनी का प्रारम्भ होता है। फिर प्रेमचन्द के बचपन की कुछ मधुर शैतानियों का वर्णन आता है, जिसके मार्मिक चित्र उनकी कहानियों में मिल जाते हैं। उनकी उस विनोदशील प्रकृति का परिचय हम निकट से पाते हैं, जिसके हँसते स्वरों की अनुगूँज बराबर उनके कथा-साहित्य में मिलती है।

यह महान् साहित्यकार कितना सीधा-सादा और बेहद प्यारा इन्सान था! चन्द्रहासन और न जाने कितने लोग उपन्यास-सम्राट के दर्शनों की लालसा से चले आ रहे हैं और उनके सामने आता है अति-सामान्य वस्त्रों में एक अति-सामान्य व्यक्ति। ऐसे में कितनी निराशा-सी होती है। पर उस व्यक्ति का मुक्त अट्टहास शीघ्र उन्हें परिचय की परिधि में घेर लेता है और उस निश्छलता की मूर्ति की मन-ही-मन अर्चना करते हुए ही वे लौट पाते हैं। यह सरलता उसके स्वभाव की तो है ही, जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण की भी है, जो हर प्रकार के आडम्बर से नफ़रत करता है।

प्रगतिशील लेखक संघ का सम्मेलन होने वाला है, प्रेमचन्दजी को सभापतित्व के लिए आमन्त्रित किया गया है। सज्जाद ज़हीर का इस प्रसंग में संस्मरण है, "सुबह का समय था। गाड़ी नौ बजे के लगभग आने को थी। हमने सोचा कि साढ़े आठ बजे घर से रवाना होंगे। हम आठ बजे के क़रीब बैठे चाय पी रहे थे कि घर में ताँगे के दाखिल होने की आवाज़ आयी और साथ ही एक नौकर ने आकर मुझे इत्तिला दी कि बाहर कोई साहब मुझे बुला रहे हैं। मैं बाहर निकला तो प्रेमचन्दजी···

और मैं दिल में सोच रहा था कि दूसरे सम्मेलनों के सभापतियों का बड़ा शानदार स्वागत किया जाता है, उन्हें प्लेटफॉर्म पर हार पहनाये जाते हैं, उनके जुलूस निकलते हैं और उनकी जय-जयकार होती है और एक हमारे सभापति मुंशी प्रेमचन्द हैं कि खुद अपनी जेब से रेल का टिकिट खरीदकर चुपके-से आ गए हैं, स्टेशन पर स्वागत करने वाला तो क्या, राह बताने वाला भी न मिला···।" प्रेमचन्द के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाले ऐसे बहुतेरे संस्मरण जीवनी-लेखक ने संकलित किए हैं और उन्हें एकसूत्रता दी है।

नयी पीढ़ी को प्रश्रय देने में प्रेमचन्द की-सी उदारता आज के जाने-माने बड़े

लेखकों में कम ही मिलती है। हिन्दी की एक पूरी पीढ़ी उनके हाथ की सँवारी हुई है। छोटे-से-छोटे लेखक से वे बराबरी की सतह पर आकर ही बात करते थे। अमृतराय ने स्वयं अपना अनुभव बताया है; जिन दिनों वे नये और अनाड़ी लेखक ही थे, उन्होंने अपनी एक कहानी मुंशीजी के पास सम्मति के लिए भेजी थी : "बाबूजी ने कहानी पढ़कर बड़े दोस्ताना अन्दाज़ में मुझे लिखा कि कहानी तो अच्छी है, बस एक बात है कि इतनी मौतें न हों तो अच्छा, क्योंकि ऐसी कहानियाँ कमज़ोर मानी जाती हैं जिनमें लेखक को करुणा पैदा करने के लिए मौत का सहारा लेना पड़ता है। वैसे मैं खुद इसी मर्ज़ का शिकार हूँ। बाक़ी सब ठीक है।...'वैसे मैं खुद इसी मर्ज का शिकार हूँ—यह एक वाक्य लिखते ही जैसे सब दूरियाँ मिट गयीं और ऐसा लगा कि वह गले में बाहें डालकर बात करने लगे।"...

व्यक्ति का जीवन उसके देश और समाज के जीवन से जुड़ा हुआ है तथा हर बड़ा लेखक अपने युग के लिए लिखता है। अमृतराय के अनुसार प्रेमचन्द के जीवन को उनके देश और समाज के जीवन से जोड़कर देखने पर इस 'अति-सामान्य जीवन को जो एक नया आशय और एक नयी अर्थवत्ता मिली है,' उसी को दिखाने का यत्न इस जीवनी में किया गया है। आर्य समाज जैसी संस्थाओं के सुधार-आन्दोलन, गोखले और तिलक के राजनीतिक रास्ते, गाँधीजी का अहिंसक सत्याग्रह और मानव-मुक्ति की विश्वव्यापी चेष्टाएँ—ये सब प्रेमचन्द को प्रभावित करती हैं और प्रेमचन्द के विचारों में निरन्तर विकास होता है। उनका साहित्य उनके देश की जनता के सुख-दुख से सम्बन्धित है और उसके कल्याण के लक्ष्य के प्रति संकल्पित है। गरीब किसानों और सतायी गई औरतों की व्यथा को लेकर वे लिखते हैं। शुरू का आदर्शवाद धीरे-धीरे खण्डित होता है और उसके खण्डहर पर उनकी यथार्थवादी कला खड़ी होती है।

अमृतराय स्वयं एक सुधी समीक्षक हैं। उनके जीवन-प्रसंगों के साथ उनके कृतित्व को जोड़कर उन्होंने कुछ निष्कर्ष भी दिए हैं, उन निष्कर्षों से चाहे हम सहमत न हों, पर ऐसे स्थल पर प्रेमचन्द के कथा-साहित्य को समझने के लिए अतिरिक्त दृष्टि प्रदान करते हैं। गोरखपुर की एक घटना है। स्वाभिमान के धनी प्रेमचन्द ने दोषी अंग्रेज अधिकारी के सम्मुख झुकना स्वीकार नहीं किया, इससे बीस बरस पहले भी हिन्दुस्तान की 'मरजाद' का सवाल आने पर चुनार के फुटवाल-मैदान में उसने गोरों की टीम पर हमला बोल दिया था। तब 'उसकी जवानी थी, अब वह अधेड़ था, लेकिन किन्हीं-किन्हीं बातों के लिए अब भी खून में गर्मी बाकी थी।' अमृतराय इस प्रसंग को 'प्रेमाश्रम' से जोड़ते हुए लिखते हैं "वही जो 'प्रेमाश्रम' के मनोहर का हाल है। बलराज जब अपनी जवानी के जोश में बहुत लड़ने-भिड़ने की बातें करता है तो मनोहर उसको झिड़कता है, लेकिन एक बार जमींदार के कारिन्दा गौसखाँ के शह देने पर फैजू मनोहर की बीवी बिलसिया पर हाथ उठा देता है और वह धक्का खाकर गिर पड़ती है तब उस किसान के लिए वह मरजाद का सवाल बन जाता है।" लेखक का निष्कर्ष यह है कि "लिखने वाले को खुद पता नहीं होता कि उसके प्रतीक में, जो वह कथा में चरित्र के रूप में दे रहा है, कैसी-कैसी अर्थ-व्यंजना छिपी रहती है।...

बिलसिया तब बिलसिया नहीं रह जाती, वह भारतमाता हो जाती है, अपमानित, भू-लुण्ठित उस अत्याचारी व्यवस्था के एक अनुचर के हाथों जो यहाँ से वहाँ तक एक है।

मनोहर और बलराज उसकी मर्यादा की रक्षा करने वाले दो पुरुष-सिंह हैं, दो पीढ़ियाँ सदियों से कुचली हुई भारतीय मानवता की, जो अब हथियारों से लैस होकर उठ रही है—अपने अपमान का बदला चुकाने को। जीवनी-लेखक का कहना है कि "यह विद्रोह की वेला है और जलियाँवाला बाग की जो आग मुन्शीजी के सीने में दबी रह गयी थी, जिसके बारे में वह अपने किसी दोस्त को भी नहीं लिख सके थे, अब इस रूप में बाहर आयी।"

इसी प्रकार वह 'रंगभूमि' के 'सूरदास' को भी एक प्रतीक मानता है : "···सूरदास इस नयी आँधी के मुकाबले में अपनी पुरानी जीवन-प्रणाली की रक्षा कर रहा है। बुराइयाँ उसमें न हों, ऐसी बात नहीं है। लेकिन उसमें प्रेम है, भाईचारा है, सरलता है, नेकी है···जो सब कुछ न रह जाएगा इस व्यवस्था में × × × लेकिन जमीन तो निकल ही जाती है। कोई बचा नहीं सकता उसको। वह पुरानी दुनिया मर रही है। इतिहास का ऐसा ही आदेश है। एक नयी दुनिया का पेशख़ीमा गड़ रहा है, पूँजीपतियों की दुनिया।···"

श्री अमृतराय के लिए सबसे अधिक श्रेय की बात यह है कि उन्होंने कभी भी अपने पिता के व्यक्तित्व या कृति के सम्बन्ध में अतिरिक्त आसक्ति प्रकट नहीं की है। लेखक ने यह तक कहने में संकोच नहीं किया है कि पुत्री को उच्च शिक्षा न दिला सकने में और मजबूरियों के साथ प्रेमचन्द के उस मन की भी मजबूरी थी जो नारी की नयी शिक्षा के प्रति किंचित् संशयशील था। प्रेमचन्द की कला की कमजोरियों को भी उसने गुणों के रूप में सिद्ध करने का प्रयास बिल्कुल नहीं किया है। लेकिन वस्तुपरक पद्धति के प्रति एकान्त आग्रह से आत्मीय सम्बन्धों से रंजित जीवन-प्रसंगों की जो कमी जीवनी में हो गयी है, उसकी ओर संकेत किया जा चुका है। यद्यपि यह सही है कि इस कृति से वैसी अपेक्षा की भी नहीं जानी चाहिए जो 'प्रेमचन्द : घर में' जैसी कृति से करनी चाहिए। लेकिन पुत्र को अपने पिता के सम्बन्ध में कुछ बहुत निजी बातें लिखने का अवसर नहीं खोजना चाहिए था। पत्र निकालने के लिए प्रेमचन्द के जनून और घाटा सहकर भी 'हंस' और 'जागरण' निकालते रहने की दीवानगी का जो चित्र जीवनी-लेखक ने दिया है वह प्रेमचन्द की अजेय आत्मा के प्रति हमें श्रद्धाभिभूत कर देता है।

एक और बात जो अखरती है। वह यह कि जीवनी-लेखक ने हिन्दी के उन साहित्यकारों से प्रेमचन्द के सम्बन्धों का अधिक जिक्र नहीं किया जो उनके समकालीन थे (और जिनमें बहुत से तो बनारस में ही रहते थे)—ये सम्बन्ध कैसे भी हो सकते थे, वे अब इतिहास की वस्तु हैं।

अमृतराय की भाषा अपने पिता की परम्परा में है—सरल, सहज, प्रवाहमयी, अतः अत्यन्त प्रभावशाली। जो भारी-भरकम शब्दों और बनावटी भाषा में अपनी बात कहने के अभ्यस्त हैं, उन्हें ऐसी भाषा भी कृत्रिम लगती है तो इसमें लेखक का

क्या दोष ! मेरे जानते यत्न-साध्य भाषा में लिखने की अपेक्षा सरल और सहज भाषा में लिखना अधिक दुष्कर होता है। कम-से-कम मेरे निकट अमृतराय की भाषा सदैव आदर की वस्तु रही है।

हिन्दी में वैविध्यपूर्ण जीवनियों का बहुत अभाव है। पश्चिम में स्तीफ़नज़्विग, रोमा रोल्याँ और ज्याँपाल सार्त्र जैसे उच्चकोटि के स्रष्टा जीवनियाँ लिखते हैं, हिन्दी में अभी इस बात की कमी है। इस दिशा में अपने महत्वपूर्ण प्रसास के लिए श्री अमृतराय हमारे साधुवाद के अधिकारी हैं।

●

सूचना

आलोचना का विशेषांक चार संख्याओं में प्रकाशित होगा। हमें अत्यन्त खेद है कि प्रथम संख्या के प्रकाशन में कुछ अपरिहार्य कारणों से देर हो गई है। काफ़ी दिनों से 'आलोचना' के सम्पादक महोदय बीमार रहे। उनकी बीमारी भी कुछ अंश तक इन परिस्थितियों में है। कुछ मैटर समय से न आने के कारण भी विलम्ब बढ़ गया। किन्तु हमारा प्रयत्न है कि भविष्य में सब अंक समय से ही प्रकाशित हों। समस्त विशेषांक इसी वर्ष प्रकाशित हो जायँगे, इस बात का हम विश्वास दिलाते हैं।

राजकमल और 'आलोचना' की स्थापना श्री ओंप्रकाश के प्रयत्नों द्वारा हुई। राजकमल का सर्वांगीण विकास उनके अध्यवसाय का ही फल है। कुछ कारणों से अब श्री ओंप्रकाश राजकमल से अलग हो गये हैं, लेकिन इससे 'आलोचना' की व्यापक नीति पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं आयेगा। अब हमारा प्रयत्न रहेगा कि 'आलोचना' पहले से अधिक सुचारु रूप से हिन्दी की सेवा में अग्रसर हो और उसे अधिकाधिक लेखकों का सक्रिय सहयोग प्राप्त हो।

—व्यवस्थापक

(कवर दो का शेष)

आलोचना के स्वामित्व तथा अन्य ब्यौरे के विषय में विज्ञप्ति

फ़ार्म ४

[नियम ८ देखिए]

१. प्रकाशन का स्थान	दिल्ली
२. प्रकाशन की अवधि	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम	श्री ओंप्रकाश
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	नवीन प्रेस, ६ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
४. प्रकाशक का नाम	श्री ओंप्रकाश
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटिड, ८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
५. संपादक का नाम	श्री शिवदानसिंह चौहान
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटिड, ८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
६. उन व्यक्तियों के नाम और पते, जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयर होल्डरों के नाम और पते, जो पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हों।	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटिड, ८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६

मैं ओंप्रकाश इसके द्वारा घोषित करता हूँ कि ऊपर जो ब्यौरे दिये गए हैं, वे मेरी अधिक-से-अधिक जानकारी में और मेरे विश्वास में सही हैं। (ह०) ओंप्रकाश
प्रकाशक

श्री ओंप्रकाश, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८ फ़ैज बाजार, दिल्ली के लिए श्री सत्यप्रकाश गुप्ता द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित ।